

DAV SHODHDHARA

Bi-annual Multi-Lingual Research Journal

of Literature, Culture and Vedic Knowledge Systems

DAV

SHODHDHARA

Volume : 3

No. : 1 & 2

January & July 2015

साहित्य, संस्कृति तथा वैदिक – ज्ञानधारा की
षण्मासिक बहुभाषीय शोधपत्रिका

डीएवी
शोधधारा

वर्ष : ३

अंक : १ व २

जनवरी व जुलाई २०१५

Chief Editor :

Dr. S. K. Arora

Editors:

Dr. I. S. Godara
Dr. Kiran Grover
Sarika Goyal



DAV COLLEGE, ABOHAR (Pb.)

Under DAV College Managing Committee, New Delhi

AFFILIATED TO PANJAB UNIVERSITY, CHANDIGARH

DAV SHODHDHARA

DAV SHODHDHARA

Bi-annual Multi-Lingual Research Journal of
Literature, Culture and Vedic Knowledge Systems

A half yearly Research Journal of the college
Scheduled to be published every year in January & July.

Volume : 3, No. :1 & 2, January & July 2015

ISSN : 2320-2726

© DAV College, Abohar, Distt. Fazilka, Punjab (India)

Chief Editor: Dr. S. K. Arora Principal, DAV College, Abohar

Editorial Board: Dr. I. S. Godara (Editor) Associate Professor (Punjabi.) DAV College, Abohar.
 Dr. Kiran Grover (Editor) Associate Professor (Hindi) DAV College, Abohar.
 Sarika Goyal (Editor) Assistant Professor (English) DAV College, Abohar.

Published By : Dr. S. K. Arora, Principal, DAV College, Abohar (Pb.)
Website: www.davcollegeabohar.com, e-mail : davabh200506@yahoo.com
Office, 01634-220355, Resi. : 01634-220641, Fax : 01634-228842

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से डीएवी बोधधारा या सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। विवाद की स्थिति में न्यायक्षेत्र अबोहर होगा।

Designed & Printed by:

Sapatrishi Publications, 24/9, Industrial Area, Phase-II,
(Near Tribune Chowk) Chandigarh, Mob.: 94638-36591

Contents

Volume 3

Issue 1 & 2

January & July 2015

S.No.		Page No.
1.	वेद व पर्यावरण	डॉ. संजीव कुमार अरोड़ा 6
2.	वैदिक वाङ्मय में समाजवाद का स्वरूप	डॉ. विजय कुमारी गुप्ता 10
3.	हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी विमर्श	डॉ. पवन कुमार शर्मा 14
4.	दलित समस्या	अमनप्रीत कौर 17
5.	दलित कहानी साहित्य में दलित स्त्रियों की स्थिति	सोनिया माला 22
6.	तुलसीदास का रामराज्य: आलोचकों का दृष्टिकोण	राजपाल 26
7.	उत्तररामचरित के परिप्रेक्ष्य में भवभूति का प्रकृति-चित्रण	डॉ. राज कुमार महाजन 30
8.	आधुनिक समाज में नारी के उभरते नए प्रतिमान	कंचन गोयल 35
9.	ब्रह्मा कुमारीज के अव्यक्त वाणी साहित्य में सत्यता की अवधारणा: आध्यात्मिक विमर्श के सन्दर्भ में	डॉ. हरदीप सिंह 38
10.	राहुल सांकृत्यायन की जीवन यात्रा: मधुर तिक्त जीवनानुभवों का पारिस्थितिक विश्वकोश	डॉ. किरण ग्रोवर 44
11.	भारतीय सदाचार के विविध आयाम	डॉ. राम प्रकाश शर्मा 50
12.	आइवर आर्मस्ट्रांग रिचर्ड्स का 'मूल्य सिद्धांत'	सुमन 54
13.	भारतीय संविधान की प्रस्तावना का दार्शनिक पक्ष-एक समीक्षात्मक अध्ययन	ममता गुप्ता 58
14.	ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਬਾਣੀ: ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਕ੍ਰਾਂਤੀ ਦਾ ਪ੍ਰਵਚਨ	ਡਾ. ਇਕਬਾਲ ਸਿੰਘ ਗੋਦਾਰਾ 63
15.	ਜਰਨੈਲ ਸਿੰਘ ਸਿੰਘ ਦੀ ਕਹਾਣੀ 'ਪਾਣੀ' ਵਿੱਚ ਪੀੜ੍ਹੀ ਪਾੜਾ	ਡਾ. ਇਕਬਾਲ ਸਿੰਘ ਸਿੱਧੂ 68
16.	ਬਾਲ-ਸਾਹਿਤਕਾਰ ਗੁਰਦਿਆਲ ਸਿੰਘ: ਅਣਜਾਣੇ ਤੱਥ	ਡਾ. ਤਰਸੇਮ ਸ਼ਰਮਾ 71
17.	ਸੁਖਵਿੰਦਰ ਅੰਮ੍ਰਿਤ ਦਾ ਕਾਵਿ ਸੰਸਾਰ	ਬਿਮਲੇਸ਼ ਕੁਮਾਰ ਗੁਪਤਾ 76

DAV SHODHDHARA

18. ਪੰਜਾਬੀ ਸਾਹਿਤ: ਔਰਤ ਦਾ ਬਿੰਬ	ਡਾ. ਸੁਖਜੀਤ ਸਿੰਘ	82
19. ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਬਾਣੀ: ਇੱਕ ਅਧਿਐਨ	ਡਾ. ਸੰਦੀਪ ਕੌਰ ਸੇਖੋਂ	86
20. ਆਜ਼ਾਦੀ ਤੋਂ ਪਹਿਲਾਂ ਪੰਜਾਬ ਵਿੱਚ ਲੋਕਧਾਰਾ ਅਤੇ ਸਭਿਆਚਾਰ ਦਾ ਅਧਿਐਨ	ਡਾ. ਮਨਜੀਤ ਕੌਰ ਗਿੱਲ	90
21. ਸਮਕਾਲੀ ਸਾਹਿਤ ਵਿਚ ਹਾਸ਼ੀਆਗਤ ਲੋਕਾਂ ਦੀ ਵੇਦਨਾ ਤੇ ਮੁਕਤੀ ਦੀ ਚੇਤਨਾ	ਕੁਲਵਿੰਦਰ ਸਿੰਘ ਸੰਧੂ	94
22. ਸਵਰਨ ਚੰਦਰ ਰਚਿਤ ਨਾਵਲ 'ਕੱਖ ਕਾਨ ਤੇ ਦਰਿਆ' ਦਾ ਬੀਮਕ ਅਧਿਐਨ	ਡਾ. ਸਤਿੰਦਰ ਕੌਰ	100
23. (dis)locating human: A Rupture in Cognition and the future of Humanities	Dr. Karan Singh	102
24. The Transgressive Rumbblings in Manju Kapur's A Married Woman	Seema Somani	110
25. Impact of Literature on Society	Anita	117
26. Maharishi Swami Dayanand Saraswati: a splendid crusader for religious and social awakening	Varinder Setia	121
27. Gendered Narratives of Chekhov and Shaw	Sarika Goyal	126
28. Decentralisation : The National Context	Dr. Vandana Munjal	131
29. Security Dilemmas and the Need to Belong: A Reading of Saadat Hasan Manto's 'Hattak' ('Insult')	Navdeep Kaur	138
30. Emerging Trends in Indian Democracy	Dr. Sharda Nain	143
31. Stress and Role of Yoga to relieve stress	Dr. Urmil Sethi	149
32. Federalism and Centre-State relation in India	Gurveer Singh	154
33. Relevance of Epistemology of Guru Nanak in the 21st Century	Dr. Gurnam Chand	161

Editorial

The Sanskrit word 'aum' is made up of three letters where 'a' means to create, 'u' means to nurture and nourish and 'm' means to destroy. The word, a symbol of cosmic energy, also epitomizes the process of creation. The Almighty is the ultimate creator, sustainer and destroyer of all cosmic beings and yet He pervades all and is omniscient, omnipotent and omnipresent.

The creative writer's mind is a workshop where various activities are carried out simultaneously. The mind records impression; words sustain those powerful emotions and expressions delimiting superfluous images, breaking or reinforcing established verbiage and dissolving the dark hidden forces that may take nightmarish forms if the expressions fail to erupt out like a natural volcanic flow.

Volcanic is not necessarily outrageous; it is spontaneous, mighty and speedy. It can be mysterious, violent gush of water experienced in Xanadu or some serene fountain or spring around Tintern Abbey. It is sooty, dismal, smoky under the heaps of blasted American twin towers; choked beneath some gunny sacks of ammunition or coarse garments of jihadis; buried and suffocated amid the chambers of holocaust; murking behind veils of the silenced and marginalized classes, castes and gender and yet vibrant with life for youthful lovers and preachers of art.

'M' perhaps helps in diffusion of the dead, apocalyptic energy into the cosmic, ever-radiant one and assists in its sublimation into something creative. It pleads for universal peace when it is followed by Shantih! Shantih! Shantih!

The next issue of Shodhdhara brings forth diverse opinions and analyzing patterns of researchers. We express our gratitude to the contributors and hope that this assortment of papers by contemporary academic researchers will provoke fresh thinking.

EDITORS

वेद व पर्यावरण

डॉ. संजीव कुमार अरोड़ा *

‘पर्यावरण’ का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है-परि अर्थात् चारों ओर से आवरण अर्थात् ढकना जो हमें चारों ओर से आवृत किया हुआ है अथवा जिसके द्वारा यह चराचर जड़-चेतन भौतिक जगत घिरा हुआ है। पृथ्वी इस पर स्थित जल, नदी, झरने सरोवर, वन पुष्प एवं फल, युक्त वृक्ष उन पर क्रीड़ा करने वाले अनेक रंगों के पक्षी पुष्प फल और औषधियों की गन्ध से युक्त वायु सबके ऊपर फैला हुआ है। तारों और नक्षत्रों से खचित आकाश, सूर्य, चन्द्रमा आदि ग्रह नक्षत्र सभी तत्व प्राणपोषक पर्यावरण के अभिन्न अंग हैं।

चराचर सभी प्राणी इस भौतिक पर्यावरण में आश्रित रहते हुए जीवन धारण करते हैं। हमारा शरीर भी इन पांच भौतिक तत्वों से बना है - जल, पृथ्वी, वायु, अग्नि, आकाश, इस लिए इन पांचों को शुद्ध रखना अत्यावश्यक है हम प्रदूषण रहित जीवन यापन कर सके परन्तु प्राणी अपने स्वार्थ के लिए जल, औषधि, वन, वृक्ष, पशु, पक्षी आदि को नष्ट कर रहा है। इससे हमारा वातावरण दूषित होता जा रहा है और यह समस्या एक विकराल रूप धारण कर चुकी है। इस तरह मनुष्य स्वयं वातावरण को दूषित कर रहा है जब हमारा वातावरण जल, वायु, आकाश, पृथ्वी, अग्नि आदि से दूषित हो रहा है इसका प्रभाव मनुष्य पर अत्यधिक पड़ रहा है जिससे उसका मन भी दूषित होता जा रहा है और वह बड़े-बड़े पाप करने में भी संकोच नहीं कर रहा इसी कारण दूषित वातावरण होने से संसार में अनेक रोग फैल रहे हैं।

वेदों में पर्यावरण की शुद्धि के लिए ‘यज्ञ’ कर्म को अधिक महत्व दिया गया ‘यज्ञ’ शब्द देवपूजा संगतिकरण और दान अर्थ वाली यज्ञ धातु से निष्पन्न हुआ है अतः देव शक्तियों को प्रसन्न करना दो तत्वों के मेल से नूतन तत्व का निर्माण करना यज्ञ की पृक्रिया निरन्तर चलती रहती है जिसके परिचालक देवता हैं। जो अग्नि रूपी सूर्य और अन्नरूप सोम हैं।

हमारे शरीर में ही यही क्रिया चलती है जठराग्नि के रूप में यहां विद्यमान वैश्वानर अग्नि भी नित्यशः अन्न (भोज्य पदार्थ) को ग्रहण करता है। जिससे शरीर में शक्ति सम्बद्धन होता है। इस प्राकृतिक नियम को देखकर ही हमारे ऋषि मुनियों ने यज्ञ करना प्रारम्भ किया जिससे हमारा वातावरण शुद्ध हो शक्ति वर्द्धक हो। यज्ञ के द्वारा प्राकृतिक प्रसन्न होती है प्राणी मात्र का मन प्रसन्न होता है और पाप कर्मों से दूर करता है व धर्म में लगाता है उसे प्राकृतिक धरोहर को बचाने के लिए वचनबद्ध करता है। वेद कहता है कि जहां युद्ध होते हैं अनेक प्राणी मारे जाते हैं तो वहां का वातावरण दूषित हो जाता है अनेक महमारियां फैल जाती हैं तो वहां के वातावरण को यज्ञ से ही शुद्ध किया जा सकता है यज्ञ के द्वारा सद्भावना का वातावरण होगा साथ ही पर्यावरण भी शुद्ध होगा। इस लिए ‘वाजसनेयी संहिता’ में “‘ अग्नेनयत सुधातुम” का उपदेश करते हुए मनुष्य को यह निर्देश दिया है कि यज्ञानुष्ठान में शुद्ध द्रव्यों को अग्नि में समर्पित करें। जिससे वातावरण पवित्र हो यज्ञ वायु को ही नहीं जल को भी शुद्ध करता है। इस प्रकार यज्ञ पर्यावरण को ही नहीं पूरे जड़-चेतन ब्रह्माण्ड को भी शुद्ध करता है व पुष्ट करता है ‘गीता’ जी में भगवान कृष्ण ने कहा है कि ब्रह्मा की प्रतिष्ठा ‘यज्ञ’ में मानी गई है। यह जो यज्ञ किए जाते हैं। प्रकृति की प्रसन्नता को लिए व ‘विराट पुरुष’ की प्रसन्नता के लिए किया जाता है जिससे यह प्रकृति पैदा हुई है जैसे यजुर्वेद में कहा है जो पुरुष सुक्त का 12वां माना है।

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्योअजायत ॥

श्रोत्राद् वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥ (1)

विराट् पुरुष के मनसे चन्द्रमा उत्पन्न हुआ, नेत्र से सूर्य उत्पन्न हुआ कान से वायु और प्राण उत्पन्न हुए तथा मुख से अग्नि उत्पन्न हुई इसलिए हमारे पर्यावरण से संबंधित स्थान अन्तरिक्ष आदि भी उस विराट् पुरुष से पैदा हुए हैं।

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौःसमवर्तत ॥

पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकां अकल्पयन ॥ (2)

ऋग्वेद 10.90.14

यजुर्वेद 31 | 13

* प्रिंसीपल, डी.ए.वी. कालेज, अबोहर

यह मन्त्र कहता है कि उस विराट् पुरुष की नाभी से अन्तरिक्ष उत्पन्न हुआ और जिससे स्वर्ग प्रकट हुआ इसी तरह से चरणों से भूमि और कानों से दिशाओं की उत्पत्ति हुई।

लोभाविष्ट मनुष्य ने आज समस्त सृष्टि का जीवन दूभर कर दिया है। पर्यावरण की समस्या आज चिन्ता का प्रमुख विषय बनी हुई है। प्रकृति का अखण्ड साम्राज्य दूषित हो गया है तो ऐसी दशा में जीवन दूभर और असम्भव सा प्रतीत होने लगा है। पृथ्वी दूषित, जल दूषित, वायु दूषित, तेज दूषित, आकाश दूषित। सर्वत्र दूषित वातावरण है यहां तक कि मानव का मन पूर्णतः दूषित हो गया है तो फिर जीवन सम्भव कैसे होगा।

सम्पूर्ण चराचर जगत पृथ्वी, तेज, वायु और आकाश पर ही निर्भर करता है। जब ये सभी तत्त्व दूषित होंगे तो जीवन चलाने का उपाय दिखलाई नहीं देता है। संस्कृत-वाङ्मय में पर्यावरण का चिन्तन आज से हजारों वर्ष पूर्व दिखलाई देता है। वैदिक साहित्य में पर्यावरण संचेतना विश्वसाहित्य में सर्वाधिक प्राचीन है। हमारे वैदिक शान्ति पाठ में द्यौ अन्तरिक्ष, पृथ्वी, जल, औषधि वनस्पति, विश्वेदेवाः और ब्रह्मा सभी की शान्ति के लिए शान्ति पाठ किया है। जो सभी प्राकृतिक से ही सम्बन्धित है। यह मन्त्र शुक्ल यजुर्वेद के 36वें अध्याय का 17वा मन्त्र है।

ॐ द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष शान्तिः पृथ्वी शान्तिरायः शान्तिरोषधयः शान्तिः ।

वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्मा शान्तिः सर्वशान्तिः

शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥

यजुर्वेद 36 | 17

इस मन्त्र द्वारा पृथ्वी आदि भौतिक पदार्थ की शान्ति की कामना की है। वेद कहते हैं कि पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, औषधि, वायु आदि जल भी प्राणियों के जीने के लिए आवश्यक है इसलिए इन सबकी इस मन्त्र में शान्ति की कामना की है और इन्हे देवता के रूप में माना है।

यह सारी सृष्टि उसी विराट् पुरुष से पैदा हुई है उसी का सारा पर्यावरण अद्भुत है। पर्यावरण के अन्तर्गत आकाश पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र-मण्डल, वायु, अग्नि, वन, पर्वत, नदी, सागर ये सभी कुछ है। पर्यावरण की दिव्य दृष्टि ने ही आगे चलकर इन की द्वित्यरूपता को जन्म दिया जिसके फलस्वरूप हिमालय को देवता इसी तरह गङ्गानदी को मोक्षदायिनी, तुलसी को विष्णु प्रिया, अश्वत्थ को भूतभावन शिव और आम्रवृक्ष को पुत्र केरूप में स्वीकार किया गया। अनेक वृक्षों तथा वनस्पतियों के साथ विभिन्न ग्रहों का अन्तः सम्बन्ध स्थापित कर देने से फलस्वरूप उन सभी के प्रति देव दृष्टि हो गई। बृहस्पति की प्रसन्नता और उनकी शान्ति के निमित्त कदली की अर्चना इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। आज भी सौभाग्यवती स्त्रियों द्वारा वटसावित्री व्रत में वटवृक्ष की पूजा करना इसके लिए लोक प्रमाण है।

ऋग्वेद में सूर्य, सोम, वात, मरुत, अग्नि, नदी, अरण्यानी तथा श्येनादि पक्षी देवता के रूप में स्तुती हेतु कहे गये हैं। सूर्य को वैदिक ऋषि स्थावरजङ्गमात्मक जगत का आत्मा स्वीकार करता है। यथा -

चित्र देवानामुदगादनीकं चक्षुमित्रस्यवरूणस्याग्नेः

आप्रा द्यावाप्रथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥

ऋग्वेद 5.1

जीवन के लिए प्रकाश जल और वायु ये तीन तत्व नितान्त आवश्यक हैं। सूर्य को आत्मा इसलिए भी कहा है, क्योंकि सूर्य के बिना जीवन संभव नहीं है। यह साक्षात् अनुभव का विषय है कि जहां सूर्य का प्रकाश नहीं पहुंचता वहां प्रायः व्याधियां उत्पन्न होती हैं। वहां रोगोत्पादक जीवाणु उत्पन्न हो जाते हैं। सूर्य की रश्मियों में प्राणधारिणी अद्भुत शक्ति विद्यमान है। सूर्य रश्मियाँ ही शरीर की गन्दगी को बाहर निकाल कर शरीर में चेतना का संचार कर देती हैं।

वैदिक ऋषि का चिन्तन इतना गहन है कि वह सर्वत्र विचरण करने वाले वायु को हृदय के लिए औषधि के रूप में देखता है। शुद्ध वायु ही दीर्घ जीवन प्रदान करने में सक्षम है। यथा -

वात आ वातु भेषजं शंभु मयो भु नो हृदे ।
प्रण आयूषि तारिषत्

ऋग्वेद 10.186.1 4

इस प्रकार के जीवन प्रदान करने वाले वायु को ऋषि अपना पिता, भ्राता, सखा स्वीकार करते हुए आयु-संवर्धन हेतु प्रार्थना करता है। उस पावन वायु के मध्य अमृत रूपी निधि विद्यमान है। इसलिए ऋषि वायु से अमृत तत्व देने के लिए प्रार्थना करता है। -

उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा ।
स नो जीवा तवे कृधि ।'' यददो वात ते गृहऽमृतस्य निधिर्हितः ।
ततो नो देहि जीवसे ।

ऋग्वेद 10.186.2.3 5

यह वायु इन्द्रादि देवताओं में जीव रूप में अवस्थित है। सम्पूर्ण भुवन अर्थात् प्राणिमात्र का पमचमहाभूतों का बीज अपनी इच्छा अनुसार विचरण करता है। जैसे ऋग्वेद में लिखा है।

आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः ।

ऋग्वेद 10.168.4 6

अग्नि के सन्दर्भ में वैदिक ऋषि का चिन्तन है कि मेघों का निर्माण और जलवृष्टि एवं जलवृष्टि से विविध औषधियों को उत्पन्न करना सभी कुछ अग्नि का धर्म है। यथा -

स्वावृदेवस्यामृतं यदी गोरतो जातासो धारयन्त उर्वी ।
विश्वे देवा अनु तत ते यजुर्गुर्दुहे यदेनी दिव्यं द्यूतं वाः ॥

ऋग्वेद 10.12.3 7

अग्नि सर्वत्र विद्यमान रहता है भूमि में औषधियों में जल में पत्थर में, पुरुषों में गायों में, अश्वों में विद्यमान है। इसलिए अग्नि को शुद्ध रखना चाहिए 'यज्ञ' करने से अग्नि शुद्ध वातावरण देता है। अग्नि यज्ञ के द्वारा प्रदीप्त होकर द्यौ लोको में जाकर सूर्य रूप में सबको आन्दित करता है और मनुष्य को शुद्ध आहार ग्रहण करना चाहिए इससे उसके अन्दर जठराग्नि शुद्ध होगी तभी मनुष्य में संचार शक्ति उत्पन्न होगी व मानव को दीर्घ जीवी बनाएगी। हमारे वेदों में भी औषधियों को भी देव रूप में माना है। हे मातृस्वरूपा औषधियों को भी देव रूप में माना है। हे मातृस्वरूपा औषधियों तुम सम्पूर्ण शक्ति से भरपूर हो स्वस्थ जीवन प्रदान करो, पुष्प फल युक्त तुम रूग्ण मानव के लिए प्रसन्न हो जाओ यथा -

शतं वो अम्ब धामानि सध्ममुत वो रूहः ।
अथा शतक्रत्वो यूयमिमं में अगदं कृत ॥
ओषधीः प्रति मोहध्वं पुष्यवतीः प्रसूवरीः ।
अशवा एव सजित्वरीर्वीरूधः पारयिष्णवः ॥

ऋग्वेद 10.97.2-3 8

हमारे देश में गंगा आदि अनेक पवित्र नदियां बहती हैं। परन्तु इनका भी मानव ने जल दूषित कर दिया जो जल पीने योग्य भी नहीं है। बनारस ;काशी में उत्तरवाहिनी गंगा का पानी पीने योग्य नहीं है। उसमें अनेक कारखानों का गंदा पानी छोड़ा गया है जिससे वहां का पानी गर्म व पूर्ण रूप से दूषित है। परन्तु हमारे वैदिक जल को नदियों की शुद्धी करने के लिए प्रार्थना करते हैं।)ऋग्वेद के दशममण्डल में सिन्धु संज्ञक सुक्त में गंगा यमुना सरस्वती, शतुद्री, परुष्णी, सप्तसिन्धु गोमती, तुष्टामा, सुसर्तू, रसा श्वेती, कुभा एंव मेहानु नामक नदियों का बहुत ही सुन्दर वर्णन मिलताहै। वैदिक)षि सिन्धु को शस्यशाली भू-भाग का उपकार करने वाला और भूमि को सिमिन्त करने वाला मानते हैं और प्रार्थना करते हैं यथा-सिन्धो यद्वाजां अभ्यद्रवस्तवम्।''

सन्दर्भ सूची:

1. ऋग्वेद 10.90.12 (यजु:31/12)
2. ऋग्वेद 10.90.14 (यजु:31/13)
3. यजु: (36/17)
4. ऋग्वेद 10.186.1
5. ऋग्वेद 10.176.2-3
6. ऋग्वेद 10.176.4
7. ऋग्वेद 10.12.3
8. ऋग्वेद 10.97.2-3
9. ऋग्वेद 10. 75. 2-3
1. दैनिक समस्याएं एवं संस्कृत साहित्य में उनका समाधान (लेखक डॉ.राजेश्वर मिश्र)
सम्पादक - मण्डल डॉ. एम.पी.थापर, डॉ. आर.डी.तिवाड़ी, डॉ. एल.पी.उपाध्याय।
2. ओउम् वैदिक सम्पदा (लेखक पं. वीरसेन वैदश्रमी)

वैदिक वाङ्मय में समाजवाद का स्वरूप

डा. विजय कुमारी गुप्ता *

वैदिक वाङ्मय विश्व के प्राचीनतम ज्ञान-विज्ञान का प्रवाहशील स्रोत है; 'समाज' शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक अज् धातु से धञ् प्रत्यय लगाकर बना है। जिस के विभिन्न अर्थ सभा, मिलन, मण्डल, गोष्ठी, समिति, परिषद् आदि किये गये हैं। 'समञ्जन्ति इति समाजः' अर्थात् जो गतिशील और कदम से कदम मिलाकर चलते हैं और जन समुदाय की सेवा करते हैं, वे ही सामाजिक व्यक्ति कहलाते हैं। परन्तु वैदिक ऋषियों का यह अन्तर्निहित निर्देश है कि समाज के सदस्य बनने से पूर्व सभी को प्रकृष्टया उदात्त व्यक्तियों के संग रह कर मनुष्य बनने का अभ्यास करना चाहिए। ऋग्वेद कि एक मन्त्र में कहा गया है कि "हे ऐश्वर्यशाली, सत्यस्वरूप भगवान्! आप हमारा पथप्रदर्शित कीजिए; स्वास्थ्य के लिए गौओं को, यातायात के लिए अश्वों को और ज्ञान के लिए हमें सद्बुद्धि प्रदान कीजिए। इसके साथ ही मनुष्य बनने के लिए श्रेष्ठजनों से सीखने का अवसर दीजिए।"¹

एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि संगठित समाज का पथ केवल कल्याण का मार्ग है। जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र नियमित रूप से ब्रह्माण्ड में संचार करते हैं। उसी प्रकार संगठित समाज विद्या दान, ऐश्वर्य दान करते हुए, परस्पर हिंसा न करते हुए और सर्वाधिक ज्ञान प्राप्त करते हुए स्वस्ति-मार्ग पर आगे बढ़ते रहें।² समाज का यह स्वरूप वैदिक वाङ्मय में सनातन काल से निरूपित है।

समाजवाद का अर्थ है- एक सभ्य मानव-समुदाय में एक-साथ रह कर, एक-दूसरे को आवश्यक रूप से परस्पर सहायता करते हुए रहना और इस पारस्परिक सम्पर्क तथा सौहार्द-स्थापन में शासन द्वारा भी सहयोग मिलना। वैदिक साहित्य में इस स्थिति की गूँज "संगच्छध्वं संवदध्वम....." 'सह नावतु सह नौ भुनक्तु.....तथा उद्धध्यध्वं समनसः.....आदि के रूप में स्पष्टतः सुनाई देती है।³ इस प्रकार समाजवाद के दो प्रमुख घटक हैं- परस्पर भाईचारा और शासन द्वारा सहयोग। और सहयोग की अपेक्षा प्रजातन्त्रीय शासन-पद्धति से ही की जा सकती है, न कि अधिनायकवाद की शासन-पद्धति से।

वैदिक साहित्य में समाजवाद और उसका स्रोत ज्ञात करने के लिए उस युग की शासन-प्रक्रिया को जानना होगा। वैदिक साहित्य में ऐसे अनेक वचन मिलते हैं जिन से ज्ञात होता है कि प्रजा और शासन में परस्पर सौहार्द-सम्बन्ध था। ऋग्वेद के दशम मण्डल का समस्त 173वां सूक्त इस मान्यता का साक्षी है। जैसे- हे राजन, तुम्हें समस्त प्रजाएं चाहें। तुम्हारा राष्ट्र तुम से कभी न छूटे।⁴ अथर्ववेद के एक मन्त्र से ज्ञात होता है कि शासक का निर्वाचन प्रजा द्वारा किया जाता था⁵ और ऐसे व्यक्ति का चुनाव किया जाता था जो शौर्य, ओज, बुद्धिमत्ता, वक्तृत्व, नैपुण्य, सौन्दर्य आदि गुणों से सम्पन्न होने के कारण लोकप्रिय होता था। राजा का चुनाव सभी प्रकार के लोगों द्वारा किया जाता था जैसे धीवर, रथकार, शिल्पी, सूत, ग्रामणी आदि।⁶ निर्वाचन के पश्चात प्रजा-जनों द्वारा प्रार्थनाएं की जाती थी कि "प्रजाओं के बीच यह राजा उसी प्रकार स्थिर बना रहे जिस प्रकार इस ब्रह्माण्ड में आकाश, पृथ्वी, पर्वत आदि स्थिर हैं।"⁷

इस प्रकार की प्रार्थनाएं ही समाज के उक्त स्वरूप के प्रचलन का प्रकारान्तर से संकेत करती हैं। राजा का निर्वाचन समिति द्वारा किए जाने के संकेत भी मिलते हैं।⁸

अथर्ववेद में समिति और सभा इन दोनों राजनैतिक संगठनों को प्रजापति अर्थात् शासक की दो पुत्रियों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ये दोनों संस्थाएं आज के प्रजातन्त्रीय प्रक्रिया के अनुरूप जनता द्वारा चुनी जाती थी। समिति की तुलना में सभा में अपेक्षाकृत अधिक अनुभवों प्रौढमति तथा वयोवृद्ध समासद् होते थे।

"न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा"। ये सभाएं तीन प्रकार की होती थी, जो सम्भवतः विद्या, धर्म और राज्य से सम्बन्धित थी। हम सभा को आधुनिक-कालीन 'राज्यसभा' और समिति को 'लोकसभा' के समकक्ष स्वीकार कर सकते हैं। सभा को 'नरिष्ठा' नाम से भी अभिहित किया गया है। सायण के अनुसार 'नरिष्ठा' का अर्थ है- "सभा के सदस्यों द्वारा स्वीकृत निर्णय जो कि अनुलंघनीय होता था।" और सदस्य भी ऐसे जो राजा की 'हां' में 'हां' न मिलाकर किसी समस्या पर मिलकर विचार करने वाले हो; 'सुवाचसः' अर्थात् 'मिलकर विचार करना' जैसे कथन समाजवादीय विचारधारा के मूल स्रोत माने जा सकते हैं।⁹

*डी.ए.वी. कॉलेज, जालन्धर शहर,

अथर्ववेद के एक मन्त्र से ज्ञात होता है कि सभा का अध्यक्ष स्वयं राजा न होकर कोई अन्य व्यक्ति होता था। उसे सम्बोधित करते हुए राजा कहता है- “हे सभा के मुख्य सभासद् अथवा सभाध्यक्ष! तू मेरी सभा का धर्मयुक्त व्यवस्थापन कर और सभा के योग्य सभासद् भी व्यवस्था का पालन करें।”¹⁰

इससे स्पष्ट होता है कि सभाध्यक्ष, सभासद् और स्वयं राजा ये तीन इकाईयां होती थी¹¹ तथा ये तीनों एक-दूसरे के प्रति उत्तरदायी बने रहते थे। जिससे कि राजा स्वेच्छाचारी और निरंकुश न बन जाए, तथा इसी स्थिति में ही उनमें परस्पर सामंजस्य स्थापित करने की अधिक सम्भावना हो सकती है। परिणामतः शासन-कार्य सुचारू रूप से चलेगा और समस्त प्रजा का हित सुरक्षित रहेगा। समाजवाद का मूलाधार भी, निस्सन्देह पारस्परिक सौहार्द और सहयोग ही है। यह तो हुई राजकीय व्यवस्था। शासन के इसे बाह्य रूप को क्षात्रशक्ति कहा गया है। किन्तु इस शक्ति के ब्रह्मशक्ति अर्थात् राज्य-संचालन का ज्ञान भी सदा अपेक्षित रहता है। यजुर्वेद के शब्दों में -

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं व सम्यञ्चौ चारतः सह।
ते लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना।।

यजुर्वेद-20/25

शासन प्रक्रिया के अतिरिक्त अन्य विविध क्षेत्रों में वैदिकयुगीन समाजवाद के दर्शन होते हैं। ऋग्वेदीय सभी देवताओं से प्रार्थनाएं की गई हैं कि वे समस्त लोकों और उनमें वास करने वाले प्राणियों की सुरक्षा करें। कृषि कार्य की चर्चा के अन्तर्गत एक व्यक्ति के स्वामित्व की अपेक्षा समस्त समाज के हित को ध्यान में रखा गया है। कृषक के श्रम का और पर्जन्य की कृपा का उपज के रूप में सुफल पूरे समाज के लिए सांझा माना गया है।¹² ऋग्वेद के प्रख्यात विवाह अथवा सूर्यासूक्त के अन्तर्गत नववधू को पूरे परिवार के सदस्यों के प्रति (न कि केवल उनके पति के प्रति) सदा समादरभाव और मेलजोल रखने का जो उपदेश दिया गया है।¹³ वह अन्ततः परिवार के साथ-साथ पूरे समाज को एकसूत्र में बांधे रखने में सहायक होता है।

वैदिक साहित्य में अनेक स्थल ऐसे हैं जिन में किसी एक विशिष्ट भूखण्ड की नहीं, अपितु समस्त विश्व की हितैषणा की चिन्तनधारा बह रही है जैसे-

“हम सब प्राणियों को मित्रता-भरे नेत्रों से निहारें।”¹⁴ हम सब प्राणियों का हृदय और मन एक-समान हो तथा द्वेष रहित हो। हम एक-दूसरे के प्रति ऐसी प्रीतिपूर्ण चाह रखें। जैसी कि एक गाय अपने वत्स के प्रति रखती है।¹⁵ वैदिक युग के ही उपनिषत्साहित्य का लक्ष्य यह है कि “मानव सत्य ज्ञान के द्वारा अपनी व्यक्तिगत आत्मा को विश्वात्मा में विलीन कर दे तथा अपनी आत्मा में विश्वात्मा को विलीन कर दे।”¹⁶

इसी प्रकार के पुरातन वचनों की आधारशिला पर ही उपर्युक्त प्राचीन समाजवाद की तथा आधुनिक समाजवाद की भित्तियां विकसित हुई हैं।

अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त में प्रार्थना की गई है कि इस पृथ्वी पर बहने वाले समुद्र और नदी-नाले, हिमाच्छादित गिरि और पर्वत, अरण्य और कानन, फलदार और फूलों से लदे हुए वृक्ष और वनस्पति, गुणकारी औषधियां, धन्य और जौ आदि अनाज, हम सब के के लिए सुखकारी हों।¹⁷

सिंह और व्याघ्र, रीछ और भेड़िये आदि अन्य हिंसक पशुओं तथा सर्प, वृश्चक आदि विषैले जीव-जन्तुओं से हम सभी सुरक्षित रहें।¹⁸ और इस भूमि पर बसे समस्त प्रजाजन एक-दूसरे के प्रति मधुर वाणी बोलें¹⁹ आदि।

हमारा यह शान्ति का अभिलाषी मन केवल अपने देश-वासियों के लिए ही नहीं, अपितु विश्वभर के मानवों और पशु-पक्षियों के लिए द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी..... आदि शान्तिकरण मन्त्र के द्वारा प्रार्थना करता है कि यह आकाश और पृथ्वी, ये जल, ये औषधियां और वनस्पति आदि हम सबके लिए शान्तिदायक हो।²⁰ वैदिक युगीन ऋषि ‘कृण्वन्तो विश्वमार्यम्’ का आह्वान करते हुए विश्व भर के मानव को हर दृष्टि से आर्य अर्थात् श्रेष्ठ एवं निष्कलंक देखने की अभिलाषी है; ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त के चारों मन्त्र समाजवाद की गुंजार से विश्व भर को निनादित कर रहे हैं। केवल अन्तिम मन्त्र दर्शनीय है- “इन सब मानवों का चिन्तन एक-समान हो, हमारे हृदय एक-समान हों, हमारी मनोभावनाएं एक-समान हों, जिससे कि हम एक-दूसरे से सदा सम्पर्क करते रहें तथा परस्पर सहयोग प्रदान करते रहें।”²¹

DAV SHODHDHARA

अतः कहा जा सकता है कि वैदिक समाजवाद का मूलमन्त्र यही था कि राष्ट्र या समाज में कोई निर्धन न हो, भूखा न रहे, अशिक्षित न हो, शोषित और शोषक न हो। वैदिक समाज में सभी को शिक्षा प्रदान की जाती थी, धनार्जन के अवसर सभी को प्राप्त थे, समान वितरण प्रणाली थी, व्यापार के प्रचुर साधन थे। सभी आत्मवादी अर्थात् स्वाभिमानी थे। सभी सौमनस्य, सौजन्य, सत्य, मधुरभाषी और सहृदय तथा संवेदनशील थे। यही वैदिक समाजवाद था। संगच्छध्वं संवदध्वम सं वो मनांसि जानताम्..... यह समरसत्ता ही वेद का समवेत गान है। आज जिस 'ग्लोबलाइजेशन' की बात कही जाती है, वह भी वैदिक काल में उच्चतम रूप में विद्यमान थी। आज अन्तर्राष्ट्रीय व राष्ट्रीय स्तर पर जिस समाजवाद की बात की जाती है, उसमें धनी वर्ग अधिक धनी व निर्धन वर्ग अधिक निर्धन होता जा रहा है। जो सम्प्रदायवाद, पूंजीवाद, आतंकवाद, जातिवाद, क्षेत्रवाद, प्रान्तवाद, पदवाद आदि से पूरी तरह ग्रस्त हो चुका है। आवश्यकता है वैदिक काल के समाजवाद के अनुकरण करने की, जिस से व्यक्ति जन्मभूमि के प्रति प्रेम, बड़ों के प्रति आदर-सम्मान व समन्वयवादिता आदि सांस्कृतिक मूल्यों को अपनाकर अपना एवं समाज का कल्याण कर सके। वेदों में कामना की गई है कि सौ हाथों से अर्जन करो तथा हजार हाथों से वितरण करो। इस से समाज में असन्तुलन कम होगा, मन को शान्ति मिलेगी, आत्मिक उन्नति होगी तथा समाज में सद्भावना एवं सौमनस्य बढ़ेगा। यही वेदों का समाजवाद है। संक्षेप में वैदिक समाजवाद का जीवन-दर्शन ही मानव मात्र के लिए आदर्श जीवन-दर्शन है।

सन्दर्भ सूची:

1. भग प्रणेत् भग सत्यराधो भगोमां धियमुदवा ददन्नः ।
भग प्रणो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तःस्याम । ऋग्वेद-7.41.3
2. ऋग्वेद- 5.51.15
3. (1) संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ ऋग्वेद-10.19.12
(2) सह नावतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषाव है । तैत्तिरीयारण्यक-9/1
(3) ऋग्वेद-10.10.1
4. विशस्त्वा सर्वां वाञ्छन्तु, मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत; ऋग्वेद- 10.173.1
5. त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वमिमाः प्रदिशः पञ्च देवी । अथर्ववेद-3/4/2
6. अथर्ववेद- 3.5.4-7
7. ध्रुवा विश्वमिदं जगद् ध्रुवी राजा विशामयम् ॥ ऋग्वेद- 10.173.4
8. सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापते दुहितरी संविदाने । अथर्ववेद-7/12/1
9. विद्य च समे नाम नरिष्ठा नाम व असि ।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सुवाचसः ॥ अथर्ववेद-7/12/2
10. सभ्य, सभा मे पाहि, ये च सभ्याः सभासद । अथर्ववेद
11. त्रीणि राजानः विदथे पुरुषिण परि विश्वानि भूषथः सर्दांसि । ऋग्वेद-3.86.6
12. ऋग्वेद-4.57.8

13. ऋग्वेद-10.85.44, 45
14. मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे । यजुर्वेद- 36/18
15. अथर्ववेद-3/30/1
16. यजुर्वेद-40/6, 7
17. अथर्ववेद-12/1/45, 41
18. अथर्ववेद-12/1/3, 8, 10, 11, 17, 27, 31-36
19. अथर्ववेद-12/1/46, 49
20. यजुर्वेद- 36.17
21. समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनः यथा वः सुसहासिति ॥ ऋग्वेद-10.191.4

हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी विमर्श

डॉ. पवन कुमार शर्मा*

आदिम या आदिवासी का अर्थ:

आदि अर्थात् पहला, आरम्भ तो आदम का आरबी अर्थ मनुष्य का आदि प्रजापति, मनु के समानांतर आदिवासी, आदिवासी याने किसी प्रदेश या राज्य के मूल निवासी।¹ प्रो. गिलानी ने आदिवासी शब्द को इस प्रकार परिभाषित किया है। “एक विशिष्ट भू प्रदेश में रहने वाला, समान बोली बोलनी वाला, अक्षरों की पहचान न होने वाला समूह, गुट आदिवासी समाज कहलाता है।”² डॉ. विवेकी राय के अनुसार “पिछड़े अंचलों, पहाड़ों वनों के निवासियों को आदिम-आदिवासी माना है।”³ इस प्रकार अप्रगत, पिछड़ा, अज्ञानी, समान बोली बोलने वाला, अंधश्रद्धा, प्रकृति की गोद में जीवनयापन करने वाला संस्कृति का रक्षक, भारत भू की संतान आदिवासी है; विशिष्ट भू प्रदेश में रहना, समूह बनाना, अपनी बोली का प्रयोग करना, मुखिया, ओझा को महत्व देना, वनों पर निर्भर रहना इनकी विशेषताएं हैं; महाराष्ट्र, आंध्रप्रदेश, केरल, उत्तराखंड, झारखंड, बिहार, नागालैंड, असम, राजस्थान, मणिपुर, त्रिपुरा, पश्चिम बंगाल, आदि राज्यों में बस्तर, अल्मोड़ा, कुल्लू, कुमाऊं, विंध्यांचल आदि अनेक अंचलों में नट, करनट गोंड, भील, ऊराव, कातकारी, कोल, वारली, संधाल, हो, वेंगा, चेंचु, बंजारा, मिझो, नागा, गुर्जर, खासी कोली, धोबी, जुआग आदि अनेक जनजातियां निवास कर रही हैं।

सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक क्रान्ति एवं आन्दोलन में चेतना अनिवार्य है। अप्रगत पिछड़े, अपेक्षित आदिवासी को अपने अस्तित्व की रक्षा, स्वत्व का भाव, अपनत्व की पहचान हो रही है। अन्याय, अत्याचार, शोषण के विद्रोह की बात चली है। इतना ही नहीं, आदिवासी समाज में ऐसे व्यक्ति सामने आ रहे हैं जो समाज प्रबोधन, समाज पुनर्निर्माण में अच्छा सहयोग दे रहे हैं। यही आदिवासी चेतना हैं।

अर्थाभाव, अज्ञान, अंधश्रद्धा, शोषण उनके चिर स्थायी है। विज्ञान तंत्र का अभाव, धर्म प्रभाव के कारण आदिवासी अप्रगत स्थिति में ही हैं। साथ ही साथ उनके नए विचारों को अपनाने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। सरकार आदिवासी विकास के लिए अनेक प्रकार के संवैधानिक आरक्षण देकर जीवन स्तर ऊंचा उठाने का प्रयास कर रही है। राजनीति में आदिवासी नेता महत्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं। ‘वनवासी विकास मण्डल’, ‘गिरिजन सेवा संघ’, ‘भारत सेवक संघ’, वनाचल परिषद जैसे अनेक संगठन आदिवासी विकास की ओर अग्रसर हैं।

आदिवासी जीवन केन्द्रित उपन्यास, साहित्य का उद्देश्य अन्य उपन्यास साहित्य की तुलना में बिल्कुल भिन्न रहता है; वह न तो घटना प्रधान उपन्यासों की तरह कुछ पात्रों के जीवन से सम्बन्ध घटनाओं और समस्याओं को लेकर वेगवती धारा की तरह नई-नई भूमियों को पार करता हुआ आगे बढ़ता है और न ही वह मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की तरह कुछ गिन-चुने पात्रों के मन का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इन दोनों अवस्थाओं में बिखराव का कोई प्रश्न ही नहीं उठता किन्तु आदिवासी जीवन से जुड़े उपन्यासों का एक उद्देश्य है स्थिर स्थान पर गतिमान समय में जीते हुए आदिवासियों के समग्र पहलुओं को उद्घाटित करना। आदिवासियों के जटिल जीवन चित्र को अंकित करने के लिए लेखक कहीं मोटी रेखाएं खींचता है, कहीं पतली, कहीं अवकाशों को भरने के लिए दो-बार बिन्दु अपनी तूलिका से जड़ देता है। अनेक पर्वों, उत्सवों, परम्पराओं, विश्वासों, कथा के अवसरों, गीतों, संघर्षों, प्रकृति के रंगों पुराने नए जीवन-मूल्यों आदि से लिपटा हुआ आदिवासियों का जीवन अभिव्यक्ति के एक नए माध्यम की अपेक्षा करता है। ऐसे आदिवासी सम्बन्धी उपन्यास लिखने वालों में प्रथम नाम जगन्नाथ चतुर्वेदी का नाम आता है। जिन्होंने वर्ष 1899 में **बसंत मालती** नामक उपन्यास लिखा जिस की कथावस्तु मुंगेर जिले के मलयपुर अंचल के मल्लाह आदिवासी जीवन पर आधारित है। वर्ष 1907 में अयोध्या सिंह उपाध्याय द्वारा रचित **अधखिला फूल** में आदिवासी जीवन के अंश मिलते हैं।

फणीशंकर रेणु द्वारा रचित **मैला आंचल** वर्ष 1954 में प्रकाशित हुआ। यह आंचलिक उपन्यास है लेकिन इसमें आदिवासी जीवन का वर्णन भी है। आदिवासी जीवन की संवेदनाओं को उभारते हुए दृष्टिगत होते हैं। जैसे मेरीगंज की केन्द्रीय कथा में संताल टोली की कथा को पर्याप्त विस्तार नहीं मिला, तब भी जंगल, जमीन और जनी की उनकी अस्मिता मैदानी समाज के कूटनीतिक दांव-पेच के

सामने कैसे लाचार हो जाती है, यह चटख रंगों में तलखी के साथ उभर कर सामने आता है। वर्ष 1956 में योगेन्द्रनाथ सिन्हा कृत **वन लक्ष्मी** आदिवासी समाज में धर्मान्तरण की प्रवृत्ति को केन्द्र में रखकर लिखा गया उपन्यास है। प्रस्तुत उपन्यास में आदिवासी कन्या बुदनी जेफरन के प्यार में फंस जाती है तो इस से उसके माता-पिता तथा बुदनी का ही आदिवासी जाति से निष्कासन हो जाता है। परन्तु बुदनी का जेफरन से विवाह होने एवं उसके माता-पिता को और उनकी आदिवासी जाति को पर्याप्त हर्जाना देने पर मामला दब जाता है।

‘**कब तक पुकारू**’ रांगेय राघव का नट लोक जीवन पर आधारित उपन्यास है। इस उपन्यास की लोकप्रियता के सम्बन्ध में श्रीमती सुलोचना राघव का कथन- “वह उपन्यास (कब तक पुकारू) पूरे गांव (वैट) में इतना अधिक प्रचलित हुआ कि घर-घर में पढ़ा जाने लगा। ‘कब तक पुकारू’ उपन्यास वहां (वैर) रामायण की भांति घर-घर में पढ़ा जाता है।”⁴ **कब तक पुकारू** उपन्यास की कथा का प्रेरणा स्रोत करनट सुखराम है। बीमार अवस्था में लेखक का वैद्य करनट सुखराम से आत्मीय सम्बन्ध बन जाते हैं।

आदिवासी समाज व्यवस्था मातृसत्तात्मक है। वहां नारी को सम्मान दिया जाता है। आज की आदिवासी नारी संगठित होकर अपने अधिकार एवं हक के लिए विद्रोही बनी है। **कब तक पुकारू** में इज्जत लूटने के बाद बाके के खिलाफ कजरी द्वारा संघर्ष करना, प्यारी द्वारा रस्तुमखां को धमकाना, **सूरज किरण की घाव** में पति से तलाक लेने वाली बंजारी बंजो, अंग्रेजों के खिलाफ संगठन बनाने वाली, **जंगल के फूल** की महुआ ‘वन के मन में’ गौना प्रथा का विरोध करने वाली मील जिनकी जंगल के आस-पास की श्यामा, सुचित्रा, शैलूष की सावित्री द्वारा नारी संगठन बनाया, वनवासी में बिन्दू द्वारा धर्मान्तरण करके मनचाहे बड़ौज के साथ विवाह करना, **शैलूष** की श्यामा सुचित्रा का राजनीति में शामिल होना, अत्याचार के खिलाफ रूप का जिहाद बोलना, धुरफेकन से संघर्ष करके जमीन पर सावित्री द्वारा अधिकार जताना, धार की क्रान्तिकारी मैना द्वारा संथालों में विद्रोह जगाना, कोयला खदान से विस्थापितों के पुनर्वास के लिए संघर्ष करना मैना की मां द्वारा दुग्ने दाम पर केरोसीन बेचने वाले साहू की पिटाई करना, ठाकुर परमजीत सिंह को फटकारना, पंचायत का विरोध करना आदि अनेक उपन्यासों में नारी पात्रों के माध्यम से नारी अस्मिता और अस्तित्व अधिकार रक्षा हेतु विद्रोह का भाव अभिव्यक्त हुआ है।⁵

आदिवासी शोषण का मूल कारण आर्थिक अभाव है। गरीबी के कारण वह शोषण का शिकार बनता है। लेकिन आज परिस्थिति परिवर्तित हो रही है। पढ़ा-लिखा आदिवासी नगरों में जाकर नौकरी भी कर रहा है; **वनवासी का नागा** बड़ौज, बिन्दू का अध्यापक बनना, **आग पानी आकाश** में अशोक युगेश्वर का उच्च पद पर काम करना, उरावजी का ग्राम सेवक होना, **जंगल के फूल**, **शैलूष**, जंगल के आस-पास जमीन के पर अधिकार के लिए संघर्ष करना, जंगलों पर अधिकार बनाना, ठेकेदारों की मनमानी को रोकना।⁶ **धार में मैना**, पंडा, अन्य संथालों द्वारा सहकारिता के बल पर जन-खदान व्यवसाय की शुरुआत करना एक महत्वपूर्ण करना है। परन्तु अन्त में मैना की हत्या होती है। बुलडोजर चलाकर सैंकड़ों आदिवासियों को कुचल दिया जाता है। लगता है आदिवासी अपने हक के लिए लड़ रहे हैं। परन्तु पूंजीपति उसे कुचल रहे हैं। मैना चाहती है “चारों तरफभेड़िए गुरां रहे हैं वे हमें खा जाने पर आयकद है हमें धार की जरूरत है सतत सानजो ताजा होती धार।”⁷

आदिवासी समाज में शोषण के प्रति चेतना जाग्रत हो चुकी है अज्ञानी, अंधश्रद्धा, आदिवासियों का धर्म-कर्म के नाम पर शोषण हो रहा है। समय परिवर्तन हो रहा है आदिवासी संगठित होकर इसका विरोध कर रहे हैं। **कब तक पुकारू**, **शैलूष** चालीस एकड़ जमीन की प्राप्ति के लिए नट संघर्षरत हैं। पुलिस अधिकारियों की खाल उतारने वाली सावित्री है। **जाने कितनी आंखें**, **मोरजाल**, **कब तक पुकारू** में पुलिस की मनमानी, जबरदस्ती के लिए आन्दोलन चलाते हैं। जंगल के आस-पास में मृतक संस्कार में ज्यादा दक्षिण पाने वाला, अनैतिक सम्बन्ध रखने वाले ओझा को श्यामा धमकाती है शैलूष में होम यज्ञ में अधिक दक्षिणा लेने वाले पुरोहित का पर्दाफाश प्रताप सिंह करता है। जंगल के फूल, वनवासी जाने कितनी आंखों में अंग्रेजों द्वारा किए जाने वाले शोषण का विरोध है। आदिवासियों में चेतना की लहर दौड़ रही है।

आदिवासी हर हालत में अपनी संस्कृति, अपनी परम्परा, मान्यता की हिफाजत करते हैं; यह सच है प्रकृति की संतान प्रकृति के समान स्वतंत्र रहना ज्यादा स्वीकार करती है। यदि कोई उनसे उनका अधिकार छीनना चाहता तब सामूहिक एकता संगठन के बल पर वह विरोध करके अस्तित्व की रक्षा करते हैं। अंग्रेजों से लोहा लेने वाले पहले क्रान्तिकारी आदिवासी हैं।

हिन्दी साहित्य के उपन्यासकारों ने अपनी रचनाओं में आदिवासी समाज के यथार्थ को चित्रित किया है। वर्तमान में आदिवासी, एवं आदिवासी समाज चेतन हो चुका है। इस चेतनता के क्रम में हिन्दी साहित्यकारों ने भी अपना विशेष योगदान दिया है।

DAV SHODHDHARA

सन्दर्भ सूची:

1. नालन्दा विशाल शब्द सागर – पृ. 125-126
2. भारतीय आदिवासी समाज- श्री ए. वाम कोडेकर-1987
3. आलोचना-अप्रैल-जून 1984 पृ. 49
4. हिन्दी में आदिवासी जीवन केन्द्रित उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन – प्रो. वी.के. कसलवान पृ. 91
5. हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी चेतना- डॉ. भरत सगरे पृ. 57
6. हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी चेतना- डॉ. भरत सगरे पृ. 58
7. धार-संजीव पृ. 165
8. हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी चेतना- डॉ. भरत सगरे पृ. 59

दलित समस्या

अमनप्रीत कौर*

अपने आस-पास के विभिन्न समुदायों के समूह को हम समाज कहते हैं। प्रत्येक समाज विभिन्न वर्गों एवं वर्णों में बंटा होता है। इनमें से एक वर्ग को 'दलित वर्ग' नाम से विभूषित किया गया है। 'दलित वर्ग' की अपनी विभिन्न समस्याएं हैं। वर्तमान में दलित समस्या ही दलित विमर्श के चिंतन का विषय है। दलित समस्या क्या है? इसके क्या कारण हैं और समाधान प्रस्तुत करना ही दलित विमर्श है। दलित समस्या को ब्राह्मणवादी सिद्धांतों, रूढ़ियों के साथ जोड़कर देखा जाता है। कहीं-न-कहीं ब्राह्मणवाद का प्रभाव होने से 'दलित वर्ग' प्रभावित रहा है। भारतीय समाज में सामाजिक स्तरीकरण के रूप में किसी समय वर्ण-व्यवस्था पाई जाती थी। तत्पश्चात इसका स्थान जाति-व्यवस्था ने ले लिया। जाति व्यवस्था का उदय उत्तरवैदिक काल में हुआ। जाति व्यवस्था हिन्दू सामाजिक संरचना का एक प्रमुख आधार रही है, जिसने हिन्दुओं के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक जीवन को अनेक रूपों से प्रभावित किया है। वर्ण-व्यवस्था का चौथा वर्ण शूद्र, इस व्यवस्था के कारण अतिरिक्त प्रभावित रहे हैं। इस काल में शूद्रों के साथ छूआछूत के भेदभाव के कारण ही उन्हें अछूत, अस्पृश्य एवं अन्तयज कहा गया।

“भारत में आर्य लोग ईसा से करीब 2500 वर्ष पूर्व आए और यहां के मूल निवासियों पर विजय प्राप्त की तथा उन्हें दास कहा।”¹

दास बनाए गए अनार्यों के साथ दुर्व्यवहार किया गया। उनसे घृणास्पद कार्य करवाए गए। अनार्यों के पेशे घृणित समझे जाने लगे, अनार्यों को उच्च समझे जाने वाले पेशे अपनाने की आज्ञा नहीं थी। अनार्यों से बने शूद्र वर्ण का एक हिस्सा बहिष्कृत था। ये वे लोग थे जिनसे चमड़ा उतारना, मैला उठाना सुअर पालना आदि कार्य करवाए गए।

शूद्र, अस्पृश्य, अन्तयज, बहिष्कृत ही अछूत हैं। इस प्रकार आर्य-अनार्य संघर्ष में अनार्यों की जो शाखा थी उसे ही अछूत करार दिया गया।

“समाज में कुछ व्यवसायों अथवा कार्यों को पवित्र समझा जाता रहा है तथा कुछ को अपवित्र। शरीर से निकले हुए पदार्थ अपवित्र माने गए हैं, चाहे वे मनुष्य या पशु-पक्षी में से किसी के भी शरीर से क्यों न निकले हों। इसलिए इन पदार्थों से संबंधित पेशों में लगे हुए जातीय समूह अपवित्र समझे गए, उन्हें अस्पृश्य माना गया।”²

अछूत कैसे बने इसके लिए दो धारणाएं प्रचलित हैं। पहली धारणा के अनुसार आर्यों में तीन वर्ण ही थे। दास बनाए गए अनार्य ही शूद्र कहे गए। दूसरी धारणा के अनुसार वर्णों का रूप जातियों ने ले लिया। किसी भी जाति के लिए बनाए गए नियमों का उल्लंघन करने वालों को जाति से बहिष्कृत किया जाने लगा। यही बहिष्कृत लोगों का समुदाय ही भारत की अछूत जातियों के रूप में अस्तित्व में आया।

“डॉ. बाबा साहब अम्बेदकर अपनी पुस्तक 'अछूत कौन और कैसे में लिखते हैं- ' भारत के इतिहास में एक ऐसा समय आया कि जब अन्य दलों के विमुक्त हुए (Broker Men) लोग एक स्थान पर स्थिर रूप से बंधे हुए लोगों के पास आए, जिससे विमुक्त हुए पराजित व्यक्तियों को ग्रामों की सीमा पर रहने की आज्ञा मिल गई। ग्राम के अंत में रहते लोग अन्तयज कहलाए थे।”³

जाति व्यवस्था में भेदभाव, ऊंच नीच और स्पृश्यास्पृश्य की भावना निहित है। यह उच्चता और निम्नता उसके सामाजिक और धार्मिक विशेषाधिकारों से निर्धारित होती है। ब्राह्मण जाति को यह विशेषाधिकार अधिक प्राप्त थे। शूद्र जाति समाज की सर्वाधिक निम्न जाति थी जो सेवाकार्य करके अपना जीवनयापन करती थी। इसमें भी दो वर्ग थे- एक स्पृश्य और दूसरा अस्पृश्य। बाबूराव बागूल के अनुसार, “स्पृश्य अर्थात् वह जिसे धर्म के अवसर, साधन, सहूलियतें, विशेषाधिकार दिए गए हैं। अस्पृश्य वह जिसे इन सबसे वंचित रखा गया।”⁴

कल का शूद्र, अछूत, अस्पृश्य बीसवीं सदी में 'दलित' और हरिजन कहा जाने लगा। महात्मा ज्योतिबा फुले तथा अछूतानंद ने अछूतों को 'दलित' कहा।

“ज्योतिबा फुले ने संभवतः सबसे पहले 'दलित' शब्द का प्रयोग किया। बाबा साहब अम्बेदकर ने भी मराठी भाषा में भाषण करते

*सह प्राध्यापक, जी.टी.बी खालसा कॉलेज फॉर वूमैन दसूहा; पंजाब

समय दो अवसरों पर इसका प्रयोग किया है। श्यौराज सिंह 'बेचैन' का मत है कि जहां तक 'दलित' शब्द का प्रयोग का सवाल है, स्वामी अछूतानंद ने 1910 में ही इस का प्रयोग कर लिया था।¹⁵

“भावात्मक उद्वेलन की अभिव्यक्ति इस प्रकार हुई कि 30 सितम्बर 1932 ई0 को छुआछूत विरोधी संघ की स्थापना की गई और बाद में जब गांधी जी ने इन लोगों को 'हरिजन' की संज्ञा दी तो उसका नाम बदलकर हरिजन सेवक संघ कर दिया गया।¹⁶ सन 1931 ई0 की जगजणना के पहले अस्पृश्य व्यक्तियों के लिए दलित शब्द का प्रयोग किया जाता था।

“इस शब्द का प्रयोग सन 1933 ई0 के दरम्यान उस समय की सरकार ने जो जातीय निर्णय लिया उसमें “डिप्रेसड क्लासेस' शब्द का प्रयोग किया है। जिसका अर्थ है 'पद दलित'।¹⁷

दलित: कोशगत अर्थ

लोकभारती प्रामाणिक हिंदी कोश, “दलित से अभिप्राय है मसला, रौंदा या कुचला हुआ, नष्ट किया हुआ। दरिद्र, पड़ित इत्यादि।¹⁸

रेस एंड रेसिज्म विश्वकोश के अनुसार, “दलित शब्द का सामान्यतः प्रयोग बीसवीं शताब्दी के शुरूआती दशकों में अछूतों के लिए किया गया। इसका आधारभूत अर्थ है ब्रोकेन (टूटा हुआ, खंडित, ग्राऊंड डाऊन परंतु ओप्रेसड (दलित) ही इसका उत्कृष्ट और वर्तमान (आधुनिक) अनुवाद है। यह स्वयं द्वारा चयनित शब्द है, जिसकी 1970 ई0 में बंबई के दलित पेंथरों के द्वारा प्रचलित किया गया। इसका प्रयोग पूर्व-अछूत के स्थान पर किया गया है।¹⁹

दलित: परिभाषाएं 1. डॉ0 प्रेमलता चुटैल के अनुसार, “पहला अर्थ संकुचित है, धार्मिक ग्रंथ सामाजिक व्यवस्था आदि के कारण जिसके अंतर्गत चतुर्थ वर्ण (शूद्र) में आने वाली जातियों को आधार बताया जाता है। जबकि दूसरे अर्थ में यह शब्द प्रयोग में आता है, जिन्हें किसी न किसी प्रकार से दबाया गया है। फिर चाहे किसी भी जाति, वर्ण या संप्रदाय हो।²⁰

2. डॉ0 भीमराव अम्बेदकर के अनुसार, “दलित शब्द में शोषित, पीड़ित और आर्थिक दृष्टि से दुर्बल सभी वर्गों का समावेश हो जाता है।²¹

3. दलित पेंथरों के घोषणापत्र के अनुसार, “दलित का अर्थ है, अनुसूचित जाति, बौद्ध, कामगार, भूमिहीन मजदूर, गरीब किसान, खानाबदोश जातियां, आदिवासी और नारी समाज।²²

4. अर्जुन डांगले के अनुसार, “दलित शब्द का अर्थ साहित्य के संदर्भ में नए अर्थ देता है। दलित यानी शोषित, पीड़ित, समाज, धर्म व अन्य कारणों से जिसका आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक शोषण किया जाता है।²³

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक शोषण का शिकार हर वह व्यक्ति दलित है चाहे वह स्वर्ण हो जा अवर्ण। समाज में शोषित, तिरस्कृत, दमित, पीड़ित व्यक्ति ही दलित है जो समाज में किसी प्रकार के शोषण का भी शिकार हो। शोषण की शिकार स्त्री जाति भी दलित है।

दलित समस्या

मानव जीवन संघर्ष से भरा पड़ा है। मनुष्य को कदम-कदम पर अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए जूझना पड़ता है। इसी तरह दलित जीवन की भी विभिन्न समस्याएं हैं जिनके साथ संघर्ष करते हुए दलित अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए जूझ रहे हैं। दलितों की आर्थिक, सामाजिक, पारिवारिक, धार्मिक समस्याएं हैं। ये सभी समस्याएं परस्पर एक-दूसरे से जुड़ी हुई होती हैं। एक समस्या का उत्स या मूल किसी दूसरी समस्या से होता है। दलित वर्ग की यह समस्याएं एक-दूसरे में गुंथी हुई हैं। दलित समस्या मानव के अपमान और उसके अस्तित्व के नकार की समस्या है।

दलित समस्या जितनी नई है, उतनी ही पुरानी भी है। इसके मूल में वर्ण-व्यवस्था है जिसके कारण दलितों को उनके अधिकारों से वंचित रखा गया। वर्ण-व्यवस्था की देन जाति-व्यवस्था के कारण जातियां-उपजातियां बनी, नीची जातियों के लोगों के साथ बुरा व्यवहार किया जाता रहा है। इस व्यवस्था के कारण लोगों ने जातिगत पेशों को पीढ़ी दर पीढ़ी उसी तरह अपनाया। जिसके कारण नीची जाति के लोगों की आर्थिक स्थिति खराब ही बनी रही। दलितों की समस्या आधुनिक संदर्भ में चाहे बदली हो पर उसके पीछे जो कारणरूप में वर्ण-व्यवस्था रही है, उसकी वजह से दलित सदैव शोषण का शिकार हुए हैं।

“बाबा साहेब अम्बेदकर का विचार था कि भारत में सारी सामाजिक गड़बड़ी की जड़ वर्ण-व्यवस्था है। उसे समाप्त किए बिना न तो जातिवाद समाप्त किया जा सकता है और न छुआछूत।²⁴

दलितों के लिए वर्ण-व्यवस्था एक अभिशाप है। जो उनके साथ जुड़ी रही है। वर्ण-व्यवस्था ने कभी समाज को अच्छी व्यवस्था दी

थी, परन्तु कालान्तर में यह जन्मगत और जातिगत रूप से रूढ़ हुई, समाज में पाखंडों और कुरीतियों को जन्म दिया। इस व्यवस्था ने समय-समय पर बड़े व्यापक पैमाने में समाज में घुसपैठ बढ़ाकर तमाम नई-नई विकृतियों और समस्याओं को जन्म दिया है। वर्ण-व्यवस्था के कारण शोषण की मनोवृत्ति को फलने-फुलने और पल्लवित होने का सीधा-सपाट मार्ग मिलता चला गया।

“दलितों के लिए वर्ण संघर्ष दीर्घजीवी है और कठोर घेरेबंदी में है। वर्ण से वर्ग तक की उसकी यात्रा के बीच हत्या, आत्महत्या, बलात्कार, सामूहिक नरसंहार और साम्प्रदायिक दंगे की पिशाच लीलाएं घटित होती हैं।”¹⁵

आज के परिप्रेक्ष्य में दलित समस्या को अलग ढंग से देखा जा रहा है। दलित समस्या में सदियों से साथ चली आ रही धार्मिक संकीर्णता को अलग करके लोगों के सम्मुख दलित समस्या को पेश किया जा रहा है। जातिवाद विरोधी और प्रगतिशीलता का दावा करने वाले गैर-दलित आज भी दलित समस्या को कमोवेश पुराने परिप्रेक्ष्य में रखकर पेश कर रहे हैं।

“दलित-उत्पीड़न का कारण धार्मिक नहीं है, लेकिन वह अपने शोषण व उत्पीड़न को जायज ठहराने के लिए धर्म की सत्ता से वैधता प्राप्त करती है।”¹⁶

दलित समस्या एक सामाजिक समस्या है। दलितों को हमेशा से ही उनके अधिकारों से वंचित रखा गया है। उनकी समाज में सांस्कृतिक भागीदारी को सदैव रोकने का प्रयत्न होते रहे हैं। समाज में उन्हें बराबरी के अधिकार नहीं मिलते, समर्थ लोगों के द्वारा दलित शोषण का शिकार होते रहते हैं। दलितों की समस्या मूलतः सामाजिक है जो उनकी आर्थिक परिस्थितियों के कारण बढ़ती रही है। दलितों को सामाजिक तौर पर उनको निम्न घोषित करके उनका आर्थिक शोषण आसान हो जाता है। दलित समस्या दलितों के सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक स्तर से जुड़ी हुई है। आज दलित समस्या के निरूपण की दो अलग-अलग दृष्टियों, आधारों की रचना हो रही है। दोनों पक्ष अपना अलग-अलग राग अलाप रहे हैं। सत्ता की दौड़ में एक जाति द्वारा पुराने ढंग से दबाव डालकर दूसरी जाति पर सत्तासीन होना अथवा उससे मनमना काम लेना संभव नहीं रहा है।

“इस प्रक्रिया के दौरान जातियों के अंतर्संबंध और खास कर दलितों के साथ अन्य जातियों के समीकरण बुनियादी तौर पर बदल चुके हैं। इससे सवाल उठता है कि आज की दलित समस्या के केन्द्र में अस्पृश्यता है या कोई और मसला।”¹⁷

भारत के शासक वर्ग ने विश्व व्यापार संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक की कुख्यात तिकड़ी द्वारा निर्देशित भूमंडलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण की नीतियों को अपनाया। इन नीतियों का समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ा। समाज के कुछ सीमित वर्ग मालामाल हुए हैं, तो अधिकांश जनता पामाल हुई है। अमीर देशों के अमीर लोगों और गरीब देशों के अमीर लोगों को लाभ पहुंचाने वाली इन नीतियों ने दलितों के भविष्य पर प्रश्नचिह्न लगा दिया है। भारतीय शासन सत्ता पर पूंजीपतियों का नियंत्रण रहा है, इसलिए दलितों-पीड़ितों को विकास व उत्थान के उचित अवसर नहीं मिले। इस बदलते परिप्रेक्ष्य में दलित समस्या ने नया रूप लिया है।

“यह नहीं समझ लेना चाहिए कि पुरानी दलित समस्या अब नहीं रही या उसकी जगह बिल्कुल नई समस्या ने ले ली है। दलित समस्या जितनी नई है, उतनी ही वह पुरानी भी है। पुरानी समस्या के कुछ पहलू आज भोथरे हो गए हैं, पर कुछ दूसरे पहलू अभी भी उतने ही धारदार हैं। ज्यादा महत्वपूर्ण यह है कि इस समस्या के कई बिल्कुल नए पहलू उभर आए हैं।”¹⁸

आज हम जिसे दलित समस्या के तौर पर निरूपित करते हैं। वह कल अछूतोद्धार की समस्या थी। आज अस्पृश्यता नहीं रही पर दलित समस्या बढ़ गई है। दलितों की समस्या के दो स्रोत हैं। गैर-दलितों का दलित संबंधी चिंतन एवं दलितों का अपना चिंतन। ये दो धाराएं आज समानांतर चल रही हैं। दोनों का दलित समस्या को देखने का नजरिया अलग-अलग है। एक पक्ष जातिगत नजरिए को अभी तक बनाए हुए है तो दूसरे वर्चस्व की होड़ में दलितों को दबाए रखना चाहते हैं।

“समाज के भीतर दलितों के समावेशन और पृथकरण की प्रक्रिया आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक भेदों के रूप में व्यक्त हो रही है। हमारे समाज में दलितों की सांस्कृतिक भागीदारी पहले तो निषिद्ध थी ही, वह आज भी निषिद्ध है।”¹⁹

दलितों द्वारा संस्कृतीकरण की प्रक्रिया उनके लिए गंभीर समस्या बनती जा रही है। दलित, गैर-दलितों के आचार-व्यवहार खान-पान और पहनावे का अनुकरण करते हुए सामाजिक प्रगति करने का प्रयास कर रहे हैं। वे समाज में बराबरी की हैसियत चाहते हैं, पर जो पढ़-लिख गए दलित हैं, वह उच्च ओहदों में पहुंच कर त्रिशंकु हो गए हैं। दलितों के बीच भी मध्यवर्ग का उदय हुआ। उनका वर्ग उठ गया और वह अपने ही लोगों से छिपने लगे हैं।

भूमंडलीकरण के कारण जहां दलित विमर्श उभरा वहीं दलित समस्या बढ़ी है। दलित मुख्यतः आर्थिक शोषण का शिकार रहे हैं

जिसके कारण वह समाज में ऊंच स्तर पर नहीं पहुँच पाए। अधिकांश दलित मजदूर, किसान और छोटे-मोटे काम करते हैं। वैश्वीकरण के कारण दलितों को आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है तो दूसरी तरफ औद्योगिकीकरण ने भी बड़ी समस्या खड़ी की है।

“दलितों के लिए वैश्वीकरण, उदारीकरण व निजीकरण की नीतियों का अपनाया जाना ब्राह्मणवाद की पुनर्स्थापना जैसा कदम है। जिस तरह ब्राह्मणवादी वर्णाश्रम व्यवस्था ने दलितों को ज्ञान और संपत्ति के अधिकार से वंचित करके गुलामों का सा जीवन जीने को मजबूर किया था और दलितों के प्रति अत्याचारों और उनके शोषण को वैधता दी गई थी। उसी तरह इन नीतियों ने भी दलितों को शिक्षा रोजगार व सामाजिक सुरक्षा के अवसरों से वंचित किया है।”²⁰

उदारीकरण से उत्पन्न आर्थिक संकट और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के रूप में विकारल होते जा रहे हिन्दू फासीवाद की चुनौतियों के बीच दलितों को अपने अस्तित्व को बनाए रखना मुश्किल हो गया है। उदारीकरण के कारण दलितों की रोटी के अवसर समाप्त होते जा रहे हैं। उदारीकरण के कारण निजीकरण ने दलितों के पेट से रोटी दूर कर दी है।

“दलितों की रोटी का सवाल रोजगार के साथ जुड़ा हुआ है। एक ओर रोजगार के अवसरों का संकुचन तथा दूसरी ओर अनुपयुक्त शिक्षा दलितों की एक समस्या है।”²¹

निजीकरण की प्रक्रिया के कारण आज दलित शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार से भी जाते रहे हैं। आज के युग में जबकि ज्ञान विकास की कुंजी बन चुका है, तो दलित इसमें पिछड़ रहे हैं।

“निजी हाथों में शिक्षा इतनी महंगी हो गई है कि गरीब दलित उसे नहीं खरीद सकता। शिक्षा महंगी होने से ज्ञान पूरी तरह सम्पन्न लोगों के लिए आरक्षित हो गया है और दलितों को इससे बाहर धकेल दिया गया है।”²²

दलितों के लिए जिस आरक्षण व्यवस्था की व्यवस्था की गई है वह भी निजीकरण के कारण उन्हें अपेक्षित परिणाम नहीं दे पा रही। दलितों के लिए रोजगार के अवसर, शिक्षा, स्वास्थ्य परिवहन व बिजली जैसी मूलभूत सेवाओं को पाना की कठिन हो गया है। आधुनिकीकरण ने मानव श्रम को कम किया है और स्वचालित मशीनों के प्रयोग ने लोगों को बेरोजगार कर दिया है। दलितों में बेरोजगारी बढ़ती जा रही है। दलित समस्या मुख्य से अर्थ से जुड़ी हुई है। आर्थिक विपन्नता के कारण सदियों से दलित वर्ग शोषित रहा है। पहले धर्म की आड़ लेकर दलितों को अच्छे रोजगार के अवसरों से वंचित रखा गया और अब वैश्वीकरण, निजीकरण के कारण दलितों की मुश्किलें बढ़ती जा रही हैं।

सन्दर्भ सूची:

1. गुप्ता, मोतीलाल. भारतीय सामाजिक संस्थाएं, जयपुर: राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, 1983, पृ.-135.
2. वहीं पृ-135
3. उद्भूत बाली, एल.आर. डॉ. अम्बेदकर जीवन और मिशन, जालंधर: भीम पत्रिका पब्लिकेशन्स, 1980, पृ.-3
4. कमलेश्वर ;संपादक, सारिका, बाबूराव बागूल के लेख से, मई 1975, पृ.-81
5. सालोदिया, उमराव ;संपादक, मधुमती, शिवजी श्रीवास्तव के लेख से, अप्रैल-मई 2010, पृ.-32
6. राम, जगजीवन, भारत में जातिवाद और हरिजन समस्या, दिल्ली: राजपाल एंड सन्ज, 1996, , पृ.-40
7. रोहित, डाहयाभाई, कवि दिनकर के साहित्य में दलित पीड़ित तथा शोषित का चित्रण, रोहतक: शांति प्रकाशन, 2004, पृ.-66
8. वर्मा, रामचन्द्र;संपादक, लोकभारती प्रामाणिक हिंदी कोश, इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन,, 1996, पृ.-383
9. मूरे, हारटवैल;संपादक, रेस एंड रेसिज्म विश्वकोश. लंदन: लाइब्रेरी ऑफकैटालॉगिंग, भाग-1० पृ.-385
10. मूले, सुरेश मारुतिराव. हिंदी और मराठी दलित साहित्य एक तुलनात्मक अध्ययन दिल्ली: नवभारत प्रकाशन, 2007, पृ.-19
11. थोरात, विमल. मराठी दलित कविता और साठोत्तरी हिंदी कविता में सामाजिक और राजनीतिक चेतना, नई दिल्ली: हिंदी बुक सेंटर, 1996, पृ.-51
12. कर्दम जयप्रकाश.;संपादक, दलित साहित्य (2004) दिल्ली: निर्मल पब्लिकेशन्स, 2005,. पृ.-33

13. वाल्मीकि ओमप्रकाश. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन, 2001, पृ.-15
14. सिंह पुत्री तथा अन्य (संपा.). भारतीय दलित साहित्य: परिप्रेक्ष्य, नयी दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 2003, भूमिका
15. वहीं पृ-18
16. सुभाषचन्द्र. दलित मुक्ति आंदोलन: सीमाएं और संभावनाएं, पंचकूला: आधार प्रकाशन, 2009, पृ-12
17. दुबे, अभय कुमार. (संपा.) आधुनिकता के आइने में दलित, नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 2002, पृ-187
18. वहीं पृ-188
19. वहीं पृ-190
20. सुभाषचन्द्र. दलित मुक्ति आंदोलन: सीमाएं और संभावनाएं, पंचकूला: आधार प्रकाशन, 2009, पृ-102
21. कर्दम जयप्रकाश. इक्कीसवीं सदी में दलित आंदोलन साहित्य एवं समाज चिंतन, दिल्ली: पंकज पुस्तक मंदिर, 2007, पृ-148
22. सुभाषचन्द्र. दलित मुक्ति आंदोलन: सीमाएं और संभावनाएं, पंचकूला: आधार प्रकाशन, 2009, पृ-102

दलित कहानी साहित्य में दलित स्त्रियों की स्थिति

सोनिया माला*

भारत में सनातन काल से स्त्रियों की स्थिति, उसकी नागरिकता एक तरह से दायम दर्जे की रही है स्त्री हमेशा से ही शोषित रही है, स्त्री चाहें स्वर्ण हो या अवर्ण दोनों की स्थिति लगभग पुरुषों की समाज व्यवस्था जिसमें निर्णय लेने के सारे अधिकार पुरुषों के ही पास हैं, नारी मात्र की स्थिति कोई बेहतर नहीं है, फिर दलित स्त्री का तो कहना ही क्या ?

सीमिन द बोउवार के अनुसार—“ भारतीय दलित स्त्री मात्र स्त्री होने की त्रासदी ही नहीं सहती, बल्कि उसका दलित जाति से होने के कारण, वह लिंग-भेद और जाति भेद सहते हुए दोहरे-तिहरे आक्रमण झेलती है। एक पुरुष प्रधान समाज होने के कारण वह अपने ही समाज के पुरुषों की दृष्टि में भी दूसरे दर्जे की प्राणी मात्र है, जो उनके अनुसार कम बुद्धि है इस कारण उसे अपनों से उपेक्षा तथा प्रताड़ना मिलती है। दूसरी ओर गैर-दलित समाज उसे दो तरह से कमजोर पाता है एक तो वह स्त्री है, दूसरी वह दलित जाति से है हर वर्ग समुदाय की स्त्रियों की दशा उस वर्ग के पुरुषों की दशा के अनुसार होती है, दलित वर्ग की स्त्रियों की दशा भी दलित समुदाय के पुरुषों के अनुसार होती है”।

भारतीय समाज ब्राह्मण चिंतन परम्परा से हजारों वर्षों से जकड़ा हुआ है सन्नाह्मणवादी चिंतन परम्परा भारतीय सामंतवाद के ऊपरी ढांचे का विचारधारात्मक प्रतीक है इसके मुख्य अंग हैं-वर्ण व्यवस्था, कर्मकाण्ड और कठोर विधि विधान, जात-पात, छुआछूत, गोत्र-विचार, नाना धार्मिक-सामाजिक अनुष्ठान, अंधविश्वास, कुरीतियाँ, नारी पराधीनता संबंधी रीति-रिवाज सब इससे जुड़े हैं। इस ब्राह्मणवाद से भारतीय समाज की दलित महिलाओं का बहुत शोषण हुआ है। स्वर्ण महिला जहां पितृसत्तात्मक व्यवस्था में लिंग भेद का शिकार होती है वहीं दलित महिला लिंग भेद के अतिरिक्त आर्थिक एवं सामाजिक शोषण का भी हिस्सा बनती है दलित महिलाओं को घर से बाहर तक जातिगत उत्पीड़न का शिकार होना पड़ता है। सम्पूर्ण भारत में दलित महिलाओं के प्रति यही रुख मिलता है तभी तो आए दिन समाचार पत्रों में किसी दलित महिला को निर्वस्त्र गांव में घुमाने, बलात्कार करने या अंग भंग करने की घटनाएं छपती रहती हैं दलित महिला घर और बाहर दोनों जगह शोषण का शिकार होती है। घर में पति उसका शारीरिक, मानसिक, आर्थिक एवं भावनात्मक शोषण करता है। स्वर्ण ब्राह्मणी संस्कृति-संस्कारों से ग्रस्त दलित पुरुष भी दहेज, पुत्रमोह आदि कुरीतियों को आत्मसात किए हुए है जिस कारण दलित महिलाएं दहेज उत्पीड़न की शिकार हो रही हैं, शराबी पति द्वारा स्थिति तब उत्पन्न होती है जब घर से बाहर कार्य क्षेत्र में उसके साथ जातिगत भेदभाव, शारीरिक-मानसिक शोषण किया जाता है। आज के तकनीकी वैज्ञानिक युग में स्वर्णों की मानसिक सोच जातिगत सोच से उभर नहीं पाई है। आज वह जितना सभ्य एवं शिक्षित दिखता है, अन्दर से वह उतना ही गहरे तक जातीय संकीर्णवादी है वह सहजता से दलितों को अपने बीच पचा नहीं पाता है आज दलित महिलाएं पढ़-लिखकर सरकारी, प्राइवेट संस्थानों में कार्यरत हैं। स्कूल, कॉलेजों में बतौर शिक्षिका कार्य कर रही हैं, लेकिन स्वर्ण समाज में उनका पहुंचना नागवार गुजरता है अपने साथ उनका उठना बैठना उन्हें काटे की तरह खटकता है।

डॉ. अम्बेदकर ने भारतीय समाज में नारी को अनेक समस्याओं से ग्रस्त देखा वे महिलाओं की वेश्यावृत्ति को बहुत बुरा मानते थे। और वेश्याओं के प्रति सुधारवादी दृष्टिकोण रखते थे इन्होंने 16 जून 1936 को बम्बई में दलित वेश्याओं को कहा कि इस घृणित पेशे को त्याग कर सैंकड़ों तरीके हैं आजीविका कमाने के लिए और इससे समाज में सम्मान प्राप्त किया जा सकता है। संविधान के अनुच्छेद 14-15 में डॉ. अम्बेदकर ने स्त्री पुरुष में भेद को दूर करने के लिए संवैधानिक प्रतिबंध लगाया और एक व्यापक सामाजिक विधान की रूपरेखा तैयार की दलित स्त्री को अन्य वर्ग की स्त्रियों से ज्यादा त्रासदी झेलनी पड़ती है सभी प्रकार की। यातनाएं दलित महिलाओं को केवल जातिभेद के कारण दी जाती हैं। इन अनगिनत यातनाओं का उद्देश्य दलित समाज का पतन करना है साथ ही साथ नारी शक्ति के मनोबल को तोड़ना है। दलित स्त्री का शोषण किस प्रकार से हो रहा है इसका विवेचन हम निम्न कहानियों को आधार बनाकर प्रस्तुत

*शोधार्थी, दोराहा

करेंगे। विवेचित कहानियां जहां दलित स्त्री के शोषण की व्यथा को प्रस्तुत करेंगी वहीं उनके संघर्ष की गाथा का भी चित्रण प्रस्तुत करेंगी।

मोहनदास नैमिषराय की कहानी अपना गांव की छमिया (कबूतरी) अपने पति संपत की अनुपस्थिति में बहुत ही मजबूर, विवश और निरीह नारी है। ठाकुर का मंझला बेटा उस पर गरजा था – ‘तूने म्हारे खेत में काम करने को क्यों मना किया ?’

‘मैं फिर कहता हूँ तू म्हारे खेत पर चल वर्ना’ उसने फिर उसका हाथ पकड़ा

‘वर्ना क्या करेगा तू ?’ कबूतरी ने अपना हाथ छुड़ाते हुए कहा

‘साली, चमारी ठाकुर से जबान लड़ाती है’

अगले ही पल वे बाज की तरह झपटे थे उस पर पहले ठाकुर के मंझले ने झपटा मारा बाज पांच थे और वह अकेली पल भर में ही उसके बदन के कपड़े खींच खींचकर फाड़ दिए गांव से दूर वीरान से रास्ते में वह बहुत चीखी चिल्लाई पर उन्होंने उसे पूरी तरह वस्त्रहीन करके ही छोड़ा था। भागने का प्रयास करती तो उसे लाठी से धकेला जाता चल गांव, सारे लोग इसी हालत में देखकर तुझ पर थूकेंगे ठाकुर का मंझला किसी हिंसक जानवर की तरह गुर्गाया था कुछ देर वह यूँ ही बैठी रही, तभी चारों ओर से उसके नंगे शरीर में लाठियां गड़ाई जाने लगी तेरे पांव पढ़ती हूँ। हाथ जोड़ती हूँ मुझे मेरे कपड़े दे दें कहते हुए कबूतरी की आंखों से आंसूओं की नदी बहने लगी पर ठाकुर और उसके कारिन्दों को उस पर तरस नहीं आया और वह उसे बेइज्जत करते गए ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी जंगल की रानी में डिप्टी साहब प्राइमरी स्कूल का मुआयना करने आते हैं वे स्कूल का मुआयना तो कम स्कूल की शिक्षिका कमली के सौंदर्य का मुआयना अधिक करते हैं मुआयने के दौरान उन्होंने कमली को अपने पास ही उलझाए रखा वे कमली के आंतरिक व बाह्य सौंदर्य से मुग्ध हो गए थे उन्होंने कमली को फंसाने हेतु योजनाबद्ध जाल बुना और उसे ग्रामीण महिला प्रशिक्षण शिविर हेतु शहर बुलाया गया रात के साढ़े दस बजे कमली को बुरी तरह बांधकर मुंह में कपड़ा ठूसकर कमरे में लाया गया कमली को देखते ही डिप्टी साहब बेकाबू हो गए और भूखे तेंदुए की तरह कमली पर टूट पड़े कमली आक्रमण से बेखबर स्थिति को समझने का प्रयास कर ही रही थी कि उसकी चीख निकल गई उसने डिप्टी साहब को एक झटके से अलग कर दिया और दरवाजे की ओर भागी दरवाजा बंद हो चुका था असहाय कमली दरवाजा पीटने लगी तब तक एस.पी ने उसे दबोच लिया

कमली के भीतर जंगल जाग चुका था वह जंगली जानवरों से अपनी सुरक्षा के लिए संघर्ष कर रही थी शरीर के कपड़े चिथड़ों में बदल गए चिथड़े घावों और खरोंचों को ढकने में असफल होने लगे कमली ने विधायक जी को फर्श पर पटकनी देकर दबा लिया छाती पर चढ़कर पंजों में गर्दन दबोच ली विधायक जी की आंखें साक्षात् दुर्गा दर्शन कर रही थी एस.पी ने कमली को अलग करना चाहा पर असफल रहा आखिर उसने कमली की गर्दन पूरी ताकत से मरोड़ दी और झटके में कमली का शरीर झुल गया एस.पी. की निगाहें मृत देह को अभी तक निहार रही थी जंगल की रानी अपराजय थी।

रत्नकुमार सांभरिया की कहानी क्षितिज में रेवती के चरित्र को बड़े ही मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है जमींदार नानक सिंह रेवती पर अपनी बुरी नज़र जमाए हुए था एक दिन जब रेवती अपनी सास के साथ जमींदार के खेत पर घास छीलने गई तो जमींदार भूखे शेर की तरह रेवती पर झपट पड़ा – ‘नानक सिंह मानवीय सदाचार और दोषयता की सीमा लांघकर बेहूदगी और धृष्टता पर उतर आया उसने रेवती का हाथ पकड़ लिया वह दहल उठी रेवती चिल्लाई तो नहीं लेकिन छुड़ाने के लिए छटपटाने लगी अब नानक सिंह ने उसे अपनी बाहों के आगोष में समेट लिया इस वक्त निरीह और असहाय रेवती की दशा छिपकली के मुंह में फंसी तितली जैसी हो गई किन्तु जब रेवती ने अपनी इज्जत पर प्रहार होते देखा तो बचाव हेतु नानक सिंह की नाक पर खुरपे का वार कर दिया। उसकी नाक कट कर लटक गई घायल नानक सिंह भागा रेवती ने अपने अदम्य साहस से अपनी अस्मिता तो बचा ली पर जमींदार के आतंक से उसे गांव छोड़ना पड़ा।

प्रेम कपाड़िया की हरिजन कहानी में देवदासियों के साथ हो रहे यौन शोषण का चित्रण प्रस्तुत किया गया है। अंधेरे में कोई बोलता है पर बतिया पूछती हैं कि कौन है ?

‘मैं परबतिया !’

‘अन्दर आ जाओ.....पूरबवाला कमरा खाली है बड़े पुजारी की आज बारी है तुम्हारा प्रसाद थाली में मेंज पर रखा है’

‘परबतिया ने अंधेरे में कमरे में प्रवेश किया’

‘कमरे में धीमा प्रकाश था एक ओर आले पर दीया जल रहा था बड़ा सा कमरा था कमरे के बीच बड़ा सा कमरा था कमरे से बीच

बड़ा तख्त था उस पर सफेद बिस्तर बिछा था सिरहाने दो तकिये भी रखे थे'

भारी पेट और मोटे होंठे वाले पुजारी ने कहा - परबातिया ! तू आज सुबह ही जाना'

'अलमारी में सोम रस की शिशी हैउसे निकाल ले गिलास में डाल दे ...तब तक मैं कपड़े उतारता हूँ'

'रीत' कहानी में दलित नारी के साथ जमींदारों द्वारा किए जा रहे शोषण का पर्दाफाश किया गया है। फुलों की शादी बुलाकी के साथ होती है। फुलों की शादी की पहली रात में आधी रात को उसके बाहर के दरवाजे पर खटखटाहट होती है जैसे ही बुलाकी दरवाजा खोलता है उसे दो व्यक्ति दिखाई देते हैं। पहला पुरुष आगे बढ़कर कहता है - "जमींदार का बुलावा है, हमारे साथ चल फुलों दूसरा पुरुष उसे घसीटकर आगे ले जाने की नीयत से आगे बढ़ा फुलों को अब धीरे-धीरे सब कुछ समझ आने लगा, उसने कई बार सुना भी था गांव में जमींदार की हवेली में पहली रात को ... वह अकेली, मजबूर पूर्ण रूप से विवश, कर भी क्या सकती थी घर में कोई भी उसके पास न था शायद जान-बुझकर ऐसा किया गया हो उसे अलग रखा हो पर बुलाकीउसका घरवाला जिसके साथ उसने सात फेरे लिए थे, क्या वह भी ? इसके आगे वह कुछ भी न सोच सकी थी बाहर खड़ी हुई दो छायाएं अंदर आ गई थी, बस्ती में सभी गूंगे -बहरे बन गए थे फूलों जब जमींदार की हवेली में गई तो जमींदार ने रात भर उसे नोंचा उसके शरीर को जो भरकर मसला सुबह हुई तो उसे झूठन की तरह उठाकर बाहर फेंक दिया गया। उसके घरवाले के लिए कैसी रात थी न जाने कितनी दुल्हनों को डंसा होगा वासना के नाग ने, कितनों को निगला ? सास ससुर, जेठ-देवर सभी देखकर भी अनजान किसी ने उफ तक न की थी।

आलमशाह खान की कहानी 'एक और सीता' में सीता का पति रमिया उसे शादी की पहली रात पर ही ठाकुर की हवेली पर भेज देता है जब रमिया की मृत्यु हो जाती है तो ठाकुर सीता के पास फिर आता है और सीता कहती है- 'ठाकुर अब इस गैल न पड़ो जुग बीत गया अब देह थक गई बचवा भी बढ़ गया उसे बारहवां लगा किउसका बाप बैठे-बैठे लुढ़क गया...रांड हो गई...सुहाग लूटा ठाकुर, अब रंडापा न लूटो...उसके मरने के बाद तो उसकी रहने दो....'

'ओह यूं ठहरी, उस चमार के मरने से सुहाग छिन गया ? हम जो सामने भरे पूरे खड़े हैं सो तुम...देख री,तू जो ये सीतापन ओढ़ रही है, उसने हमें कितना जल्दी बुढ़ा दिया।''

"रुके ठाकुर उनके रहते मेरी लाज के धनी वे ही थे, अपने रहते अपनी बसत उन्होंने तुम्हें दी, उनके बीतने पर अपनी लाज की पहरू मैं हूँ, सुहाग उनका था, उन्होंने लुटवाया दुहाग मेरा है, मैं तुम्हें न दूंगी प्राण देकर और लेकर भी उसे सहेजूंगी''।

"बंद कर उधेड़ दूंगा....तेरी लाज का जहाज मैंने हजार बार लूटा है, आगे न बढ़ ठाकुर मेरे हाथ में गंडासा है ...और कोई नहीं तो लो लखन रेख मैं ही खींच देती हूँ''।

जयप्रकाश कर्दम की कहानी सांग की चम्पा भी अति साहसी नारी है वह अपने बीमार पति भुल्लन द्वारा मुखिया के खेत में पानी न लगा पाने के कारण पति को मिली प्रताड़ना के विरुद्ध योजना पूर्वक गंडासे से मुखिया का सिर धड़ से अलग कर देती है।

कुसुम वियोगी की कहानी अन्तिम बयान में नारी के अदम्य साहस की चर्चा की गई है राजेंद्र, अतरो पर बुरी नजर रखे हुए था एक दिन राजेंद्र, अतरो को अपने सिर से गठरी उतारने के लिए कहता है जैसे ही गठरी सिर से उतरती है वह अतरो को खेत में ले जा गिरता है राजेंद्र अतरो को बातों बातों में बहलाने फुसलाने लगता है कुछ समय पश्चात खेत से केवल अतरो ही वापस आती है चौथे दिन जब सूरज की किरण फुटती है तो कुएं में पड़ी लाश की खबर पूरे गांव में फैल जाती है राजेंद्र की हत्या का शक सारे गांव पर किया जाता है साथ ही पुलिस की दृष्टि अतरो पर भी पड़ती है दरोगा बयान के लिए कहता है पर गांव में एकत्रित लोग समवेत स्वर में कहते हैं दरोगा जी जो बयान लेना है, यही गांव के सामने लो सातों जमात की बेटी गांव की धी-बेटी होती है गांव में आजतक ऐसा न हुआ था, जो गांव की लड़की बयान देने थाने कचहरी जाए।

'बहन बेटी तो सबके हैं तभी अतरो दहाड़कर बोली, गांववालोंऔर सिपड़िया तू भी सुन ! बयान चाहिए, जरूर दूंगी, जरा रुक।

ज्यों ही अतरो अपने घर की ओर दौड़ी तो पुलिस भी पीछे पीछे दौड़ पड़ी कहीं तभी गांव के सरपंच ने कहा,

'दरोगा जी, पीछे मत दौड़ो'

और दरोगा वहीं टडू सरीखे ठिठककर रह गया।

जैसे ही अतरो कागज का बंडल लेकर आई, दरोगा की बांछे खिल गई अतरो जंगल सी उगी भीड़ के बीच आकर बोली -

गांव वालो , सुनो, दरोगा को बयान चाहिए तो सुनो मेरा बयान।

अतरो ने कागज के बंडल में से निकालकर राजेन्द्र का कटा हुआ पुरुषत्व लहरा दिया।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि दलित कहानियों में स्त्रियों की स्थिति ज्यादा संतोषजनक नहीं है कहीं पर उनका पूर्ण शोषण किया जा रहा है और कहीं वह अपने अधिकारों के प्रति सचेत होकर पुरुष वर्ग का बड़ी निडरता से सामना कर रही हैं कुछ कहानियां तो ऐसी हैं जिनमें वह अपनी अस्मिता की रक्षा करते हुए मृत्यु को प्राप्त हो रही हैं।

सन्दर्भ सूची:

1. डॉ. विजय कुमार संदेश और डॉ. नामदेव, दलित चेतना और स्त्री विमर्ष, क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी, नयी दिल्ली ,2009, पृ. संख्या 296
2. डॉ. हेमलता, ब्राह्मणवादी व्यवस्था और दलित महिलाएं, वही, पृ 396
3. मोहनदाराय, अपना गांव, (सं) रमणिका गुप्ता, दलित कहानी संचयन, साहित्य अकादमी, 2009, पृ. 34
4. ओमप्रकाश वाल्मीकि, घुसपैठिए, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पृ 100
5. रत्नकुमार सांभरिया, क्षितिज, सुमन लिपि, बंबई, नवम्बर 1995, पृ. 30
6. (सं)रमणिका गुप्त, दलित कहानी संचयन, साहित्य अकादमी, 2009, पृ. 88/89
7. मोहनदास नैमिशराय, आवाजें श्रीनटराजन प्रकाशन, दिल्ली, 2011, पृ.119/120
8. (सं)गिरिराजशरण, दलित जीवन की कहानियां, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1986, पृ.28/29
9. (सं)रमणिका गुप्ता, दलित कहानी संचयन, साहित्य अकादमी, 2009, पृ0 140/141

तुलसीदास का रामराज्य: आलोचकों का दृष्टिकोण

राजपाल*

हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल जिसे हिन्दी साहित्य का स्वर्णकाल माना जाता है जिसने भक्ति के साथ-साथ सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनैतिक क्षेत्रों की दिशा एवं दशा को समूल बदल डाला। इस युग में एक ऐसी साहित्यधारा प्रवाहित हुई जिसने साहित्य रूपी सागर का मन्थन कर मूल्यवान् क्रांतिकारी कवि रत्न बाहर निकाले, उन्हीं कवि रत्नों में से राम भक्तिधारा की मन्दाकिनी बहाने वाले तुलसीदास एक थे। गोस्वामी तुलसीदास न केवल हिन्दी के वरन् भारत के सर्वश्रेष्ठ कवि एवं विचारक माने जाते हैं। महाकवि अपने युग का ज्ञापक एवं निर्माता होता है। इस कथन की पुष्टि गोस्वामी जी की रचनाओं से सवा सोलह आने स्पष्ट हो जाती है। जहां संसार के अन्य कवियों ने साधु-महात्माओं के सिद्धांतों पर आसीन होकर अपनी कठोर साधना या तीक्ष्ण अनुभूति तथा घोर धार्मिक कट्टरता या साम्प्रदायिक असहिष्णुता से भरे बिखरे छंद कहे हैं और अखण्ड ज्योति की कौंध में कुछ रहस्यमय धुंधली और अस्फुट रेखाएं अंकित की हैं, अथवा लोक-मर्मज्ञ की हैसियत से सांसारिक जीवन के तप्त या शीतल एकांत चित्र खींचे हैं, जो धर्म एवं अध्यात्म से सर्वथा उदासीन दिखाई देते हैं वहीं गोस्वामी ही ऐसे कवि हैं जिन्होंने इन सभी के नानाविध भावों को एकसूत्र में गुंफित करके अपना अनुपमेय साहित्यिक उपाहार प्रदान किया है।

तुलसीदास जी जिस युग में पैदा हुए थे, उस समय परिस्थितियां संघर्ष, पाखण्ड, अनाचार, अत्याचार-जन्य विषमता से परिपूर्ण थी। राजनैतिक दृष्टि से केन्द्रीयशासन की समाप्ति के साथ ही छोटे-छोटे राजाओं, मुसलमान शासकों या कार्यकारी अधिकारियों के अत्याचार होने लगे। जनता का शोषण शासक अथवा कर्मचारी की विलासिता पूर्ति का साधन बन गया-

‘काल कराल नृपाल कृपाल न, राज समाज बड़ोई छली है।’

के अनुसार प्रजा निराश, शोषित और पीड़ित होकर अपने जीवन का आधार ढूँढ रही थी। प्रजा की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी-
 खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
 बनिक को बनज न, चाकर को चाकरी,
 जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
 कहै एक एकन सो कहां जाई का करी।

सामाजिक दृष्टि से भी भारतीय समाज विश्रुंखलित हो चुका था। वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा भंग हो रही थी। गोस्वामी जी के अनुसार-

द्विज श्रुति-वेचक भूप प्रजासन
 कोउ नहीं मान निगम अनुशासन।

इस प्रकार के अस्त-व्यस्त, निराश, भ्रम संकुल समाज को जीवन देन का और कलिकाल की करालता का शमन करने के लिए तुलसीदास ने ‘रामराज्य’ की परिकल्पना की, जो इसके विपरीत सुख, शांति, सम्पत्ति आदि को प्रदान करने वाला हो, जिसमें राजा शक्ति, नीति एवं ऐश्वर्य से सम्पन्न होना चाहिए। इसलिए तुलसी का साहित्य एक श्रेष्ठ ‘राज्य’ का स्वरूप प्रस्तुत करता है। ‘रामराज्य’ की कल्पना के बीज तुलसी से काफी पहले वैदिक साहित्य तक में उपस्थित हैं। परन्तु निःसंदेह गोस्वामी जी ने उसकी एक सुव्यवस्थित रूपरेखा प्रस्तुत की जो मानस में आकर एक महान आदर्श में परिणत हुई है। रामचन्द्र शुक्ल मानते हैं, कि गोस्वामी जी के समाज का आदर्श ‘सुराज’ अर्थात् धर्मराज ही है और यह वेद, पुराण, स्मृति सम्मत है। तुलसी ने आदर्श राज्य की परिकल्पना ‘रामराज्य’ के रूप में की है। सामान्यतः सभी आलोचकों ने इस बात पर जोर दिया है, कि तुलसी-साहित्य में ‘राम’ का चित्रण आदर्श पिता, पुत्र, भाई, पति व मित्र के साथ ही ‘राजा राम’ के रूप में कुशलतापूर्वक एवं विस्तार से किया गया है।

रामचन्द्र शुक्ल राजा के रूप में राम को और अधिक कुशलता से चित्रित करने में कवि के धर्मगाम्भीर्य और भावोत्कर्ष को कारण बताते हैं। एक प्रसंग में ‘राजा राम’ के बारे में वे लिखते हैं, “राजा का पारिवारिक और व्यावहारिक जीवन को देखने की मजाल प्रजा

*सहायक प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, डी.ए.वी कॉलेज, अबोहर।

को थी- देखने की ही नहीं उस पर टीका टिप्पणी करने की थी।'1 राजा के इस रूप को व्याख्यायित करते हुए रामचन्द्र शुक्ल ने उसे सामंती सीमा के आगे की स्थिति ठहराया है। राजा-प्रजा के सम्बन्ध पर लिखते हुए वे कहते हैं "परिवार व समाज की ऊंची-नीची श्रेणियों के बीच सम्बन्धों का उत्कर्ष दिखाई पड़ता है। राजा और प्रजा का सम्बन्ध लीजिए। अयोध्या की सारी प्रजा अपना सब काम धंधा छोड़ भरत के पीछे राम के प्रेम में उन्हीं के समान मग्न चली जा रही है।" 2 ये बात ठीक है कि यहां राम का रामत्व प्रमुख कारण है, फिर भी यह एक प्रजा लोकप्रिय राजा का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण उस सामंती शासन में कवि उपस्थित कर रहा है। राज्य के शासन का स्वरूप परम्परागत भारतीय, शास्त्र सम्मत ही है। राजा के ज्येष्ठ पुत्र का युवराज घोषित किया जाना ' भए राम सब विधि सब लायकद्ध, राज्याभिषेक की तैयारी, आदि। राजा के इस चुनाव में प्रजा की उत्साहपूर्ण सहमति का भाव भी गोस्वामी जी ने निर्दिष्ट किया है। रामविलास शर्मा इस राजा-प्रजा सम्बन्ध के उस पक्ष पर जोर डालते हैं, जहां राजा के कल्याणकारी, प्रजाहितैषी रूप को अभीष्ट एवं इसके विपरीत को हेय माना है। राजा-प्रजा सम्बन्ध पर वे लिखते हैं, "राजा और प्रजा के संघर्ष में तुलसी प्रजा के साथ हैं। रामचरितमानस में वह प्रजा को सताने वाले राजाओं के लिए कहते हैं-

'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।

ते नृप अवसि नरक अधिकारी।।'

दोहावली में वह उन राजाओं के पतन की भविष्यवाणी करते हैं, जो प्रजा को सतते हैं-

राज करत बिनु काज ही, करै कुचालि कुसाज।

तुलसी ते दसकंध ज्यों, जड़हैं सहित समाज।।

आगे रामविलास शर्मा लिखते हैं कि "तुलसी ने दुष्ट राजाओं की निंदा ही नहीं की, भारतीय जनता की आशाओं को मूर्तरूप देते हुए समता के आधार पर एक सुखी समाज की कल्पना भी की है।"3 यहां आकर तुलसी-विषयक आलोचना तुलसी के सामाजिक व राजनीतिक चिंतन की अन्तःसूत्रता को स्थापित करती है। यहां आलोचकों की एकमतीय मान्यता है कि 'रामराज्य' तुलसी के सम्पूर्ण चिंतन के केंद्र में है। जहां प्रजा हितैषी राजा का कल्याणकारी राज्य होगा। रमेशकुन्तल मेघ तुलसी के राजनीतिक चिंतन पर कहते हैं, "तुलसी में राजनैतिक विचारों की जो छायाएं मिलती हैं, उनमें पौराणिक नैतिक दृष्टि की प्रधानता, 'मर्यादा' का नैतिक प्रमाण, तथा राज्य की आध्यात्मिक निर्मित है।"4 वे आगे कहते हैं कि 'उन्होंने रामराज्य के रूप में एक सर्वोत्तम आदर्श राज्य-व्यवस्था की काफी मौलिक कल्पना की है, जो हमें प्लेटों के 'गणतंत्र' की याद दिलाती है।"5 वे तुलसी द्वारा इसे राज्य का आध्यात्मिकीकरण मानते हैं, जो कमोबेश उचित ही है, लेकिन यहां मर्यादा भाव प्रधान है जो मूलतः कल्याणकारी होगा। 'रामराज्य' को मध्यकालीन साहित्य की श्रेष्ठतम सांस्कृतिक उपलब्धि मानते हुए वे एक प्रश्न उठाते हैं कि "तुलसी ने तत्कालीन समाज पर जितना अधिक विचार किया, उतना ही कम तत्कालीन प्रशासन पर लिखा।"6 यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है, जिसकी ओर आलोचक संकेत करता है लेकिन यह स्पष्ट है कि राजा राम को राम 'राज्य' का एक कल्याणकारी शासक बनाना तुलसी का उद्देश्य है। इसी क्रम में विश्वनाथ त्रिपाठी की यह उक्ति उल्लेखनीय है कि "तुलसी के राम सूचित राम नहीं, चित्रित राम- सामान्य जनों में बिल्कुल घुल मिल जाते हैं। यही नहीं, राजा राम भी प्रतापी, असाधारण नहीं, संकोची, शीलवान और परदुःखकातर सामान्य जन के रूप में चित्रित किए गए हैं।"7

वस्तुतः हिन्दी आलोचना में इस प्रसंग पर कमोबेश अधिकांश आलोचक एकमत नजर आते हैं, कि 16वीं-17वीं शती के उस सामंती शासन व्यवस्था के बीच यद्यपि कि अकबर के रूप में कल्याणकारी व स्थिर शासन प्राप्त हुआ, फिर भी वहां सत्ता- दमन, कूटनीति, हिंसा व निरंकुशता से ही चलती रही। उस मध्ययुगीन परिवेश में तुलसी द्वारा एक कल्याणकारी, प्रजाहितैषी, राजा से युक्त 'रामराज्य' की परिकल्पना अपने समय-समाज के सम्मुख एक महत्वपूर्ण विकल्प प्रस्तुत करती है। यद्यपि कि कुछ आलोचक इसे महज कोरा आदर्श व धर्म-शास्त्र सम्मत विचार ही मानते हैं।

'रामराज्य' को तुलसी का आदर्श समाज माना जाता है। रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं, "यह धर्म राज्य है- इसका प्रभाव जीवन के छोटे-बड़े सब व्यापारों तक पहुंचने वाला है। समस्त मानवी प्रकृति का रंजन करने वाला है। इस राज्य की स्थापना केवल शरीर पर ही नहीं होती, हृदय पर भी होती है। यह राज्य केवल चलती हुई जड़ मशीन नहीं है- आदर्श व्यक्ति का परिवर्तित रूप है।"8 विश्वनाथ त्रिपाठी कहते हैं, "ऐसा नहीं है कि तुलसी सामंतवादी व्यवस्था के स्थान पर किसी जनवादी या समाजवादी व्यवस्था की कल्पना करते हैं, 16वीं-17वीं शदी में कोई व्यक्ति कहीं भी समाजवादी व्यवस्था की कल्पना नहीं कर सकता था। तुलसी सामंती व्यवस्था की त्रुटियां ही देख सकते थे, प्रजा के सुखी और राजा के प्रजापालक रूप की ही कल्पना कर सकते थे- उन्होंने रामराज्य के रूप में यही कल्पना की थी।"9 यह बहुत ही तार्किक और स्वीकार योग्य तर्क है। यह उस सामंती समाज की सीमा के साथ भी कवि को अपने

समय में सर्वांगपूर्ण और गतिशील, जनहितकारी रूप को उभारकर सामने लाता है। अपनी इसी बात को वे आगे और स्पष्ट ढंग से कहते हैं, “याद रखिए, तुलसी का ‘सुराज’, ‘जनतंत्र’ नहीं है, वह ‘रामराज्य’ है।” इस बात को और स्पष्ट करते हुए मैं यह कहना चाहूंगा कि इसमें तुलसी की सीमा नहीं दिखती, बल्कि उस युग की दिखती है, क्योंकि 16वीं-17वीं शती में जनतांत्रिक व्यवस्था का विकल्प ही नहीं था।

तुलसी के ‘रामराज्य’ को यदि मूल्यांकित करें तो इसी रामराज्य द्रष्टा तुलसी में उनका समन्वयवाद और लोकमंगल, दोनों समाहित होगा। इसी समन्वयवाद एवं लोकमंगल की संकल्पना ने तुलसी के रामराज्य को व्यापक अर्थवत्ता प्रदान की है और साथ ही उसे अपने समय से आगे भी गतिशील बनाया, जिसका एक सशक्त उदाहरण भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में दिखता है, जब महात्मा गांधी उसे स्वीकृत करते हैं। तुलसी की समन्वयवादी चेतना पर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की यह प्रसिद्ध टिप्पणी यहाँ उपयुक्त है कि “भारत का प्रतिनिधित्व वही कर सकता है, जिसमें समन्वय करने की चेतना हो।”

तुलसी की समन्वयवाद की चेतना पर आलोचनात्मक टिप्पणी करते हुए मार्क्सवादी आलोचक रांगेय राघव कहते हैं, कि “तुलसी ने सबका बैर ;द्वन्द्व मिटाया और सबको बहुत ऊंचा उठाकर सबका ही दूसरा रूप राम को प्रमाणित करके, राम को सबसे ही उपर उठा दिया है। परस्पर प्रशंसा का यह विचार एक व्यक्ति का नहीं, उस युग की एक विचारधारा का प्रमाण है।” 1 यहाँ एक बात स्पष्ट है, कि समन्वय की चेतना के मूल में भी ‘राम’ ही हैं और यह भी स्पष्ट है कि उस राम का राज्य लोकमंगल पर ही आधारित होगा।

तुलसी का ‘राम-राज्य’ केवल उत्तरकाण्ड में वर्णित नहीं है, वह ‘सुराज’ के रूप में ‘रामचरितमानस’ में तथा अन्य कृतियों में भी कई स्थलों पर चित्रित किया गया है। स्वयं तुलसी उस रामराज्य की व्यापकता के लिए लिखते हैं- “अलिगन गावत नाचत मोरा। जनु सुराज मंगल चहुं ओरा।” और यह सुराज वहीं है, जहाँ राम है। मुख्यतः अयोध्या और चित्रकूट में ‘सुराज’ दिखता है। तुलसी के रामराज्य में ‘सब नर करै परस्पर प्रीती’ और ‘दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज्य काहुहिं नहिं व्यापा।’ ‘अल्प मृत्यु नहिं कवनिउँ पीरा’ और ‘नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना’ है। जहाँ कलियुग में ‘बारहिं बार दुकाल’ पड़ता था, वहीं रामराज्य में ‘कवनिउँ पीरा’ नहीं है। रामविलास शर्मा कहते हैं, “तुलसीदास का स्वप्न श्रमिक जनता के लिए धरोहर है, जिससे प्रेरित होकर वह समाजवाद के लिए मंजिल-दर-मंजिल बढ़ती जाएगी।” 11 आज 21वीं सदी में खड़े होकर मूल्यांकन करें, तो आज भी यह स्वप्न, स्वप्न ही है, भले शासन व्यवस्था राजतंत्र से आगे लोकतंत्र की ही क्यों न है। इस सम्पूर्ण प्रसंग पर विश्वनाथ त्रिपाठी की यह उक्ति निष्कर्षतः उल्लेखनीय है कि “स्वप्न स्वप्न ही होता है। लेकिन महत्त्वपूर्ण यह है कि कवि कितना बड़ा स्वप्न प्रस्तुत करता है। उसका स्वप्न कितने लोगों के सुख-दुःख से सम्बंधित है। कवि का स्वप्न समाज का स्वप्न बन सका है या नहीं?” 12 इस सबमें निःसंदेह तुलसी की सफलता सिद्ध है। लेकिन एक प्रसंग तुलसी को अपने समय की सीमा को तोड़कर वर्तमान की सर्वश्रेष्ठ वैश्विक शासन व्यवस्था लोकतंत्र से जोड़ता है, जहाँ तुलसी की प्रजा की इच्छा सर्वोपरि है, जब ‘रामचरितमानस’ में स्वयं राजा राम कहते हैं-

“सोइ सेवक प्रियतम मम सोइ। मम अनुशासन मानै जोई।।

जौं अनीति कछु भाखौं भाई। तौं मोहि बरजहु भय बिसराई।।”

यह राजा की प्रजा के प्रति जवाबदेही व प्रजा का ‘जनता’ की ओर रूपांतर का एक महत्त्वपूर्ण कदम है। आज हम जिस लोकतांत्रिक जवाबदेही की बात कर रहे हैं, तुलसीदास उसका संकेत 16वीं-17वीं शती में ही दे देते हैं। इस प्रसंग पर लिखते हुए विश्वनाथ त्रिपाठी कहते हैं, कि अंतर्विरोधों के बावजूद “दैहिक दैविक भौतिक तापों से रहित शस्य-सम्पन्न धरती की जो कल्पना तुलसी ने की थी, वह हमारी भी लालसा है। विवेक, न्याय, संयम आदि सद्गुण हमारे लिए अनावश्यक नहीं हो गए। इसलिए तुलसी का रामराज्य आज भी हमारी अनुभूतियों को उदबुद्ध करता है।” 13 आधुनिक काल में भारतीय राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन के नेताओं के सम्मुख रामराज्य अपनी इसी आदर्श मानवीय शासन व्यवस्था के कारण आकर्षण का केंद्र बना। वस्तुतः मध्यकाल के कवि का स्वप्न निःसंदेह रामचन्द्र शुक्ल, रामविलास शर्मा, विश्वनाथ त्रिपाठी आदि आलोचकों की तुलसी के रामराज्य सम्बन्धी मान्यताओं में पूर्णतः स्पष्ट होकर प्रासंगिक हो उठा। जब साहित्यिक आलोचना के सरोकार समसामयिक राजनीतिक, सामाजिक चिंतन से जुड़ जाएं, तब आलोचना की व्यावहारिक सार्थकता अपने चरम पर होती है। तुलसी-साहित्य विषयक आलोचना के इतिहास में यह सबसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है, जब वह तुलसी की तत्कालीन समय-समाज के बीच महत्ता तो बताती ही है, साथ ही कवि की वर्तमान प्रासंगिकता को दिखाकर एक सतत् गतिशीलता का चक्र पूरा करती है। यदि वर्तमान 21वीं सदी का दौर अपने मानवीय बोध, परिवर्तित होते राजनीतिक-सामाजिक-आर्थिक आधारों एवं विकास के साथ अपनी परम्परा की तलाश करे, तो यह महाकवि अपने विराट व्यक्तित्व में अपने सारे अंतर्विरोध के साथ अग्रिम पंक्ति में खड़ा नजर आएगा।

सन्दर्भ सूची:

1. गोस्वामी तुलसीदास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 42
2. त्रिवेणी, रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 78
3. परम्परा का मूल्यांकन, रामविलास शर्मा, पृ. 86
4. तुलसी: आधुनिक वातायन से, रमेश कुन्तल मेघ, पृ. 100
5. वहीं, पृ. 100
6. वही, पृ. 102
7. लोकवादी तुलसीदास, विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 30
8. गोस्वामी तुलसीदास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 98
9. लोकवादी तुलसीदास, विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 98
10. रांगेय राघव ग्रंथावली, पृ. 226
11. परम्परा का मूल्यांकन, रामविलास शर्मा, पृ. 87
12. लोकवादी तुलसीदास, विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 105
13. लोकवादी तुलसीदास, विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 107

उत्तररामचरित के परिप्रेक्ष्य में भवभूति का प्रकृति-चित्रण

डॉ. राज कुमार महाजन *

प्रकृति-चित्रण और दृश्य-काव्य:-

भारतीय काव्य के श्रव्य एवं दृश्य रूप प्रवाहों में प्रकृति-चित्रों का अपना-अपना वैशिष्ट्य है। जहां काव्यों में प्रयुक्त प्रकृति प्रधान रूप से उनकी भंगिमामयी वर्णनात्मक शैली का आधार है, वहां दृश्यकाव्यों में उसका प्रयोग प्रधानतः कथावस्तु एवं कार्यव्यापार के विकास का सहायक होता है महाकाव्यों में जहां कविगण कई कई सगों में पर्वत, ऋतु, चन्द्रोदय आदि का चाकचिक्यचंचित वर्णन करने में सक्षम होते हैं, वहां नाटककार के लिए कुछ सीमित पद्यों तक ही प्रकृति वर्णन की छुट होती है। नाटकों के सीमित आकार प्रकार तथा वस्तुगत एवं भागवत संक्षिप्त के कारण प्रकृति चित्रण को वह उर्वरता नहीं मिल सकती जो उसे श्रव्यों काव्यों में प्राप्त होती है। नाटकों में सीमित आकार-प्रकार नाटककार विषयों का वर्णन किस सफलता से करता है और उसका वर्णन कितना पूर्ण व सूक्ष्म होता है, यही उसके प्रकृति-प्रेम का निष्कर्ष है।

नाटक दृश्यकाव्य है। उसमें घटनाओं की अवतारणा रंगमंच पर की जाती है। ऐसी स्थिति में प्रकृति-वर्णन के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। परंतु यह भी स्मरणीय है कि प्राचीन रंगमंच पर देशकाल के अनुरूप दृश्य विधान की सुविधा नहीं थी पर फिर भी इन नाटकों में कवित्व का आधिक्य सर्वत्र देखने में आता है। वस्तुतः देश काल का ज्ञान कराने के लिए और वातावरण की योजना के लिए प्रकृति-वर्णन का यह विधान दृश्यकाव्यों में यत्र-तत्र हुआ है। इन वर्णनों को अवसर के अनुकूल पात्रों के मुख से कराया गया है। परंतु इन नाटकों में उनकी प्रवृत्ति के अनुसार प्रकृति का उपयोग हुआ है। “मुद्राराक्षस” में राजनीतिक वातावरण अधिक प्रधान है और “प्रबोध-चन्द्रोदय” में धर्म व उपदेश की ऐसी प्रवृत्ति है जिससे उसे नाटक की श्रेणी में लेना भी उचित नहीं जान पड़ता। ऐसे नाटकों में प्रकृति के लिए कोई स्थान नहीं रहा है। इनमें एकाध स्थल पर काल के रूप में प्रकृति का उल्लेख मात्र हुआ है। “स्वप्नवासवदत्” तथा “मालविकाग्निमित्रम्” में भी प्रेम-कथा राज प्रासादों में चलती रही है और इस कारण प्रकृति की वर्णना का अवसर नहीं आया है।

“प्रतिमा”, “कुन्दमाला” तथा “महावीरचरित” नाटक की कथा भी इस प्रकार से विकसित हुई है कि देशकाल के संक्षिप्त उल्लेखों के अतिरिक्त उनमें प्रकृति की अवतारणा विशेष नहीं हो पाई है। “मृच्छकटिक”, “नागानन्द” और “रत्नावली” में रंगस्थली नाटक की कथावस्तु का अंग बनी है और इस कारण इनमें प्रकृति का रूप अधिक उभरा है। “अभिज्ञानशाकुन्तल”, “विक्रमोर्वशीय”, “मालतीमाधव” तथा “उत्तररामचरित” का वातावरण प्रकृति से निर्मित है। इन नाटकों की स्वच्छंद भावना में प्रकृति का आत्मीय स्थान है। प्रकृति के सामीप्य से इन नाटकों में सौंदर्य तथा आकर्षण बढ़ता है। इनमें “अभिज्ञानशाकुन्तल”, तथा “उत्तररामचरित” में प्रकृति मानवीय जीवन से तादात्म्य स्थापित करती हुई आत्मीय सहानुभूति से अनुप्रमाणित हो उठी है।

भवभूति के उत्तररामचरित में प्रकृति-चित्रण:-

भवभूति ने तीन नाटकों की रचना की-महावीरचरित, मालतीमाधव तथा उत्तररामचरित। इन तीनों नाटकों में से यदि महावीरचरित में प्रकृति-चित्रण सीमित रहा है, तथा मालतीमाधव में उसका अतिशय विस्तार हुआ है, तो इन दोनों की तुलना में उत्तररामचरित में प्रकृति-चित्रण अत्यधिक सन्तुलित एवं सुव्यवस्थित कहा जाता है।

प्रकृति का स्वरूप:-

किसी भी काव्य या नाटक में विचित्र प्रकृति दो प्रकार की हो सकती है-1 स्थानगत प्रकृति, 2. कालगत प्रकृति। स्थानगत प्रकृति में पर्वत, आश्रम, वनप्रदेश, वृक्ष, ग्राम, नदियां, सर-सरोवर समुद्रादि के चित्रण को लिया जा सकता है, तथा कालगत प्रकृति में ऋतुओं का वर्णन, प्रभात, मध्याह्न, सांयकाल, रात्रि आदि के चित्रण को लिया जा सकता है।

भवभूति के उत्तररामचरित में सर्वत्र स्थानगत प्रकृति के ही दर्शन होते हैं। ग्रीष्म के एक-दो वर्णन के अतिरिक्त कहीं भी कालगत प्रकृति का वर्णन नहीं मिलता है। स्थानगत प्रकृति में भवभूति ने पर्वतों, वनप्रदेशों, वृक्षों, नदियों सरोवर, आश्रम-तपोवन, इन सभी का यथात एवं मनोहर चित्रण स्थान-स्थान पर किया है जिनका विवेचन इस प्रकार से है:-

*प्राचार्य, एम.एम.डी.डी.ए. वी. महाविद्यालय, गिहड़वाहा

पर्वतों का चित्रण:-

पर्वतों में भवभूति ने प्रस्रवण पर्वत का दो स्थान पर तथा माल्यवान, क्रौंच, दक्षिण दिशा के पर्वतों तथा गोदावरी के समीपस्थ पर्वत प्रदेश का क्रमशः एक-एक स्थान पर चित्रण किया गया है।

प्रस्रवण पर्वत के एक वर्णन प्रसंग में¹ उनकी नीलिमा, उसके अग्रभागों में विराजमान गोदावरी व उनके तटों पर विद्यमान नीले वृक्षों के वर्णन से कवि ने बड़ी सूक्ष्मता से समस्त स्निग्ध नीलिमा को प्रतिबिम्बित कर दिया है जो निश्चित रूप से कवि की गंभीर निरीक्षण शक्ति एवं चित्रण चातुरी का सूचक है। इस समस्त चित्रण योजना में कवि ने प्रकृति के उद्दीपन रूप को ही मुख्यतः उभारा है। भवभूति के इन वर्णनों में एक विशिष्ट महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि पर्वत वर्णन प्रसंगों में मेघों के चित्र अनुस्यूत करने में महाकवि भवभूति विशेष रुचिशील रहे हैं। इस अनुराग में भी निश्चित रूप से उद्दीपन की क्षमता है क्योंकि बादलों का आच्छादित होना चाहे किसी भी ऋतु में हो, उद्दीपन माना गया है। प्रस्रवण पर्वत के एक अन्य चित्रण में² मेघ-माला का दृश्य प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार माल्यवान पर्वत में³ भी केवल मेघों की छटा ही चित्रित की गई है।

क्रौंच पर्वत का वर्णन⁴ में यद्यपि पाठक का आपाततः कवि समय की पूर्ति का द्योतक ही लगेगा और आलम्बन कोटि का ही प्रतीत होगा पर यहां भी भवभूति का यह चित्रण साभिप्राय और वातावरण की सृष्टि का सूचक है। भवभूति को यहां प्रकृति की ध्यानकता ही अभिप्रत थी इसलिए एक स्थान पर डरे हुए कौए और दूसरे स्थान पर डरे हुए सांपों का चित्र इस प्रयोजन को पूर्ण करने में सक्षम है।

दक्षिण दिशा के पर्वतों में⁵ भी यह विशेष दर्शनीय है कि बादलों का वर्णन करने में कवि नहीं चूका। जहां तक गुफाओं के उल्लेख की बात है, इसमें भी कोई संदेह नहीं लगता कि भवभूति का ऐसी गुफाओं में साक्षात् घनिष्ठ परिचय रहा होगा।

गोदावरी के समीपस्थ पर्वत प्रदेश के लिए गए चित्रण में⁶ पशु पक्षियों का बन्धुत्व, गोदावरी, गुफाओं और झरणों का समीपस्थ भी भवभूति के उसी दृष्टिकोण का परिचालक है जिसमें प्रकृति मानव जीवन के साथ तादात्म्य स्थापित करती है। कुंजवान पर्वत⁷ का केवल उल्लेखमात्र कवि ने किया है।

वनप्रदेशों का चित्रण:-

उत्तररामचरित के दूसरे और तीसरे अंक में दण्डकारण्य के ही जनस्थान तथा पंचवटी नामक वनप्रदेशों के चित्र अंकित किए गए हैं। इन चित्रणों में कहीं दक्षिणरण्य का उल्लेख करके स्मृति को उद्दीप्त किया गया है। यथा-“दक्षिणरण्य के एक वर्णन में⁸ उल्लेख वन का है पर प्रयोजन स्मृति को उद्दीप्त करना (आर्यपुत्र ने अपने हाथ के छोते की छाया की थी) ही है।” कहीं दण्डकारण्य में तपस्या की चर्चा की गई है। यथा-“यह वन आपके यथेच्छ उपभोग करने योग्य है। वृक्ष की छाया, जल और कुछ भी तपस्या के उपयुक्त भोजन फर अथवा कन्द होता है, वह यहां आपके पराधीन नहीं है।”⁹ यह वर्णन निश्चित रूप से वनों के रूढ़ वर्णनों जैसा ही है। प्रकृति की दृष्टि से वृक्षों की छाया या जलाधि की चर्चा तो अवश्य है पर प्रधानता तपस्या की है। एक अन्य स्थान पर दण्डकारण्य का उल्लेख¹⁰ केवल वाल्मीकि मुनि के निमित्त है।

वन प्रदेशों के वर्णन में कवि के द्वारा किए गए पशुओं के विचरण, पक्षियों की कलरव ध्वनि एवं सघनता से अवस्थित श्यामल तथा प्रचुर छाया वाले वृक्ष समूहों के सुव्यवस्थित चित्रण में उसकी सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति का परिचय मिलता है। यथा-वनप्रदेशों के वर्णन में¹¹ हर्ष से अव्यक्त मधुर शब्द करते हुए मयूरों का, निर्भयतापूर्वक विचरण कर रहे अनेक प्रकार के मृगसमूहों का तथा श्यामल क्रान्ति एवं सघन छाया वाले वृक्ष समूहों का एक साथ चित्रण किया द्रष्टव्य है। एक अन्य स्थान पर वृक्षों के कारण श्यामल कान्ति वाले एवं पक्षियों के कारण शब्दायमान वनप्रान्त का वर्णन¹² उल्लेखनीय है। दंडकारण्य में पंचवटी का चित्रण¹³ उद्दीपन रूप में किया गया है।

दण्डकारण्य में जनसभा का चित्रण¹⁴ निश्चित रूप से आलम्बन और उद्दीपन दोनों को साथ लिए हुए है तथा साथ ही साथ यह प्रकृति का कालगत चित्रण है जिसमें शिखर दोपहरी का वर्णन किया गया है। नाटककार के रूप में भवभूति ने यहां प्रभाव और वातावरण की सृष्टि करने के लिए भयावहता को ही सर्वत्र अनुस्यूत किया है जो प्रचंड, हिंसक जंतुओं के रूप में या निस्तब्धता के रूप में या भयंकर शब्दों के रूप में या अग्नि से प्रज्वलित विशालकाय सर्पों के रूप में या अजगरों के पसीने पीते हुए गिरगिटों के रूप में चित्रित है।

वृक्षों का चित्रण:-

भवभूति ने यद्यपि पर्वतों एवं वनप्रदेशों के वर्णन प्रसंगों में वृक्षों की छटा एवं छाया का चित्रण किया है परंतु पृथक रूप से वृक्षों के चित्रण में कोई रुचि नहीं दिखाई है। वृक्षों का उल्लेख राम की स्मृति को उद्बुद्ध करने के लिए ही किया गया है। कहीं इंगुदी वृक्ष¹⁵ राम निषादराज से हुई मुलाकात का स्मरण कराता है तो कहीं कदम्ब वृक्ष¹⁶ सीता के वृक्षों के प्रति वात्सल्य प्रेम का। कहीं चित्रकुट को जाने वाले मार्ग में यमुना तट पर अवस्थित श्याम नामक वट वृक्ष¹⁷ भारद्वाज का स्मरण जी का स्मरण कराता है तो कहीं वासन्ती के द्वारा

निर्देशित लतागृह में¹⁸ सीता की राम के द्वारा की गई प्रतीक्षा का स्मरण कराता गया है। चित्रकुट के मार्ग में स्थित मौलसरी का वृक्ष¹⁹ भी राम को मन्दाकिनी गंगा में सीता देवी के साथ किए विहार का स्मरण कराता है।

भवभूति ने षष्ठांक में²⁰ नीलकांत मणि के समान श्यामल कान्ति वाले कुश का नवीन और नील बादल के गंभीर गर्जन के समय कली धारण करने वाले कदम्ब वृक्ष के साथ सादृश्य स्थापित करके अपनी रंगों की पहचान की चातुरी का परिचय दिया है जिसमें दो नीलिमाओं का संगम व स्पष्ट रूप देख सके हैं।

आश्रम/तपोवन का चित्रण:-

पर्वतीय नदियों के तटवर्ती तपोवनों एवं आश्रमों के वर्णन में कवि ने कलात्मक दक्षता का परिचय दिया है। आश्रमों में सुरक्षित भारतीय संस्कृति के स्वरूप को एवं अतिथि-सत्कार-भावना की गरिमा को द्योतित करते हुए वानप्रस्थी मुनियों तथा शान्तचित्त गृहस्थियों के निवास का उल्लेख यदि एक ओर किया है²¹ तो मतंग मुनि के आश्रम²² की ओर कवि ने संकेत भर किया है। ऐसे वर्णनों में नाटककार ने कथा निर्वाह में व्याघात को रोकने के लिए प्रायः संयम से काम लिया है। वाल्मीकि के आश्रम में दण्डायन और सौधातकि के वर्तालाप से भवभूति ने सामयिक आश्रम व्यवस्था की ओर संकेत किया है, उसी प्रसंग में तपोवन में सद्यः प्रसूता प्रिया के नीने से बचे हुए मांड को चाटते हुए मृग का वर्णन अत्यन्त सटीक है।²³

नदियों का चित्रण:-

भवभूति ने उत्तररामचरित में भागीरथ, यमुना, तमसा, और गोदावरी नदियों का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। प्रथमांक में भागीरथी की गरिमा का वर्णन करते हुए²⁴ कवि ने उस मिथ्याहासिक तथ्य की ओर संकेत किया है जिसके अनुसार भागीरथी के पावन जल के स्पर्श भागीरथी ने अपने पिता-पितामहों का, जो कपिल मुनि के क्रोध की ज्वाला से भस्म हो गए थे, उद्धार किया था। प्रथमांक में कवि ने “यमुनातीरनिवासिनसां उग्रतपसां ऋषीणां स्तोमः” के वर्णन प्रसंग में यमुना नदी का²⁵ और द्वितीयांक में वाल्मीकि के उल्लेख के प्रसंग में तमसा नदी²⁶ का उल्लेख किया है। यह वही तमसा नदी है, जहां वाल्मीकि ने क्रौंच-मिथुन में से एक का वध कर देने वाले निषाद को शाप दिया था।

इसके अतिरिक्त नदियों के रूढ़िगत वर्णन²⁷ भी मिलते हैं जिनके निर्मल जल मदमत्त पक्षियों से व्यास वेतस लताओं के पुष्पों से सुगन्धित रहते हैं और जो फल समूह के पक जाने के कारण काले दिखने वाले सघन जम्बू वृक्षों से टकराकर शब्दायमान होने वाले अनेक स्रोतों को धारण करती हैं।

नदियों के साथ ही नदियों के तटवर्ती प्रदेशों के वर्णनों²⁸ में कवि ने धने कदम्बों, अशोक वृक्षों तथा वेतसलताओं की शोभा को निहारा है, जिसमें कवि के नदी और नदी-तट वर्णनों में पूर्णता और कलात्मक स्निग्धता का समावेश हो गया है।

द्वितीयांक की समाप्ति पर कवि ने गोदावरी के गद्गद् ध्वनि करने वाले जल के वर्णन का, जिसमें शब्दों की ध्वनि से ही नदी जल की ध्वनि उत्पन्न हो रही है, और नदियों के संगम का, मनोरम चित्र प्रस्तुत किया है, जिसमें पारस्परिक आघातों से अत्यंत चंचलतापूर्वक उठती हुई महातरंगों के कोलाहल में भयावहता कवि को अभिप्रेत है²⁹।

भवभूति की नदियां शरीरधारिणी होकर साक्षात् सचेतन प्राणियों का सा आचारण करती हैं। तमसा और मुरला नामक नदियां परस्पर वर्तालाप करती हुई सामने आती हैं। मुरला अगस्त्यपत्नी लोपामुद्रा के संदेश को गोदावरी से कह रही है, जिसमें प्रकृति द्वारा पुरुष के प्रति सहानुभूति की अपेक्षा की गई है³⁰।

सरोवर का चित्रण:-

चित्रदर्शन के क्रम से पम्पा नाम की प्रसिद्ध पुष्करिणी के चित्रण में³¹ भी राम के मुख से बीते दिनों की एक मार्मिक स्मृति शब्दबद्ध होकर प्रकट होती है। इस चित्रण में एक ओर राम की नीलकमल सी आंखों में उजले अश्रु-बिन्दुओं के भार से पलकों का फड़कना तो दूसरी ओर उसके समानान्तर पम्पा की स्वच्छ जल सतह पर मल्लिकाक्ष हंसविशेषों के पंखों में कम्पित बड़े नालदण्डों वाले श्वेत कमलों का खिलना, भवभूति की कलात्मक चित्रण प्रतिभा का द्योतक है। यहां पर पम्पा सरोवर के श्वेत-कमलों का भी राम को नीलकमल प्रतीत होना भवभूति की गम्भीर-निरीक्षण शक्ति एवं चित्रण-चातुरी का सूचक है। यद्यपि पम्पा सरोवर में श्वेत कमल खिले थे किन्तु राम की अश्रु बिन्दु पूरित दृष्टि होने के कारण उन्हें वे नीलकमल प्रतीत हुए हैं। यहां सम्भवतः राम को श्वेत कमलों का नीलकमल प्रतीत होना मल्लिकाक्षों के कृष्णवर्ण की ओर ध्यान केन्द्रित हो जाने के कारण है। राम की दृष्टि जब क्षणभर के लिए उस ओर सजल पलकों की ओट से देखती है तो श्वेत कमलों की अपेक्षा मल्लिकाक्षों का कृष्णवर्ण दृष्टिपथ में आ जाने पर वे श्वेतकमल भी नीलकमल प्रतीत होने लगते हैं।

कालगत प्रकृति :-

उत्तररामचरित के द्वितीय अंक में सूर्य-किरणों की प्रखरता के कारण दुसह्र मध्याह्न दिवस का मनोहर चित्र भवभूमि की सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति का उदाहरण है। गर्मी के दिनों में जंगली नदियों की तटवर्तिनी प्रकृति का इतना यथार्थ चित्रण संस्कृत साहित्य में बहुत विरल है। हाथियों के अपने कण्डूयुक्त मस्तकों को वृक्षों से रगड़ने के कारण तथा गर्मी में पुष्प-वृत्तों के शिथिल पड़ जाने के कारण गोदावरी की शीतल व शुभ्र जल राशि पर उन वृक्षों से हो रही पुष्प-वृष्टि की सामान्य क्रिया को कवि ने इन चित्रों की पृष्ठभूमि में लाकर अतिशय मोहक बना दिया है। “छायापस्किरणविष्किरमुखव्याकृष्टकीटत्वच”- इस पंक्ति में कवि ने ग्रीष्म-प्रकृति के पूर्ण तथा अपेक्षाकृत उपेक्षित सौन्दर्य को साकार कर दिया है। इसी प्रकार कूजते तथा कुट-कुट शब्द करते पक्षियों की चहल-पहल को कवि ने प्रयुक्त शब्दों की ध्वनि मात्र से प्रकट कर दिया है।

ग्रीष्म का ही एक और जीवन्त चित्रण³³ द्रष्टव्य है जहां एक साथ भयानक एवं बीभत्स की अपूर्व व्यंजना हुई है। इसमें निःस्वन्ता एवं तुमुल ध्वनिगत चण्डता वनप्रकृति की भयानकता को द्योतित करती है। भयानक फण वाले स्वच्छन्द लेटे हुए विशालकाय सर्पों की तेज सांसों से दावाग्नि के प्रज्वलित होने की बात भयानकता में वृद्धि करती है और इस पद्य की अन्तिम दो पंक्तियों में एक असामान्य बीभत्स चित्र, घोर यथार्थ एवं कल्पना का अपूर्व समन्वय लिए हुए है।

इस प्रकार भवभूति ने कालगत प्रकृति का केवल दो स्थलों पर ही चित्रण किया है, परन्तु ग्रीष्म की ज्वाला से झुलसते वन्य जीवन के ऐसे विकराल दृश्यों का वर्णन करने में भवभूति ही सक्षम थे और ग्रीष्म के लम्बे-लम्बे वर्णन करने वाले कवि एवं नाटककार भी भवभूति के इन सीमित दो पद्यों में किए गए चित्रण से समता नहीं रख सकते। ऐसा चित्रण केवल वही कर सकता है जो न केवल उस जीवन का प्रत्यक्षदर्शी रहा हो, बल्कि जिसके पास उसे शब्दों में यथावत् उतारने की प्रतिभा एवं सामर्थ्य हो।

पशु-पक्षियों का चित्रण:-

यद्यपि भवभूति के पशु पक्षियों के वर्णनों में अधिक विविधता नहीं है तो भी हाथी, घोड़े, मृग जैसे पशुओं एवं जटायु, मयूर जैसे पक्षियों का वर्णन जिस-जिस प्रसंग में भी हुआ है, कवि की वर्णन-क्षमता तथा पशु-प्रेम-भावना को व्यक्त करता है। भवभूति ने अपने पात्रों का प्रकृति एवं विशेष रूप से पशु-पक्षियों के साथ सौहार्द सम्बन्ध प्रदर्शित करने में विशेष अनुराग दिखाया है।

उत्तररामचरित के तीसरे अंक में कवि ने राम के मुख से गजकुमार का जो चित्रण³⁴ किया है वह उसके मन के किसी अचेतन कोने में सीता पुत्र के इसी तरह कुमारावस्था को प्राप्त हो जाने की भावना को गजकलभ के साथ एकात्मता स्थापित करते हुए व्यक्त करता है। राम कहते हैं कि यह गजकलभ जो कभी (12 वर्ष पूर्व) उगते हुए मृगाल के अग्रभाग की तरह कोमल दन्ताकुर से सीता के कानों में मूल में लवलीलता का पल्लव खींच लेता था वही अब मदस्त्रावी हाथियों का विजेता हो गया। कितनी आत्मीयता है राम के इन शब्दों में और कितना सटीक चित्रण है गजकलभ के यौवनोन्मेष का।

भवभूति ने मानवीय प्रणय व्यापारों की तरह पशु-जगत् में प्रणय व्यापारों का विशेष अभिरूचि के साथ चित्रण किया है। शृंगार-रसाभास से विभासित एक ऐसा ही चित्रण द्रष्टव्य है³⁵ जहां एक प्रणयी गजयुवक अपनी प्रणयिनी हाथिनी के द्वारा मृगाल समूहों के कवलित कर लिए जाने पर उसके मुख में खिले हुए कमलों से सुवासित जल की कुल्लियां छोड़ता है और फिर धूप से बचाने के लिए उसके ऊपर कमलिनी के पत्तों का छाता तान देता है। यह वर्णन कालिदास के कुमार सम्भव के तीसरे सर्ग के मधुकर-मधुकरि के प्रणय व्यापार वर्णन³⁶ से कितना सादृश्य रखता है। अन्तर केवल इतना है कि कोमल प्रकृति चित्रण में विचक्षण कवि कालिदास भंवरे का वर्णन करते हैं और कठोर प्रकृति के प्रेमी भवभूति हाथी का। अपनी स्वभावोक्तिमयता में अश्व का स्वाभाविक वर्णन³⁷ भी बहुत प्रभावी बन पड़ा है।

वाल्मीकि के आश्रम के मृग के वर्णन प्रसंग³⁸ में भी उसके प्रणय-व्यापार का ही विशेषतः उल्लेख है जिसमें वह सद्यः प्रसूता हरिणी के पीने से बचे तिन्नी के चावल के ऊष्ण और स्वादिष्ट मांड को पीने में आनन्द का अनुभव करता है।

पक्षियों में भी भवभूति ने मयूर के प्रणय व्यापार³⁹ का एवं सीता का मयूर के प्रति वात्सल्य प्रेम का ही चित्रण⁴⁰ किया है। पितृ-तुल्य एवं परम पूज्य जटायु⁴¹ का चित्र-दर्शन प्रसंग में उल्लेख मात्र कवि ने किया है।

“उत्तररामचरित” के विविध दृश्यों का विश्लेषण किया जाए तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि अधिकांशतः सभी दृश्य प्रकृति के परिवेश में ही घटित हुए हैं। यदि यों कहा जाए कि प्रथम अंक को छोड़ कर शेष सभी अंकों की घटनाएं प्रकृति के किसी न किसी परिपार्श्व में ही जन्म लेती हैं, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। प्रथम अंक में भी कवि ने उत्तररामचरित का आरम्भ राजभवन से करते हुए भी चित्र-दर्शन के द्वारा राम के साथ नवजीवन के प्रसंगों की भावमूर्तियां जगाई हैं जिनका प्रकृति के साथ अन्योन्याश्रम सम्बन्ध असन्दिग्ध है।

DAV SHODHDHARA

कवि ने चित्र-वीथिका में प्रकृति के अनेक दृश्य प्रस्तुत किए हैं। दूसरे और तीसरे अंक के वर्णन तो सम्पूर्णतः दण्डकारण्य के किसी न किसी प्रदेश- जनस्थान, और पंचवटी- में ही पिरोए गए हैं। चतुर्थ और पंचम अंकों की घटनाएं वाल्मीकि मुनि के आश्रम-स्थल या उसके आसन्न प्रदेशों में घटित होती हैं। छठे अंक का सम्पूर्ण यद्ध-चित्र भी आश्रम के सन्निकट प्रकृति के विशाल प्रांगण में अंकित किया गया है। सातवें अंक में गंगा तट पर ही गर्भाक के द्वारा राम और सीता का मिलन सम्भव होता है। इस प्रकार भवभूति ने उत्तररामचरित में राम के जीवन के जिस अंश को अपने नाटकीय वृत्त का आधार बनाया गया है, उसे प्रकृति के विशाल आंगन में चित्रित किया है।

सन्दर्भ संकेत :

- | | | |
|-------------------------------|-------------------|------------------------|
| 1. उत्तररामचरित अंक 1, पृ. 37 | 15. वही-1/21. | 29. वही-2/30. |
| 2. वही-2/24. | 16. वही-3.पृ.148. | 30. वही-3/2. |
| 3. वही-1/33. | 17. वही-1.पृ.34. | 31. वही-1/31. |
| 4. वही-2/29. | 18. वही-3/37. | 32. वही-2/9. |
| 5. वही-2/30. | 19. वही-6/36. | 33. वही-2/16. |
| 6. वही-3/8. | 20. वही-6/17. | 34. वही-3/15. |
| 7. वही-1.पृ. 44. | 21. वही-1/25. | 35. वही-3/16. |
| 8. वही-1.पृ. 36. | 22. वही-1.पृ. 44. | 36. कुमारसम्भव 3/. |
| 9. वही-2/1. | 23. वही-4/1. | 37. उत्तररामचरित-4.26. |
| 10. वही-2/3 | 24. वही-1/23. | 38. वही-4/1. |
| 11. वही-2.पृ. 103. | 25. वही-1/50. | 39. वही-3/18. |
| 12. वही-2/25. | 26. वही-2.पृ. 82. | 40. वही-3/20. |
| 13. वही-2/28. | 27. वही-2/20. | 41. वही-1.पृ. 43. |
| 14. वही-2/16. | 28. वही-2/23. | |

मूल सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. भवभूति, उत्तररामचरितम्, तारिणीश झा (अनुवादक), इलाहाबाद: रामनारायण बेणीप्रसाद, चतुर्थ संस्करण, 1975

आधुनिक समाज में नारी के उभरते नए प्रतिमान

कंचन गोयल*

वैदिक काल में नारी केन्द्रित गृहस्थ आश्रम को ही प्रधानता दी जाती थी। उस काल में धर्म से लेकर राजनीति गतिविधियों में नारी को समान अधिकार प्राप्त थे। उन्हें वर चुनने की स्वतन्त्रता थी। विधवाओं को पुनर्विवाह की अनुमति थी। शारीरिक शक्ति में भी वह पुरुषों से किसी प्रकार पीछे नहीं थी। भूमि में उनका सक्रिय सहयोग रहता था। रामायण काल तथा महाभारत काल में भी स्त्रियों की श्रेष्ठता का गुणगान बहुत उच्च स्वरों में किया गया है। “रामायण की ‘सीता’ और ‘महाभारत’ की ‘द्रोपदी’ पहली ऐसी नारियां थी जिन्होंने अपने ससुराल का घर छोड़कर अपने पतियों के साथ बाहर की दुनिया को देखा था। सामन्त काल तक आते आते नारी अबला और पराश्रिता हो चुकी थी। केवल उसका सौन्दर्य पुरुषों को वश में करने का एक मात्र उपाय था। मुगल काल के अन्त तक आते आते नारी का अस्तित्व गौण हो गया। वह व्यक्ति से वस्तु बन गई।

पुरातन काल से ही पुरुष नारी को अपनी पैतृक संपत्ति मानता था। पहले पुरुष को अधिक श्रम वाले काम करने पड़ते थे और नारी घर के कार्य में उलझी रहती थी। नारी आर्थिक रूप से पुरुष पर निर्भर थी। उसकी इसी निर्भरता ने पुरुष को अभिमानी बना दिया। अब पुरुष हर किसी का मालिक बनना चाहता था। यहीं से औरत की गुलामी की दास्तांन शुरू होती है। नारी पुरुष के प्रति श्रद्धाभाव रखती है। जिसे पुरुष ने नारी का भय माना और उसे अपने अधीन करने का प्रयत्न किया। प्रभा खेतान लिखती हैं, “पुरुष ने उसे कभी देवी माना तो कभी दानवी पुरुष ने अपने स्वार्थ के लिए नारी का प्रयोग किया। पुरुष सम्पूर्ण वस्तुओं का अधिकारी बन गया। इसलिए अब वह संतान का स्वामित्व भी वाहने लगा।”

भारतीय समाज में नारी की स्थिति के लिए पुरुष पूर्णतः उत्तरदायी है। वह औरत को पैर की जूती समझता है। वह तरह तरह की तरकीबें और कानून बनाता है ताकि औरत एक इंसान की तरह कभी भी न ती सके। उसने नारी की स्वतन्त्रता का समर्थन कभी नहीं किया, जबकि उसने नारी के पैरों में परतन्त्रा की बेड़ी डाली है। अपनी अखण्डता और पूर्णता में नारी दुर्जय और अजेय है। वह एक ऐसी शक्ति है जो स्वतन्त्र और स्वच्छ है, बने और स्वैरिणी.....इसलिए पुरुष ने उसे ही तोड़ा है। तोड़कर ही किसी को कमजोर और पालतू बनाया जा सकता है। आदमी ने लगातार और हर प्रकार कोशिश की है कि उसे परतन्त्र और निष्क्रिय बनाया जा सके.....तभी बोडआ कहती है कि “औरत पैदा नहीं होती बनाई जाती है।”

19वीं शताब्दी के उत्तार्द्ध में ईसाई मिसनरियों का आगमन हुआ। उन्होंने ऐसी रूढ़िवादिता और कुप्रथाओं का विरोध किया और इन्हें समाप्त करने के लिए धार्मिक आन्दोलनों का साहारा लिया। धीरे-धीरे यह आन्दोलन सुधाखादी आन्दोलनों में बदल गया। भारत में नारी संघर्ष को पुरुषों के सहयोग ने ही आगे बढ़ाया है। यह भी कहा जा सकता है कि इसमें जान डालने का कार्य पुरुषों ने किया। राजाराम मोहनराय ने बहु विवाह का विरोध किया तथा पुनर्विवाह की मांग की। उन्होंने ब्रह्म मैरिज एक्ट पास करवाया। उन्होंने दहेज प्रथा तथा बालविवाह का भी विरोध किया। ईश्वर चद्र सागर ने विधवा विवाह पर बल दिया। उनके कारण ही एक बिल पास हुआ जिसमें लडकी के विवाह की आयु 14 वर्ष निश्चय कर दी गयी। स्वामी विवेकानन्द ने नारी की दयनीय स्थिति सुधारने के लिए राम कृष्ण मिशन की स्थापना की। उन्होंने ने कहा कि, “स्त्रियों में यह अवश्य ही क्षमता होनी चाहिए कि वह अपनी समस्याएं अपने ढंग से हल कर सकें। उनका यह कार्य न कोई दूसरा कर सकता है न ही किसी दूसरे को करना चाहिए। “आधुनिक युग की नारी अनपनी अस्मिता की सुरक्षा के लिए जीवन से निरन्तर संघर्षरत है, तभी तो वह जीवन में व्यास आस्था, अनास्था, व्यथा, निराशा, शून्यताबोध, मृत्युबोध, अकेलेपन, अजनबीपन, अलगाव आदि स्थितियों से संघर्ष करती हुई अपने ‘स्व’ को सुरक्षित रखती हैं। प्रभा खेतान के शब्दों में, “प्रत्येक स्त्री अपने आप में एक विशिष्ट स्त्रि है, अपने जीवन जीने तथा होने के तरीके से ही वह अपना होना स्थापित करती है। अतः स्त्रीत्व के नाम समाज उसके स्त्री होने के आचरण को अच्छा या बुरा कहने का अधिकार नहीं रखता है और न ही पूर्व निर्धारित ढंग से किसी भी भूमिका को उस पर आरोपित कर सकता है।”

*सहायक प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, एस.डी. कॉलेज फॉर वूमैन, मोगा

वैक्तिक चेतना ने नारी विमर्श को नवीन सूर्य देते हुए सुदृढ़ता प्रदान की है। वैक्तिक भावना के कारण ही नारी में अहंभाव उभरा है और वह अस्तित्व के प्रति सचेत हुई है। मैतेयी पुष्पा के औपन्यासिक आत्मकथा 'कस्तूरी कुंडल बसै' में पिता की मृत्यु होने पर उनकी माता जी पुरुष प्रधान समाज को चुनौती देते हुए अपनी इच्छा से पढ़ने लिखने का संकल्प लेकर अपनी इच्छा पूरी करती है। वह अपने घर, खेत तथा पुत्री की चिन्ता न करके अपने गांव से कई किलोमीटर दूर पढ़ने आती है। उसे गाँव के लोग कई-कई तरह के ताने देते हैं। गांव की स्त्रियां रांड-सांड कहती हैं। कस्तूरी अपनी वैक्तिक इच्छा पूर्ति हेतु अनेक विरोध सहती है। इस संबंध में डॉ० शंकर प्रसाद का कहना है, "आज वह पुरुष की जीवन संगिनी या समपूरिका नहीं है, प्रतिद्वन्द्विनी भी है। वह एक आर्थिक ईकाई भी बन रही है और शिक्षा एवं आर्थिक स्वावलम्बन ने उसे अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए विवश किया है।" आधुनिक युग में आज स्त्रियां अपने अंतर्गत गुण के कारण ही वह अपने मन की ग्रंथियां खोलते हुए उसमें अदम्य साहस और शौच का भाव भर देती हैं। अन्तर्गत शब्द से तात्पर्य है कि वह किसी स्त्री का स्त्रीयाचित व्यवहार न करके पुरुष के समान व्यवहार करना। यह पुरुष के गुणों में विशेषता का प्रतीक है। जिस स्त्री में इस पुरुष भाव प्रतिमा की प्रधानता होती है वह पुरुषों से समानता ओर स्पर्धा करती है। समाज में कार्यशील स्त्रियों, प्रध्यापिकाओं, नर्सों आदि में युग के स्वरूप का आधिक्य बताया है। सदियों से कुचला जा रहा नारी का अस्तित्व अपने मन मस्तिष्क में चल रहे निराकरण के लिए नारी चेतना के द्वारा ही सम्भव हुआ है। नारी अपने व्यक्तित्व में व्यापत विकृतियों को बड़ी सजगता व सूक्ष्मता के साथ उन्हें दूर करने का सक्षम प्रयास करती हुई नारी चेतना को गति देती है। इस संदर्भ में डॉ० शंकर का अभिमत है, "आत के बदलते युग में नारी का तन ही नहीं उसका मन भी बदलता है, वह एक ओर विज्ञापनों की आधारशिला है तो दूसरी ओर अन्तरिक्ष यात्री।" इतना ही नहीं अन्तर्गत गुणों के कारण नारी संसार में विशालतम प्रजातंत्रों की नेत्री के रूप में दिखाई देती है। एक पुरुष वर्चस्ववादी समाज में रह रही नारी के सामने विस्तार से लेकर बस्तर तक शक्ति और संघर्ष के हजारों रंग क्षेत्र सामने है रही है। अब यह लड़ाई एक स्त्री के बन जाने या न बन जाने की नहीं रह गयी, समग्र स्त्री जाति की अस्मिता और अस्तित्व की लड़ाई है। इन्दिरा गांधी, मार्ग रेट थैचर, गोल्डा मायर, भण्डार नायक, बेनतीर भुट्टों अपने-अपने देश की प्रधानमंत्री बनीं। इन्होंने एक समर्थ पुरुष के समान ही प्रशासनिक कौशल को सिद्ध किया। इन्होंने नारी विमर्श के नये प्रतिमान और कल्याण के कार्य भी किए।

आधुनिक समाज में संयुक्त परिवार विघटित होकर एक्ल परिवार में पीरवर्तित होने लगे हैं। आधुनिक शिक्षा और पाश्चात्य संस्कृति ने औरतों को प्रभावित कर उसे अधिकारों और स्वतंत्रता के प्रति सचेत किया। नारियों ने परंपराओं, रूढ़ियों को तोड़कर आगे बढ़ने का प्रयत्न किया। स्त्रियों ने किसी भी रिश्ते को अपने रपैरों की बेडियां नहीं बनने दी और अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए पिता, भाई और पति से टक्कर लेनें लगीं। आज की नारी किसी भी रूप में पुरुष से पीछे नहीं रहना चाहती। वह आर्थिक रूप से पूर्ण स्वतंत्र है तथा अपनी इच्छानुसार जीवन व्यतीत करना चाहती है। डॉ० मधु संधु के अनुसार, "वह न पत्थर की देवी है और न लोगों का सत्यनाश करने वाली राक्षसी। अब वह न सीता की तरह भूमि समाधि लेगी और न अग्नि परिक्षाएँ देगी, न कुएँ में कुदेगी, न जल मरेगी, न छल से उसकी हत्या होगी। अब वह आग पर चलना सीख गयी है और जो आग पर चलना सीख जाता है वह कुन्दन बन जाता है।" नारी के रिश्ते इस हाथ ले उस हाथ दे के व्यवहारिक सिद्धांत पर आधारित है।

भारतीय समाज में बीते युग लाटरी की तरह होते हैं। पति शराबी, चरित्रहीन, मार पीट करने वाला, संतान को जन्म देने में सक्षम न होने वाला, यह सब जानते हुए भी एक लडकी ऐसे अपना पति परमेश्वर स्वीकार कर लेती है। आज आधुनिक समाज में लडकी का पति अर्थलोलुप, असभ्य, छोटे विचारों का नपुंसक व्यक्ति है। वह सारे बन्धनों को ताड़कर निकल आना चाहती है। अपने से पति की संवेदनशून्यता के कारण नारकीय जीवन से मुक्ति पाना चाहती है। आज वह समस्त परंपराओं, मर्यादाओं, जज्जियों का खोल उतार कर संघर्ष का मार्ग अपना रही है क्योंकि वह जान चुकी है कि, "स्त्री की रक्षा कहीं भी नहीं है। घर में भी नहीं, बाहर भी नहीं। जब तक वह दूसरों की जायदाद के रूप में दूसरों की स्वार्थ सिद्धि करेगी तब तक लोग उसका गुणगान करेंगे। उसकी मुट्टी खोलकर निकालने की कौशिश करते ही वही प्रशंसक फुफकार उठेंगे।"

बीते युगों में विधवा स्त्री अपने सौभाग्य के चिह्नों को हटाती थी, सादे वस्त्र धारण करती थी और रूखा सूखा खाकर त्यागमय जीवन व्यतीत करती थी। विधुर तो दूसरी औरत के साथ विवाह करके सुखमय दाम्पत्य जीवन व्यतीत करता है। लेकिन आधुनिक नारी जो कि अपने जीवन का हर कदम अपने आत्मविश्वास के साथ तय करती है, अपने जीवन के दुःखद मोड़ पर भी उसका आंचल नहीं छोड़ती। वह उसके लिए चयनित मर्यादाओं, निषेधों का उल्लेखन करके विश्वास के साथ अपना जीवन मार्ग तय करती है। डॉ० मधु सिन्धु के अनुसार, "घर में होम होती, आफिस में खटती, विधवाओं के दुःख, छलना, अपमान को ज्यों का त्यों स्वीकारने से इन्कार कर दिया है। उसके पास अधिकार है, स्वतंत्र व्यक्तित्व है, एक दृष्टिकोण है। वह नारी शक्ति है, तेजस्विनी है- जो भयभीत कर सकती है, वह सती

होकर चौरा पुजवाने वाली देवी नहीं रहीं। पति के साथ ही पत्नी को मरा समझने के दिन चूक गये हैं। सांसों में ताती हवा ग्रहण कर उसने जान लिया है कि सारे नक्षत्र उसके अपने हैं।”

21वीं सदी में नारी अपने अधिकारों के प्रति सजग है। आज वह पढ लिख कर अपने पैरों पर खड़े होकर आर्थिक पक्ष से मतबूत होना चाहती है। नारी चेतना के कारण नारी शिक्षित से उच्च शिक्षित हुई है। उसने अपने कामकाज को अर्थ देकर उपलब्धियों से जोड सर्वक्षेत्री, मूल्य निर्धारित कर लिया है। शोध और आंकड़े नौकरी पेशा औरत के अनुपात और वर्षा को स्पष्ट करते हैं। कल वह कर्मचारी थी आज वह अधिकारी बनी है। सामान्य स्कूल कॉलेज शिक्षा से आगे बढ़कर कुलपति बनी है। राजनीति के क्षेत्र में पंच-सरपंच से प्रधानमंत्री बनी है। गायनीकोलोजिस्ट से सर्जन बनी है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर से बिजनैस मैगनेट बनी है।

“आज गृहस्थी से यान, यान से परिचालन तक के दायित्वों का सफलतापूर्वक निभाने वाली नारी, संध्या के समय दफतरों-फैक्टरियों से निकलती भीड़ में आत्मविश्वास पूर्वक अपना रास्ता बनाती हुई नारी, मरीजों की परिचर्चा एवं छात्रों की शिक्षा-दीक्षा में अपने भीतर की स्नेहिल मां को उद्घाटित करने वाली नारी के कंधों पर झूलता पर्स उसकी आर्थिक स्वतंत्रता की उद्घोषणा करता है।”

आधुनिक युग में नारी परंपराओं, रूढ़ियों, संत्रास, निषेधों, कुण्ठाओं और मर्यादाओं की बेडियों को ध्वस्त करके संघर्ष का लौजदण्ड अपने हाथ में लेकर स्वाभिमान की दिपदिपाती लौ में, अनैच्छिक रूप से का दंश झेलने के लिए तैयार नहीं है। वह रूढ़ियों से बंद जकड़े बंद दरवाजों को खोल कर अपने नारकीय जीवन से मुक्ति पा चुकी है। नारी ने अपने सुप्त अहंकार जागृत और अस्तित्व के प्रति सचंत होना ही आधुनिक समाज में नारी के उभरते नये प्रतिमानों को घोषित करता है।

सन्दर्भ सूची:

1. सीमोन द बाउवा, द सैकण्ड सैक्स, अनुवाद प्रभा खंतान, स्त्री उपेक्षिता, पृ. 42
2. राजेन्द्र यादव, आदमी की निगाह में औरत (भूमिका द्वारा अरविन्द जैन, औरत होने की सज़ा, पृ. 13
3. राजरानी शर्मा, हिन्दी उपन्यासों में नारी रूढ़ि मुक्त नारी, पृ.32-33
4. वही, पृ.34,35
5. डॉ० शंकर प्रसाद, सामाजिक उपन्यास और नारी मनोविज्ञान, पृ.44
6. हरदयाल, तरल नारीवाद, समीक्षा, अप्रैल जून, 2003, पृ.8
7. डॉ० शंकर प्रसाद, सामाजिक उपन्यास और नारी मनोविज्ञान, पृ.51
8. वही, पृ. 51
9. डॉ० मधु, संधु महिला उपन्यासकार, पृ.10
10. तसलीमा नसरीन, औरत के हक में, पृ. 78
11. डॉ० मधु संधु, विभिन्न मोर्चों पर खड़ी विधवाएं गगनांचाल, अप्रैल जून, 2001, पृ.66
12. रोहिणी अग्रवाल, हिन्दी कहानी में कामकाजी नारी, पृ.10

ब्रह्मा कुमारीज के अव्यक्त वाणी साहित्य में सत्यता की अवधारणा: आध्यात्मिक विमर्श के सन्दर्भ में

डॉ. हरदीप सिंह*

हिंदी साहित्य में आजकल अनेक विमर्श चल निकले हैं जैसे नारी विमर्श, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श आदि लेकिन मानव को समग्रता में देखने की अंतर्दृष्टि हिंदी साहित्य में अभी विकसित होने की अपेक्षा रखती है। सवाल यह है कि नारी विमर्श, दलित विमर्श आदि को आधार बना कर सैकड़ों शोध प्रबंध लिखने के बावजूद न तो दलितों के प्रति समाज की मानसिकता में बदलाव आया है और न ही नारी की स्थिति में ही कोई आमूलचूल परिवर्तन आया है। उसका एक कारण यह है कि सोच को बदलने का तरीका अभी किसी ने भी नहीं बताया है। हम जैसा सोच रहे होते हैं, उसका कारण क्या है, उसके पीछे कौन मान्यताएं, सूचनाएं और बीते हुए अनुभव काम करते हैं, इस पर मनोविज्ञान भी पूरी तरह प्रभावी ढंग से मार्गदर्शन नहीं कर पाया है। यदि साहित्य का उद्देश्य मानव को श्रेष्ठ मानव बनाना है तो हिंदी साहित्य में अभी काफी कुछ लिखना बाकी है।

ब्रह्माकुमारीज के अव्यक्त वाणी साहित्य में अभी हिंदी साहित्य जगत का ध्यान नहीं गया है। जबकि यह साहित्य सीधे मानव को सम्पूर्णता की ओर ले जाने वाला है, इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि यह 138 देशों के भिन्न धर्म, भिन्न भाषाएं, भिन्न संस्कृति, की दीवारों से निकाल कर, भौगोलिक सीमाओं के बंधनों को तोड़ कर लाखों लोगों को एकसूत्रता में निरंतर पिरोता चला जा रहा है, इस साहित्य में वह संजीवनी शक्ति है जो आत्मिक अनुभूति तो कराती ही है सबको दैवी संस्कृति के पुनर्निर्माण के लिए भी प्रेरित करती है। ऑस्ट्रेलिया, अमेरिका यूके आदि देशों में इस साहित्य के आधार पर मनोविज्ञान, पर्यावरण, आध्यात्मिकता और मूल्यों को लेकर शोध कार्य भी हो रहे हैं।

प्रस्तुत शोध लेख का विषय अव्यक्त वाणियों में सत्यता की अवधारणा की विषयवस्तु का परिचय हिंदी जगत को करवाना है। इसे आध्यात्मिक विमर्श माना जा सकता है। यह मानव को सम्पूर्णता की ओर ले जाने में लाईट हाऊस का काम करती हैं।

अव्यक्त वाणियों का अभिप्राय;

अव्यक्त वाणियां परमात्मा का आत्माओं के साथ सीधा संवाद है। इस संवाद के माध्यम से जनवरी 1969 से लेकर अब तक ब्रह्मा कुमारी राजयोगिनी दादी गुलजार के तन में समय समय पर परमात्म प्रवेशता के बाद उच्चारे गए महावाक्यों को अव्यक्त वाणी की संज्ञा दी जाती है। इसकी पुष्टि भारत के पूर्व राष्ट्रपति डॉक्टर अब्दुल कलाम की पुस्तक 'Ignited Minds' में उनके इस कथन से होती है कि अपने माऊंट आबू के निवास के दौरान मैं दादी गुलजार जी के तन में एक दैवी शक्ति से मिलाए उस समय भारत के दो अन्य विख्यात वैज्ञानिक भी उनके साथ थे।¹ इन्हें पढ़ते समय एक अद्भुत अतीन्द्रिय सुख का अनुभव होता है और यह महसूस होता है कि आत्मा में एक अलौकिक और आध्यात्मिक शक्ति का संचार हो रहा है और हम दिव्यता की ओर अग्रसर होते हुए चढती कला में जा रहे हैं। इन अव्यक्त वाणियों में मानव मूल्यों और आध्यात्मिक मूल्यों की धारणा के ऐसे सहज उपाय बताए गए हैं, जैसे आजतक किसी ने नहीं बताए। इन वाणियों में वह सतोप्रधानता की स्थिति प्राप्त करने की प्रेरणा और परमात्म शक्ति प्राप्त होती है, जिसे अब तक मुश्किल समझा जाता था। वास्तव में ये वाणियां आत्मा के अनादि और आदि स्वरूप का बोध कराती हैं। यह वाणियां एक ऐसा अमोघ कवच प्रदान करती हैं, जो आज के आतंकवाद साम्प्रदायिक हिंसा, पर्यावरण की चुनौतियां, भ्रष्टाचार, पापाचार, दुराचार, प्राकृतिक प्रकोपों में भी मानव को सुरक्षित रखता है।

ब्रह्मा कुमार जगदीश ने अव्यक्त वाणी के सम्पादकीय में लिखा है। "अव्यक्त वाणियां इस संसार के विवाद तथा इसके माया मोह से सदा ऊपर रहने वाले आनन्द स्वरूप, शक्तिस्वरूप, शांति स्वरूप एवं प्रेम स्वरूप परमपिता परमात्मा और साथ साथ अव्यक्त प्रजापिता ब्रह्मा की वाणियां हैं।"²

अव्यक्त का अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि इनमें कोई क्लिष्ट रहस्य है। अव्यक्त का अर्थ है इस व्यक्त देह से परे रहने वाला

*प्रोफेसर, हिंदी शोधकेंद्र एवं परास्नातक हिंदी विभाग, सतीश चन्द्र धवन सरकारी कॉलेज, लुधियाना

परमात्मा, जिसका अपना कोई शरीर नहीं होता क्योंकि परमात्मा का जन्म मां के गर्भ से नहीं होता, अपितु दिव्य अवतरण होता है। इसमें परमात्मा कुछ समय के लिए एक शरीर का आधार लेते हैं। राजयोगिनी दादी गुलजार जी के शरीर के माध्यम का आधार लेकर परमात्मा इन वाणियों का उच्चारण करते हैं। इनका सीधा प्रसारण 'पीस ऑफ माइंड टीवी' चैनल पर होता है।

अव्यक्त वाणियां मानव के लिए ज्ञान का वह खजाना है, जो मानव को डिवाइन इनसाइट प्रदान करता है, जो मानव को आत्म अनुभूति करवाता है और सर्व श्रेष्ठ दैवी संस्कृति के साथ जोड़ता है।

वर्तमान 21वीं सदी में सूचनाओं की आंधी में कन्फ्यूज्ड मानव भौतिक प्राप्ति को ही अपना लक्ष्य समझने की भ्रान्ति के कारण स्वयं को देह मानने के कारण आत्म विस्मृति की गहरी खोह के अन्धकार में डूबता जा रहा है। मानव मूल्यों का संकट अब ग्लोबल बन चुका है। केवल और केवल भौतिक प्राप्ति को अपना एकमात्र लक्ष्य समझने के परिणामस्वरूप मानव सुख, शांति, पवित्रता, प्रेम और आनंद के अपने मौलिक गुणों से दूर होता जा रहा है।

प्रस्तुत शोध लेख में सत्यता की अवधारणा पर ही केन्द्रित है और यही इसकी सीमा भी है।

जीवन में सच्चाई और सफाई इन दो शब्दों का प्रयोग किया जाता है। सच्चाई और सफाई शब्द की गहराई को अव्यक्त वाणियों में स्पष्ट किया गया है।

“सच्चाई जो करें वो ही वर्णन करें, जो सोचें वही वर्णन करें। बनावटी नहीं मनसा, वाचा, कर्मणा तीनों रूप में चाहिए। अगर मन में कोई संकल्प उत्पन्न होता है तो उसमें भी सच्चाई चाहिए। सफाई अन्दर में कोई भी विकर्म का किचड़ा न हो, कोई भी भाव स्वभाव। पुराने संस्कारों का भी किचड़ा नहीं हो, जो ऐसी सफाई वाला होगा वो ही सच्चा होगा।”¹²

सत्यता की विशेषताएं:

सत्यता सर्व प्रिय बनाती है हर व्यक्ति सर्व प्रिय बनना चाहता है, लेकिन सर्व प्रिय बनने के लिए वह कई बार झूठ और आडम्बर का आधार लेता है। झूठ और आडम्बर पर आधारित लोकप्रियता अल्पकाल के लिए प्राप्त हो सकती है लेकिन सदाकाल के लिए नहीं और जब सच सामने आता है तो ऐसे लोग मुंह छिपाते फिरते हैं, लेकिन सत्यता की धारणा से व्यक्ति सर्व प्रिय बन जाता है। अव्यक्त वाणी में लिखा है:

“जो सच्चा होगा वह सबका प्रिय होगा उसमें भी सबसे पहले तो वह प्रभु प्रिय होगा फिर दैवी परिवार का प्रिय होगा उसको कोई भी ऐसी नजर से नहीं देखेगा उसकी नजर उसकी वाणी में ऐसी परिपक्वता होगी जो कभी भी न खुद ही डगमग होगा न ही दूसरों को करेगा वह प्रिय होगा कई समझाते हैं कि हम तो सच्चे हैं परन्तु मुझे ऐसा समझा नहीं जाता है यह भी सच्चाई नहीं है सच्चाई कभी छिप नहीं सकती है और सच्चे सबके प्रिय बन जाते हैं। कई यह भी समझते हैं कि हम नजदीक नहीं हैं इसलिए प्रख्यात नहीं हैं, लेकिन जो सच्चे और पक्के होते हैं वे दूर होते हुए भी अपनी परख छिपा नहीं सकते।”¹³

सत्यता सदैव स्पष्ट और सरल होती है

आजकल साइंस ने भी ऐसी इन्वेंशन की है जो लिखा हुआ सभी मिट जाए, जो मालूम ही न पड़े। तो क्या साइलेंस की शक्ति से अपने रजिस्टर को रोज साफ नहीं कर सकते हो? इसलिए कहा गया है कि बाप के प्रिय या प्रभु प्रिय व दैवी लोक दोनों के प्रिय कौन बन सकते हैं। सच्चाई और सफाई वाले प्रभु प्रिय भी हैं और लोकप्रिय भी और अपने आप को भी प्रिय लगते हैं। सच्चाई सफाई को सभी पसंद करते हैं। रजिस्टर साफ रखना यह भी सफाई हुई नए और सच्ची दिल पर साहब राजी हो जाता है अर्थात् हिम्मत और याद से मदद मिल जाती है।¹⁴ स्वच्छता अर्थात् सच्चाई और सफाई, सच्चाई और सफाई तब होगी जब अपने स्वभाव को सरल बनाएंगे।¹⁵ जिसमें सच्चाई और सफाई है वह सदैव स्पष्ट होता है।¹⁶

यह सच्चाई सफाई सम्बन्धों में बहुत महत्त्व रखती है। “एक दो के प्रति दिल में बहुत सफाई हो, जैसे कोई बिल्कुल साफ चीज होती है तो उनमें सब कुछ स्पष्ट दिखाई देता है न वैसे ही एक दूसरे की भावना दृष्य भाव स्पष्ट दिखाई दें। जहां सच्चाई सफाई होती है वहां समीपता होती है। एक दो के स्वभाव मन के भाव दोनों में समीपता होनी चाहिए। स्वभाव की भिन्नता होने के कारण ही समीपता नहीं होती है। कोई रमणीक होगा तो समीपता होगी कोई अफिशियल होगा तो समीपता नहीं, लेकिन यहां तो सर्व गुण संपन्न सोलह कला सम्पूर्ण बनना है। यह कला भी कम क्यों समझो आपके ओरिजिनल संस्कार अफिशियल हैं, लेकिन समय संगठन रमणीकता लाता है तो यह भी कला होनी चाहिए जो स्वभाव को मिला सकें।”¹⁷

सत्यता की खुमारी से सिद्धांतों की सिद्धि;

सत्यता से रहम और रूहाब दोनों की समान रूप से धारणा हो जाती है, जैसे देवियों के पूजन में पावर की निशानी ललकार की होती

है। देवियों का पूजन जोर-शोर से किया जाता है। चुपचाप नहीं वैसे ही अपने सिद्धांतों को सिद्ध करने के लिए जब ललकार और गर्जना करेंगे तब सिद्धि की प्राप्ति होगी। इस सम्बन्ध में अव्यक्त वाणी में लिखा है;

“जब रिवाजी आत्माएं भी निर्भय होकर अपने सिद्धांतों को सिद्ध करने का कितना पुरुषार्थ करती हैं तो आप लोगों को सिद्धांतों को सिद्ध करने का कितना जोश होना चाहिए। आप वायुमंडल के होश में आ जाते हैं। रिवाजी करामात दिखाने वाले को देखो खुमारी कितनी होती है। अन्दर में समझते हैं कि यह अल्पकाल का है फिर भी खुमारी कितनी रखते हैं, लेकिन जो सत्य खुमारी है वह कितनी कमालियत दिखा सकती है। उसके आगे उन्हीं की खुमारी क्या है।”⁸

सत्यता से रहम व रूहाब की धारणा;

अव्यक्त वाणियां कहती हैं कि अभी अपने अन्दर फोर्स भरने का समय है। अभी आवश्यकता है शक्ति रूप बन आसुरी संस्कारों को धक्का खत्म करना, जैसे वह बलि चढ़ाते हैं तो पहले श्रृंगार करते हैं तो उसमें समय लगता है, लेकिन जब बलि चढ़ती है तो एक सैंकंड में श्रृंगार बहुत किया अब एक धक्का से वाहुमंडल से भी आसुरी संस्कारों को खत्म करने का फोर्स होना चाहिए, रहमदिल के साथ साथ शक्तिरूप का रूहाब भी होना चाहिए, जितना ही अति रूहाब, उतना ही अति रहम।

सत्यता से निर्णय शक्ति

अनेक बार मीडिया में इस बात को उठाया गया है कि धार्मिक क्षेत्र, राजनीतिक क्षेत्र, सामाजिक क्षेत्र, अथवा आम जीवन में गलत निर्णय लेने के कारण या सही समय पर सही निर्णय के कारण बहुत नुकसान उठाना पड़ता है। कई बार समाज व देश में तनाव की स्थिति भी सही निर्णय न लेने के कारण बन जाती है। सही निर्णय शक्ति न होने का कारण जीवन में सत्यता का न होना है। अव्यक्त वाणियों में कहा गया है की निर्णय शक्ति अपने जीवन में लाने के लिए बुद्धि की सच्चाई-सफाई चाहिए:

“कोई भी चीज जितनी साफ होती है तो उतना ही उसमें सब स्पष्ट दिखाई देता है। अर्थात् निर्णय सहज हो सकता है, लेकिन यहां सिर्फ सफाई ही नहीं, सफाई भी कौन सी, सच्चाई की जितनी बुद्धि की लगन में स्वच्छता अर्थात् सच्चाई और सफाई धारण की हुई है उतनी ही निर्णय शक्ति सहज आ जाएगी ...जितनी निर्णय शक्ति उतनी सफलता होगी।”⁹

स्पष्ट है कि विजयी आत्मा को यह दुविधा नहीं होगी कि सही हूं या गलत हूं, दूसरे का कहना अलग चीज है दूसरे कोई सही कहेंगे कोई गलत कहेंगे लेकिन अपना मन अर्थात् संकल्प शक्ति स्वच्छ होने के कारण हां और ना का अपने प्रति व दूसरों के प्रति निर्णय सहज स्पष्ट और सत्य होगा। इसलिए पता नहीं की दुविधा नहीं होगी सत्य निर्णय होने के कारण मन में जरा भी मूँझ नहीं होगी सदैव मौज होगी खुशी की लहर होगी।

सच्चे दिल पर साहब राजी

सत्यता पर चलने वाले पर परमात्मा भी राजी रहता है। इसी का गायन है ‘सच्चे दिल पर साहब राजी’। इस सम्बन्ध में अव्यक्त वाणी कहती है: कोई शास्त्रार्थ करते शास्त्रों में ही रह गए कोई महात्मा बन आत्मा और परमात्मा की छोटी सी भ्रान्ति में अपने भाग्य से रह गए बड़े-बड़े वैज्ञानिक खोजना करते उसी में खो गए राजनीतिज्ञ योजनाएं बनाते बनाते रह गए भोले भक्त कण-कण में ढूंढते ही रह गए लेकिन पाया किन्होंने भोलेनाथ के भोले बच्चों ने बड़े दिमाग वालों ने नहीं पाया लेकिन सच्ची दिल वालों ने पाया इसलिए कहावत है: ‘सच्चे दिल पर साहब राजी’, (अव्यक्त वाणी 16 अप्रैल 1984)

“सत्य को ही भगवान कहते हैं बाप-दादा; प्रजापिता ब्रह्मा और परमात्मा शिव सुनाते भी सत्यनारायण की कथा हैं और स्थापना भी सतयुग की करते हैं तो बाप; परमात्मा जो सत बाप, सत टीचर, और सतगुरु का प्रैक्टिकल पार्ट बजाते हैं। क्या प्रिय लगता है सच्चाई जहां सच्चाई है अर्थात् सत्यता है वहां स्वच्छता व सफाई अवश्य होती है।”¹⁰

यह सच्चाई और सफाई व्यक्ति के सम्बन्ध और सम्पर्क में तो रहती ही है, लेकिन उसके हर संकल्प और हर बोल में भी सच्चाई दिखाई देगी।

‘सत अर्थात् सत्य भी, सत अर्थात् सफल भी अर्थात् कोई भी संकल्प व बोल व्यर्थ व असाधारण नहीं होगा सत्यता की धारणा करने वाला व्यक्ति परमात्मा का राईट हैंड बन जाता है। राईट हैंड की विशेषता सदा स्वच्छ और अर्थात् शुद्ध और श्रेष्ठ है, जैसे कोई भी श्रेष्ठ व शुद्ध कार्य शरीर के राईट हैंड द्वारा ही किया जाता है। ऐसे ही बाप दादा (परमात्मा) के सहयोगी राईट हैंड सदा बोल में कर्म में और सम्पर्क में श्रेष्ठ और शुद्ध अर्थात् प्योर रहते हैं अर्थात् सदा श्रेष्ठ कार्य अर्थ स्वयं को निमित्त समझ कर चलते हैं, जैसे भुजाओं द्वारा कार्य करने वाली शक्ति आत्मा है। भुजाएं करनहार हैं और आत्मा करावनहार है ऐसे ही राईट हैंड सहयोगी सदैव अपने करावनहार बाप (परमपिता परमात्मा) को स्मृति में रखते हुए निमित्त करनहार बनते हैं। स्वयं को करावनहार नहीं समझते इसलिए उनके हर कर्म में

न्यारेपन, निरहंकारीपन और नम्रतापन के नव निर्माण की विशेषता भरी हुई होगी। हर सैकेंड हर संकल्प सम्पूर्ण पवित्र अर्थात स्वच्छ होगा जिसको सच्चाई और सफाई कहते हैं।¹¹¹

जो सदा बाप (परमात्मा) के साथ हैं उसके आगे परिस्थिति भी स्व स्थिति के आधार पर परिवर्तन हो जाती है। पहाड़ भी राई बन जाता है। ऐसे अनुभव करेंगे जैसे कई बार यह सब बातें पार कर चुके हैं। नथिंग न्यू नई बात में घबराना होता है लेकिन नथिंग न्यू ऐसा अनुभव करने वाले सदा कमल पुष्प के समान रहते हैं, जैसे पानी नीचे होता है कमल ऊपर रहता है इसी प्रकार परिस्थिति नीचे है, हम ऊपर हैं, नीचे की बात नीचे, अव्यक्त वाणी में लिखा है कि कभी भी कोई बात आए तो सोचो कि अल्माईटी अर्थात् हमारे साथ है छ आलमाईटी के आगे कितनी भी बड़ी परिस्थिति चींटी के समान है।

सत्यता अर्थात समर्पण

सत्यता का एक अर्थ समर्पण भी है। अगर कोई सच्चे दिल से स्वयं को परमात्मा के आगे समर्पित करता है, उसके विषय में अव्यक्त वाणी में लिखा है।

“सब खजानों को जमा करने का साधन है स्वच्छ बुद्धि और सच्ची दिल प्योर बुद्धि का आधार है बुद्धि द्वारा परमात्मा को जान बुद्धि को भी उसके आगे समर्पण करना, समर्पण करना अर्थात मेरापन मिटाना, शूदर्पन की बुद्धि का समर्पण करना अर्थात दिव्य बुद्धि का लेना, देना ही लेना है। यह एक जबरदस्त आध्यात्मिक नियम है, पहले संकल्प द्वारा सब कुछ देना है कि सबकुछ परमात्मा का है मेरा नहीं, मेरेपन का अधिकार छोड़ना इसी को समर्पण कहा जाता है, इसी को ही नष्टोमोहा की स्टेज कहा जाता है।¹¹²

सत्यता अर्थात रियलिटी की रॉयलटी;

रॉयलटी अर्थात रियलिटी अर्थात सत्यता, जैसे आत्मा का अनादि स्वरूप सत है, सत अर्थात अविनाशी और सत्य है जैसे परमात्मा की महिमा में सत्यम, शिवं, सुन्दरम का गायन है, गॉड इज ट्रुथ कहा जाता है ऐसे रॉयलटी अर्थात रियलिटी, सत्यता जरा भी बनावटी या मिलावटी न हो रॉयल आत्माओं की वृत्ति, दृष्टि, बोल और चलन, सब सत्य होंगी। ऐसे नहीं कि वृत्ति में एक बात हो बोल में दूसरा बनावटी भाव हो इसको रॉयलटी और रियलिटी नहीं कहा जाता है, कई लोग ऐसी अच्छी बात बना लेते हैं जो सच को झूठ और झूठ को सच सिद्ध कर देते हैं। इसको कहा जाता है अन्दर एक बहार दूसरा 19 दिसम्बर 1978 की अव्यक्त वाणी में स्पष्ट लिखा है- सत्यता अर्थात रियलिटी ही रायलटी है। इससे बड़ी रायलटी और कोई नहीं है। सबसे पहले अपने असली स्वरूप की सदा स्मृति है तो स्वरूप की रियलिटी से इस स्थूल सूरत में भी अलौकिक रायलटी नजर आएगी, जो भी देखेंगे उनके मुख से यही निकलेगा कि यह इस दुनिया के नहीं हैं लेकिन अलौकिक दुनिया के रिश्ते हैं अथवा यह कोई स्वर्ग का देवता उतरा है दूसरी बात स्मृति में भी रियलिटी अर्थात एक बाप (परमात्मा) दूसरा न कोई इस रियलिटी की स्मृति से कर्म में व बोल में रायलटी दिखाई देगी हर कर्म सत्य अर्थात श्रेष्ठ होने के कारण जो भी सम्पर्क में आएंगे। उन्हें हर कर्म में बाप समान चरित्र अनुभव होंगे। हर बोल में बाप के समान अर्थारिटी और प्राप्ति की अनुभूति होगी अर्थात हर बोल समर्थ अर्थात फल देने वाला होगा जिसको कहा जाता है सत वचन ऐसे कर्म और बोल में रियलिटी की रायलटी होगी।

सत्यता पारस के समान;

सत्यता पारस के समान है, आपके सत्यता की शक्ति आत्मा को प्रकृति को, समय को, सर्व सामग्री को, सर्व सम्बन्धों को, संस्कारों को, आहार को, व्यवहार को, सबको सतोप्रधान बना देती है। तमोगुण का नाम निशान समाप्त कर देती है। सत्यता की शक्ति आपके नाम को, रूप को अविनाशी बना देती है। आधा कल्प चैतन्य रूप, आधा कल्प चित्र रूप।

सम्पर्क अर्थात संग रीयल होने के कारण पारस का कार्य करेगा। जैसे पारस लोहे को परिवर्तन कर देता है ऐसे रियलिटी की रायलटी वाली आत्मा का संग असमर्थ को समर्थ बना देगा अर्थात नकली को असली बना देगा। आधा कल्प प्रजा आपका नाम गाएगी, आधा कल्प भक्त आपका नाम गाएंगे। आपका बोल सत वचन के रूप में गाया जाता है, आजकल भी एक आध वचन लेने से अपने आप को महान अनुभव करते आपके सत्यता की शक्ति से आपका देश भी अविनाशी बन जाता है, वेश भी अविनाशी बन जाता है, आधा कल्प देवताई वेश में रहेंगे, आधा कल्प देवताई वेश का यादगार चलेगा, अब अंत तक भी भक्त लोग आपके चित्रों को भी ड्रेस से सजाते रहते हैं। कर्तव्य और चरित्र यह सब सत हो गए छ कर्तव्य का यादगार भागवत बना दिया है। चरित्रों की अनेक कहानियां बना दी हैं। यह सब सत्य हो गए किस कारण सत्यता की शक्ति के कारण अव्यक्त वाणी

ऐसी आत्मा के रीयल और रायल नयन अर्थात दिव्य दृष्टि जादू की वस्तु समान काम करेंगे अभी अभी मुक्ति की स्टेज की अनुभूति, अभी अभी जीवन मुक्ति की स्टेज की अनुभूति, अभी अभी लास्ट अंतिम जन्म, अभी अभी फर्स्ट जन्म का साक्षात्कार

कराएंगे, अभी अभी अति दुखी स्टेज, अभी अभी अति सुखमय जीवन का अनुभव कराएंगे, हम सो, सो हम, के जादू के मन्त्र का अनुभव कराएंगे।

परमात्म प्रत्यक्षता का आधार है सत्यता;

परमात्म प्रत्यक्षता का आधार सत्यता है। सत्यता ही प्रत्यक्षता है। एक स्वयं की स्थिति की सत्यताएं दूसरी सेवा की सत्यता, सत्यता का आधार है स्वच्छता और निर्भयता। इन दोनों धारणाओं के आधार से सत्यता द्वारा ही प्रत्यक्षता होगी किसी भी प्रकार की अस्वच्छता अर्थात् जरा भी सच्चाई सफाई की कमी है तो कर्तव्य की सिद्धि प्रत्यक्षता हो नहीं सकती।

सत्यता से सतोप्रधानता;

28 दिसंबर 1978 की अव्यक्त वाणी में सत्यता के जो मानदंड बताए हैं, वे इतने नवीन, महीन और अद्भुत हैं जो मानव व्यवहार के लिए नए मानक स्थापित करते हैं।

सच्चाई और सफाई अर्थात् मैं जो हूँ जैसा हूँ सदा उस ओरिजनल सत्य स्वरूप में स्थित होना अर्थात् आत्मा के ओरिजनल सतोप्रधान स्वरूप में स्थित रहना है। रजो और तमो स्टेज सच्चाई की ओरिजनल स्टेज नहीं यह संगदोष की स्टेज है किसका संग! माया अथवा रावण का आत्मा की सत्यता सतोप्रधानता है ए तो पहली यह सच्चाई है दूसरी बात, बोल और कर्म में भी सच्चाई अर्थात् सत्यता की स्टेज सतोप्रधानता है या अभी रजो और तमो मिक्स है सत्यता नैचुरल संस्कार रूप में है या पुरुषार्थ से सत्यता की स्टेज को लाना पड़ता है। जैसे बाप (परमात्मा) शुद्ध को दूथ अर्थात् सत्य कहते हैं, वैसे ही आत्मिक स्वरूप की वास्तविकता भी सत्य अर्थात् दूथ है। तो सत्यता सतोप्रधानता को कहा जाता है, ऐसी सच्चाई हे सफाई अर्थात् स्वच्छता, जरा भी, संकल्प द्वारा भी अशुद्ध अर्थात् बुराई को व अवगुण को टच नहीं करें। अगर बुद्धि व संकल्प द्वारा भी स्वीकार किया अर्थात् धारण किया तो सम्पूर्ण सफाई नहीं कहेंगे। जैसे स्कूल में भी कोई प्रकार की गंदगी को देखना भी अच्छा नहीं लगता, देखने से किनारा कर देंगे, ऐसे बुराई को सोचना भी बुराई को टच करना हुआ सुनना, बोलना और करना यह तो स्वयं ही बुराई को धारण करना है। संकल्प मात्र भी अशुद्धि न हो इसको कहा जाता है सच्चाई और सफाई अर्थात् स्वच्छता।

सत्यता से निर्भयता;

सत्यता की शक्ति की निशानी है कि वह सदा निर्भय होगा। जैसे मुरली में सुना है सच तो विटो नच अर्थात् सत्यता की शक्ति वाला सदा बेफिक्र निश्चिन्त होने के कारण, निर्भय होने के कारण खुशी में नाचता रहेगा जहां भय है, चिंता है, वहां खुशी में नाचना नहीं, अपनी कमजोरियों की भी चिंता होती है अपने संस्कार व संकल्प कमजोर हैं तो सत्य मार्ग होने के कारण मन में अपनी कमजोरी का चिंतन चलता जरूर है। कमजोरी मन की स्थिति को हलचल में जरूर लाती है चाहे कितना भी अपने को छिपाए व आर्टिफीसियल समय प्रमाण, परिस्थिति प्रमाण बाहर से मुस्कराहट भी दिखाए लेकिन सत्यता की शक्ति स्वयं को महसूसता अवश्य कराती है। बाप (परमात्मा) से और अपने आप से छिप नहीं सकता। दूसरों से छिप सकता है। चाहे अलबेलेपन के कारण अपने आप को भी कभी कभी महसूस होते हुए भी चला लेवे, फिर भी सत्यता की शक्ति मन में उलझन के रूप में, उदासी के रूप में, व्यर्थ संकल्प के रूप में आती जरूर है, क्योंकि सत्यता के आगे असत्य टिक नहीं सकता। जैसे भक्ति मार्ग में चित्र दिखाया है सागर के बीच सांप पर नाच रहे हैं, हैं सांप ए लेकिन सत्यता की शक्ति से सांप भी नाचने की स्टेज बन जाते हैं कैसी भी भयानक परिस्थिति हो, माया के विकराल रूप हों, सम्बन्ध सम्पर्क वाले परेशान करने वाले हों, वायुमंडल कितना भी जहरीला हो, लेकिन सत्यता की शक्ति वाला इन सब को खुशी में नाचने की स्टेज बना देता है। (अव्यक्त वाणी ए 26 दिसंबर ए1984)।

इसी वाणी में आगे लिखा है, “सत्यता की शक्ति वाले कभी भी डूब नहीं सकते, सत्य की नैय्या डगमग खेल सकती है लेकिन डूब नहीं सकती। डगमगाना भी खेल अनुभव करेंगे, आजकल खेल भी जान-बूझकर ऊपर नीचे हिलने के बनाते हैं नए है गिरना लेकिन खेल होने के कारण विजयी अनुभव करते कितनी भी हलचल होगी लेकिन खेल करने वाला यह समझेगा कि मैंने जीत प्राप्त कर ली, ऐसे सत्यता की शक्ति अर्थात् विजयी भव के वरदानी अपने को समझाते हो अगर अब तक भी कोई हलचल है, भय है तो असत्य के साथ सत्य अभी रहा हुआ है। इसलिए हलचल में ला रहा है, तो चैक करो संकल्प, दृष्टि, वृत्ति, बोल, और सम्बन्ध सम्पर्क में सत्यता की शक्ति अचल है।” (अव्यक्त वाणी ए 26 दिसंबर ए1984)

सत्यता की धारणा करने वाला व्यक्ति सभी प्रकार के भयों से मुक्त हो जाता है। 28 दिसंबर 1978 की अव्यक्त वाणी में इसका अति सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक मार्गदर्शन किया है। पहली बात, अपने पुराने तमोगुणी संस्कार पर विजयी बनने की निर्भयता, क्या करूं, होता नहीं, बहुत प्रबल है, यह भी निर्भयता नहीं। दूसरी बात, अन्य आत्माओं के सम्पर्क और सम्बन्ध में स्वयं के संस्कार मिलाना और

अन्य के संस्कार परिवर्तन करना इसमें भी निर्भयता हो, पता नहीं चल सकेगा, निभा सकेगा, मेरा मानेंगे व नहीं मानेंगे इसमें भी अगर भयता है तो इसको सम्पूर्ण निर्भयता नहीं कहेंगे।

तीसरी बात, विश्व की सेवा में अर्थात् सेवा के क्षेत्र में वायुमंडल व अन्य आत्माओं के सिद्धांतों की परिपक्वता देखते हुए संकल्प में भी उन्हीं की परिपक्वता व वातावरण – वायुमंडल का प्रभाव पड़ना, यह भी भयता है। यह बिगड़े जाएंगे, हंगामा हो जाएगा, हलचल हो जाएगी इससे भी निर्भयता हो। “जब आत्म ज्ञानी आप तना द्वारा निकली हुई शाखाएं, वह भी अपनी अल्पज्ञ मान्यताओं में निर्भयता का प्रभाव डालती हैं। अपनी अल्प मत को प्रत्यक्ष करने में निर्भय होती हैं। झूठ को सच करके सिद्ध करने में अटल और अचल रहती हैं तो सर्वज्ञ बाप के श्रेष्ठ मत व अनादि आदि सत्य को प्रत्यक्ष करने में संकोच करना भी भय है घ शाखाएं हिलने वाली होती हैं, तना अचल होता है। तो शाखाएं निर्भय हों और तना में संकोच के भय की हलचल हो ए इसको क्या कहेंगे।”¹³

उपर्युक्त उद्धाहरण में ना और शाखाएं शब्द का प्रयोग सृष्टि रचना के सम्बन्ध में किया गया है, गीता में इस सृष्टि की तुलना कल्प वृक्ष से करते हुए भगवानुवाच है कि यह सृष्टि एक उलटे वृक्ष के समान है और मैं इसका चैतन्य बीज ऊपर परमधाम में रहता हूं। इस हिसाब से इस सृष्टि रूपी वृक्ष का तना सृष्टि के आदि की सतोप्रधान दुनिया, जिसे सतयुग या स्वर्ग कहते हैं वहां मनुष्य सर्व गुण सम्पन्न, 16 कला सम्पूर्ण, सम्पूर्ण निर्विकारी, मर्यादा पुरुषोत्तम और अहिंसा परमोधर्म होने के कारण देवी देवता कहलाते थे, का प्रतीक है, इस वृक्ष की शाखाएं विभिन्न धर्म वाली आत्माएं हैं।

निष्कर्ष;

सत्यता सर्वप्रिय बनाती है। सत्यता सदैव सरल व स्पष्ट होती है। सत्यता की खुमारी से सिद्धान्तों की सिद्धि होती है। सत्य से निर्णय शक्ति प्रभावित होती है। सत्यता समर्पण का ही प्रतिरूप है। सत्य से ही परमात्मा प्रत्यक्षता, प्रधानता तथा निर्भयता का प्रसार होता है। ब्रह्मकुमारीज के अव्यक्त वाणी साहित्य में सत्यता के माध्यम से आध्यात्मिक विमर्श का चिंतन किया गया है।

सन्दर्भ सूची:

1. ए.पी.जे. अब्दुल कलामए इग्नार्ड माइंडस, पेंगुइन 2003
2. जगदीश (सम्पादक) 1975, अव्यक्त वाणी, मार्सेट अबू रू ब्रह्माकुमारीज
3. अव्यक्त बापदादा, अव्यक्त वाणी 28-09 -1969
4. वही
5. वही 18 - 7 - 1971
6. वही 6 -12- 1969
7. वही 19 - 10 -1971
8. वही 9 -10 - 1971
9. वही 24 - 6 - 1974
10. वही 2 - 9 - 1975
11. वही 6- 2-1976
12. वही 29 - 5 -1977
13. वही 28-12-1978

राहुल सांकृत्यायन की जीवन यात्रा: मधुर तित्त जीवनानुभवों का पारिस्थितिक विश्वकोश

डॉ. किरण ग़ोवर*

सारांश:-आत्मकथा जीवन की कलात्मक अनुकृति होने के कारण कथानायक के विगत जीवन का पुनरावलोकन है। जिसमें मुख्य घटनाओं का विवरण यथार्थ भूमि पर करके आत्मनिरीक्षण करता है। वर्तमान बोध और अतीत बोध परस्पर जब अनुकूल बन जाते हैं तब लेखक का जीवनदर्शन स्थिर बनता है। विश्वसनीयता व यथार्थ-बोध साहित्यकारों की आत्मकथा की विशिष्ट उपलब्धि है। साहित्यकारों की आत्मकथाएं प्रमाता के अन्तःकरण पर विशेष छाप छोड़ती हैं। बहुमुखी व्यक्तित्व से सम्पन्न राहुल जी का जीवन आत्मकथा विधा के अनुकूल महत् विषय हैं। यह रचना 'मेरी जीवन यात्रा' पांच खण्डों में यायावर साहित्यकार की आत्मकथा है राहुल जी को नियमित शिक्षा का अवसर प्राप्त न होले पर भी स्वाध्याय से भारतीय संस्कृति, इतिहास, वेद, दर्शन और विश्व की अनेक भाषाओं में पांडित्य पाया। इस आत्मकथा में राहुल जी ने प्रेम पात्र की आकांक्षा, आकर्षण, संस्पर्श करने की अभिलाषा, बिछुड़न की तड़प को लोला के प्रति प्रकट करके दाम्पत्य पूर्व सम्बन्धों का मार्मिक अभिव्यंजन किया है। जगत की भिन्न-भिन्न गतियों व विचित्रताओं को अंकित करने की चेष्टा की है। पारिवारिक जीवन का विस्तारण करते हुए कमला के साथ आत्मीय सम्बन्धों को बेबाकी से निरूपित करके पुत्र जन्म की घटना, सन्तान के साहचर्य भाव से पारस्परिक प्रेम व समर्पण को जीवन अनुभवों के रूप में प्रकट करके अनजानी दिशाओं को पाठकों से परिचित करवाया है वैज्ञानिक की भांति अपने जीवन की प्रयोगशाला में निज को अवगत करवाना राहुल जी कास्तुत्य प्रयास है। वैचारिक भूमि पर राहुल जी की दृष्टि गत्यात्मक रही है। स्वच्छन्द विचारों की धारणा करना राहुल जी के व्यक्तित्व की महती विशेषता है, इसी कारण राहुल जी ने अपने व्यक्तित्व के विभिन्न रूपों यथा यायावर, राजनीतिक, दार्शनिक, साम्यवादी आदि का सत्यता से आलेखन किया है। उनकी जीवन-यात्रा देश-विदेश की राजनीतिक, सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न वातावरण का वास्तविक विश्वकोश है।

बीज शब्द:-राहुल सांकृत्यायन, जीवन-यात्रा, आत्मकथा, लोला, कमला, यायावर।

मूल प्रतिपादन:-कल्पनाप्रवण साहित्य स्वानुभूत की परानुभूति के रूप में अभिव्यक्ति है और आत्मकथा स्वानुभूत की स्वानुभूति के रूप में अभिव्यक्ति है। साहित्य की विभिन्न विधाओं में आत्मकथा विगत जीवन का पुनरावलोकन है। जब विगत जीवन के अनुभव और अनुभूतियाँ साहित्य स्रष्टा को इतना उद्वेलित व विवश कर देती हैं कि उन्हें अपने अन्तर्मन के बाहर उड़ेल देने के अतिरिक्त और कोई विकल्प शेष नहीं रह जाता, प्रायः तभी श्रेष्ठ आत्मकथाएं अथवा गीतों की पंक्तियां जन्म लेती हैं।¹ तब पाठक या प्रमाता आत्मकथा में वर्णित अनुभवों और अनुभूतियों का अपने जीवन के किसी अंश से साम्य पाता है, तो रोमांचित एवं उद्वेलित होता है। आत्मकथा एक जीवन बिन्दू पर पहुंचे कथानायक के लिए अपने विगत जीवन का पुनरावलोकन है। सुप्रसिद्ध अंग्रेजी विवेचक विलियम हेनरी हडसन ने अपनी पुस्तक 'एन इंट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ लिटरेचर' में लिखा है- 'साहित्य के सूत्र हमें जीवन में मिलते हैं और वैयक्तिक जीवन में लौकिक रूचि के गूढ़ तत्व निहित हैं।'² आत्मकथा जीवन की कलात्मक अनुकृति है। जिस प्रकार जन्म और मृत्यु की परिधि में बंधे जीवन का प्रारम्भ और अन्त रहता है, उसी तरह आत्मकथा भी आरम्भ और परिसमाप्ति के बीच निबद्ध रहती है। वास्तव में आत्मकथा लेखक के जीवन की दुर्बलताओं, सबलताओं आदि का वह सन्तुलित और व्यवस्थित चित्रण है, जो उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व के निष्पक्ष उद्घाटन में समर्थ होता है।³ आत्मकथा साहित्य का वह प्रकार है, जिसमें लेखक अपने जिये हुए जीवन का, मुख्य घटनाओं का विवरण सत्य एवं यथार्थ की भूमिका पर आत्मनिरीक्षण एवं परीक्षण करते हुए प्रस्तुत करता है।⁴

वर्तमान बोध और अतीत बोध परस्पर जब अनुकूल बन जाते हैं और लेखक के अतीत बोध के मध्य वर्तमान बोध को उभारने में संलग्न होने पर उसका जीवनदर्शन स्थिर बनता है। इस दृष्टि से वर्तमान बोध का परिपक्व हो जाना ही एक नवीन अन्तर्दृष्टि का परिचायक है।⁵ आत्मकथा में जीवन के स्वरूप को निश्चित करने में परिवेश की क्या भूमिका है, इस पर भगवतशरण भारद्वाज जी ने लिखा है-

*एसो.प्रो, स्नातकोत्तर, हिन्दी विभाग, डी.ए.वी.कॉलेज, अबोहर

“परिवेश के भीतर प्रगति और जड़ता का अन्तर्द्वन्द्व होता रहता है। आत्मकथाकार दोनों ही प्रकार के तत्त्वों पर विक्षेप कर अपने जीवन में उनके सम्पादित भूमिका का अंकन करते हैं।¹⁶

आत्मकथा निजी स्मृतियों को अंकित करने की आकांक्षा है तथा दूसरी ओर विसंगतियों से भरे संसार में निजी ‘स्व’ को प्रक्षेपित करने का प्रयास भी अन्ततः आत्मकथा को ‘अहम की यात्रा’ से विवेचित करना उचित है।¹⁷ साहित्यकारों ने अपने जीवन के प्रच्छन्न अनुभव पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किए हैं। साहित्यकारों की आत्मकथाएं तथ्याश्रिता के आधार पर अपना पृथक् रूपभेद निर्मित करती हुई प्रमाता के अन्तःकरण पर विशेष छाप छोड़ती हैं। विश्वसनीयता व यथार्थ-बोध साहित्यकारों की आत्मकथा की विशिष्ट उपलब्धियां हैं। 8सौद्देश्यपूर्ण आत्मकथाओं की रचना व्यष्टि को दृष्टि में न रखकर समष्टि हेतु रची जाती हैं।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन की ‘मेरी जीवन यात्रा’ (पांच खण्डों) आत्मकथा परक कृति है। यह रचना यायावर साहित्यकार की आत्मकथा है। यह उनके मधुर कटु जीवन अनुभवों की रोचक कथा है तथा इसमें उनके सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों के सहृदयतापूर्ण चित्र अंकित हैं। आत्मकथा शिशु की चिल्लाहट से आरम्भ होकर वृद्ध के विश्रान्तिमय जीवन के साथ समाप्त होती है।¹⁹ राहुल जी की ‘मेरी जीवन यात्रा’ उनके जीवन का इतिहास है। इस आत्मकथा में रोचकता है, यह रोचकता उनके व्यक्तित्व में है, उनकी यथार्थ एवं ईमानदारी से परिपूर्ण अभिव्यक्ति में है। यही ईमानदारी आत्मकथा की सत्यता की कसौटी है। अपने वृत्त के लेखन में राहुल जी ने ईमानदारी का आश्रय लिया है, गुण-दोषों के वर्णन में सत्यता व यथार्थता का सर्वत्र परिचय देते हैं। आत्मकथा में लेखक के निजी व्यक्तित्व के साथ-साथ उसके सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों के जीवन की संक्षिप्त झांकी रूपायित होती है। ‘मेरी जीवन यात्रा’ में राहुल जी ने तटस्थ होकर ‘स्व’ का विश्लेषण किया है। अपनी अव्यावहारिकता के विषय में राहुल स्पष्ट लिखते हैं- “अव्यावहारिकता मेरे में होनी चाहिए क्योंकि सारे जीवन व्यवहार के पथ का अनुसरण नहीं किया।”¹⁰ अपनी जीवन यात्रा के उद्देश्य के विषय में राहुल जी का कथन है- “मेरी जीवन यात्रा मैंने क्यों लिखी ? मैं बराबर इसे महसूस करता रहा कि ऐसे ही रास्ते से गुजरे हुए दूसरे मुसाफिर यदि अपनी जीवन यात्रा को लिख गये होते तो मेरा बहुत लाभ होता..... ज्ञान के ख्याल से नहीं, समय के परिमाण में भी। मैं मानता हूँ कि जीवन यात्राएं बिल्कुल एक सी नहीं हो सकती तो इसमें सन्देह नहीं कि सभी जीवनों को उस आन्तरिक और बाह्य विश्व की तरंगों में तैरना पड़ता है।”¹¹ वैज्ञानिक की भांति अपनी जीवन की प्रयोगशाला में सत्य के प्रयोगों को दर्शाते हुए एवं चरम सत्य की उपलब्धि से निज को प्रकाशित कर उससे अवगत करवाने के लिए राहुल जी का प्रयास स्तुत्य है।¹²

प्रकृति को जगत का मूल उपादान कारण माना गया है। नर और नारी प्रकृति व पुरुष की भांति एक दूसरे के पूरक हैं। पुरुष की जीवन साधना में स्त्री सबसे बड़ी सहायक है। काम की साधना में स्त्री का सहयोग सृष्टि की अद्भुत विभूति है। स्त्री के प्रति पुरुष का जैविक, मानसिक आकर्षण सार्वजनीन एवं सार्वकालिक सत्य है। स्त्री पुरुष एक-दूसरे के सर्वोत्तम मित्र है, मित्रता तो सब सम्बन्धों का सार है। स्त्रियों के लिए विद्वानों ने यहां तक कह दिया है कि स्त्रियां तो महानतम प्रेमिकाएं हैं जो प्रतिदान में प्रेम पाने की भी आवश्यकता नहीं समझती। राहुल जी ने ‘मेरी जीवन यात्रा’ (खण्ड 2) के ‘लंका में 19 साल’ उपशीर्षक के अन्तर्गत ‘विद्यालंकार विहार’ में अध्ययन अध्यापन करते हुए एक सुन्दर तरुणी के प्रति अपने सहज आकर्षण को निस्संकोच वर्णित किया है- ‘विद्यालंकार विहार के बाहर सड़क के दूसरी तरफ एक गृहस्थ का घर था। उसमें तरुण कन्या रहती थी। एकाध बार हमारी आंखें चार हुई, इसके बाद मैं देखने लगा कि जब भी मैं उधर से गुजरता था, धर्मोपदेश सुनने या पूजा करने विहार में आती तो मेरी ओर निस्संकोच हो दूसरों से दृष्टि बचाकर देखती। मेरा हृदय भी उधर आकर्षित हुआ क्योंकि वह गौरी और सुन्दर थी इसमें कोई शक नहीं कि कुमारी होने से उसके साथ ब्याह करने में कोई बाधा नहीं हो सकती थी किन्तु ब्याह का नाम लेते ही मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं’।¹³

प्रेम और काम अलग-अलग भाव होते हुए भी कभी-कभी इतने एकाकार हो जाते हैं कि उनका विश्लेषण असंभव लगने लगता है। दो व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्धों के मूल में प्रेम का भाव है या काम का। राहुल जी ने ‘मेरी जीवन यात्रा’ खण्ड-2 के ‘नेपाल में अज्ञातवास’ शीर्षक के अन्तर्गत तत्परता से अपनी भावनाओं का सहज विश्लेषण किया है- ‘साबुन लेने गया तो उसने नंगे शब्दों में और आकर्षित चाहा लेकिन मेरे लिए वहाँ दूसरा ही आकर्षण था जिसके लिए मैं अपने आप को जोखिम में नहीं डालना चाहता था।’¹⁴

स्त्री पुरुष के बीच प्रेम भाव, काम भाव का ही परिष्कृत रूप है। समाज में व्यवस्था व समानता की दृष्टि से एक विवाह की प्रथा के पालन पर बल दिया जाता है परन्तु कई देशों में विवाह की एकरस्ता और असन्तुष्टि के परिणामस्वरूप प्रयोगात्मक विवाह या समूह विवाह की आवश्यकता अनुभव होती है। राहुल सांकृत्यायन जी ने ‘मेरी जीवन यात्रा’ खण्ड-2 के अन्तर्गत ‘नेपाल में अज्ञातवास’ उपशीर्षक में इसी भावना का परिष्कृत स्वरूप निरूपित किया है- “सुमति ने मेरे हाथ को दबाया और कान में कहा, ‘चुप, दोनों पति-

पत्नी हैं, मैंने यहाँ तो था कि तिब्बत में बड़े भाई की शादी होती है तो वह सभी की पत्नी होती है।'15

प्रेम पात्र को देखने की कामना, छूने की अभिलाषा, प्राणों में बसाने की उत्कंठा स्वाभाविक है। किसी स्त्री के प्रति आकर्षण विदेश में अत्यधिक शरणागत सिद्ध होता है। राहुल जी ने 'मेरी जीवन यात्रा' खण्ड दो के 'सोवियत भूमि में दूसरी बार' उपशीर्षक के अन्तर्गत इसी उत्कंठा का स्वाभाविक प्रत्यंकन किया है- 'इन्स्टीच्यूट में आज मैंने अपने विभाग की सैक्रेटरी लोला को देखा। वह फ्रेंच, अंग्रेजी, रूसी मंगोल बोल सकती थी। उन्होंने कहा कि मेरी अंग्रेजी बहुत कमज़ोर है नहीं तो मैं रूसी पढ़ाती। मैंने कहा- "तुम मुझे इसी अच्छी तरह पढ़ा सकती हो क्योंकि तुम्हें ज़्यादातर किसी को अपना माध्यम बनाना पड़ेगा। मैं तुम्हें संस्कृत पढ़ाऊंगा और तुम मुझे रूसी पढ़ाया करो"।'16

स्त्री पुरुष का सहज आकर्षण उत्कंठा, अभिलाषा व कामना में स्वतः परिणित होने लगता है। राहुल जी ने 'मेरी जीवन यात्रा' खण्ड दो के अन्तर्गत लोला से मिलने की आतुरता व मिलन की संभावना व मिलनावस्था को इस प्रकार विस्तारित किया है- 'एक बार लोला रास्ते में कहीं बर्फ में गिर गई। उसने आ कर इस बात को कहा मैंने एक श्लोक पढ़ा-काले पयोध्राणामपतितया नैव शक्यते स्थातुम्।'17

"उस दिन शाम को आ ? श्रेरवात्स्की के घर लोला और मैं भोजन करने गये, शराब भी रखी थी। वहाँ से लोला हमें अपने घर ले गई"।18

प्रेम पात्र के नज़दीक रहने की आकांक्षा, संस्पर्श करने की अभिलाषा, बिछुड़ जाने की तड़प राहुल सांकृत्यापन जी के 'मेरी जीवन यात्रा' भाग-2 में अभिव्यंजित है- 'लोला और मैं देर तक टहलते रहे। बाहरी दुनिया और सोवियत का जो सम्बन्ध है उससे यह आशा तो नहीं की जा सकती थी कि हम जल्दी और आसानी से मिल सकेंगे। लेकिन प्रेम इन बाधाओं की परवाह नहीं करता, आधी रात बीती। गाड़ी का इंजन सन् सन् करने लगा हमारे हृदयों में कांटा सा चुभने लगा। विदा होने का समय आया आंखों से करुणा बरसाते लोला ने विदाई दी। गाड़ी रवाना हुई। देर तक वह प्लेटफार्म पर खड़ी देखती रही।'19

स्त्री पुरुष की मिलनोत्कंठा जब वियोगानुभूतियों को सहने के लिए आकुल होती है तभी वास्तविकता का प्रादुर्भाव होता है। इस विचार के समर्थन हेतु राहुल सांकृत्यापन जी ने 'मेरी जीवन यात्रा' खण्ड दो के अन्तर्गत लोला के सम्बन्धों का रहस्योद्घाटन किया है- 'अभी भारत लौटते ही मुझे तिब्बत जाना था इसलिए लोला को साथ ले जाने का ख्याल कैसे कर सकता था। लेकिन मेरा हृदय उसके पास था। इस बात का अनुभव मैंने लेनिनग्राद में रहते जितना नहीं किया उतना वहाँ से दूर हटते-हटते अनुभव करने लगा।'20

भारत वापिस लौटने पर लोला के साथ यापित क्षण राहुल जी को व्यग्र करने लगे। लोला से पत्र व्यवहार के अन्तराल में राहुल जी ने प्रेम आकांक्षा का विस्तारण किया ज्योंही जायसवाल जी से उनकी शिष्या लोला व ईगर के बारे में पता चला त्यों ही उनका आत्मीय सम्बन्ध लोला से प्रगाढ़तम हो गया। इसी अवस्था की अभिव्यक्ति राहुल जी ने 'मेरी जीवन यात्रा' खण्ड दो के अन्तर्गत अनुमोदित की है- 'पत्र व्यवहार हमारा कई वर्षों से था। लेकिन दो महीने के सहवास ने एक-दूसरे को बहुत नज़दीक कर दिया। मुझे वह जायसवाल हीकी की तरह एक बड़े सहृदय मित्र मिले थे और अपनी शिष्या लोला और मेरे पुत्र ईगर के प्रति उनके प्रगाढ़ स्नेह ने मुझे और उनका आत्मीय बना दिया था।'21 राहुल जी ने प्रेम पात्र की आकांक्षा, आकर्षण, संस्पर्श करने की अभिलाषा, बिछुड़ने की तड़प को लोला के प्रति प्रकट करके दाम्पत्य पूर्व सम्बन्धों का मार्मिक अभिव्यंजन किया है।

राहुल जी का व्यक्तित्व एवं चरित्र उनकी 'मेरी जीवन यात्रा' में अनुस्यूत है जिसमें तटस्थ होकर 'स्व' का विश्लेषण किया है। राहुल जी को कमला के साथ घनिष्ठता अन्य स्थिति में हुई थी, लेकिन वह घनिष्ठता अब दूसरे रूप में परिणित होने वाली थी। राहुल जी कमला को सुशिक्षित कर अपने पैरों पर खड़ा कर देना चाहते थे। राहुल व कमला का विवाह से पूर्व एक साथ रहने को समाज किस अर्थ में ग्रहण करेगा-कमला पर दूसरों की टीका टिप्पणी से क्या असर होगा। स्त्री पुरुष के सम्बन्ध को अनिश्चित स्थिति के लिए बनाए रखना असहाय प्रतीत हो रहा था। इसलिए राहुल जी ने निश्चय किया कि दोनों पति-पत्नी बन जाएं, उन्हें आयु के सम्बन्ध में हिचकिचाहट अनुभव हो रही थी परन्तु- '2 बजे के करीब डॉ ? सत्यकेतु पुरोहित बने; हम दोनों का विवाह हो गया। साहित्यिक काम और मेरे स्वास्थ्य के बारे में जो देखभाल कमला ने की थी वह बड़ी ही श्लाघनीय थी।'22 दाम्पत्य जीवन के सम्बन्ध में अपनी अवधारणा को भी स्पष्ट किया है- 'जीवन के हर क्षण को मधुर बनाने के लिए बहुत सी बातों की आवश्यकता होती है..... मानव के पारस्परिक सम्बन्ध भी इसमें भारी कारण होते हैं।'23

कमला जी के साथ दाम्पत्य पूर्व सम्बन्धों के उपरान्त वैवाहिक सम्बन्ध सुदृढ़ बना लिया। कमला व राहुल जी के स्वभाव में प्रतिकूलता का प्रत्यंकन 'मेरी जीवन यात्रा' खण्ड 5 के अन्तर्गत राहुल जी ने स्पष्ट किया है- 'कमला और मेरे स्वभाव में अन्तर है,

बल्कि विरोध भी। जहाँ मैं बुद्धि के पीछे आँख मूंदकर जाने के लिए तैयार हूँ वहाँ कमला उसको धता बताती है। इस पर मुझे आश्चर्य होता है, उन्हें मुझ पर आश्चर्य होता है कि मैं क्यों नहीं समझ पाता ?”24

जगत की भिन्न-भिन्न गतियों व विचित्रताओं को अंकित करने की चेष्टा राहुल जी ने की है। इस आत्मकथा में राहुल जी के मधुर तित्क-जीवन अनुभवों की रोचक कथा विद्यमान है। पति-पत्नी दोनों सृष्टि के मूलाधार हैं व ने पारिवारिक परिवेश से उभरने वाली अपनी दुर्बलताओं को यथार्थ रूप में प्रतिपादित किया है। पति-पत्नी के मध्य पारस्परिक सहानुभूति, विश्वास व समानधर्मिता, स्वेच्छापूर्वक उत्तरदायित्व की भावना का निर्वाह करते हुए पारिवारिक ढाँचे की आधारशिला का स्वरूप निरूपित किया है-“कमला निटिंग, सिलाई, कढ़ाई अच्छा जानती है..... मैंने कमला को लिखने के लिए प्रेरित किया, दो कहानियाँ लिखी....., लेकिन सबसे बड़ा दोष है आलस्य। कलम पकड़ने में नानी मर जाती है”। 25

पति-पत्नी की स्वाभाविक वृत्तियों के कारण दाम्पत्य सम्बन्ध स्थायी व घनिष्ठ होता है। पति-पत्नी की पारस्परिक प्रेरणा परामर्श व सहयोग दोनों के लिए अद्भुत विभूति है। राहुल जी की पत्नी कमला को उनके मित्र भारतभूषण जी ने अंग्रेजी पढ़ा दिया करते थे। राहुल जी ने अपने दिनचर्या का उल्लेख करने के साथ-साथ पत्नी की समानधर्मिता का सशक्त चित्रांकन किया है-“जनवरी में मेरी दिनचर्या थी, सवा सात बजे उठकर शौचादि से निवृत्त होकर थोड़ा सा काम, फिर चाय पीना, फिर कमला को 11 वजे तक पढ़ाना लिखना कमला इंजैक्शन देना पूरी तरह से सीख गई। पहले उनका हाथ कांपता था, हिम्मत नहीं होती थी आज कल के जमाने में हरेक स्त्री-पुरुष को सीख लेना चाहिए।”26

यौन सम्बन्धों के साथ-साथ मनुष्य में सन्तानोत्पत्ति की प्रबल आकांक्षा होती है। गार्हस्थ्य धर्म भावना की पूर्ति हेतु पत्नी की संरक्षा का भाव राहुल जी ने ‘मेरी जीवन यात्रा’ खण्ड-5 के ‘मसूरी में’ उपशीर्षक के अन्तर्गत उद्घेलित किया है-‘कमला अब अन्तर्वत्नी थी। एक और बड़ी जिम्मेवारी हमारे ऊपर आने लगी थी। कमला को मैटरनिटी अस्पताल में ले जाने की जरूरत थी।’ पुत्री के जन्म से पूर्व पत्नी की देखभाल व स्वयं के मानसिक उद्वेग का राहुल जी ने सहज संश्लेषण किया है-“यहाँ से अस्पताल दूर है, कमला को न जाने किस वक्त आवश्यकता पड़े..... यहीं रहते अपने पोथी पतरे को छोड़ किसी चीज़ की फिक्र करने की मुझे जरूरत नहीं थी।”27

पुत्र की आकांक्षा, जो कि पति-पत्नी में स्वाभाविक वृत्ति होती है। राहुल जी ने पुत्री जन्म पर उल्लास, उमंग व प्रसन्नता का प्रभावोत्पादक चित्रांकन किया है-‘जया जब गर्भ में थी तब मैंने कह दिया था कि लड़की होगी उसका नाम जया रखा जाएगा.....मेरे लिए पुत्री भी इतनी प्यारी थी जितना पुत्र..... कमला पुत्र के लिए लालायित थी.....मुझे तो इसका विशेष आनन्द हुआ।’28

पति-पत्नी के सम्बन्धों को प्रगाढ़ बनाने में सन्तान की महती भूमिका होती है। इस अवस्थिति का राहुल जी ने स्पष्ट अंकन किया है-‘पत्नी व माता की स्थिति भी बहुत अन्तर होता है.....अक्सर मतभेद क्षणिक कड़वाहट का रूप लेता है..... पर सन्तान इस कड़वाहट को जल्दी ही दूर कर देती है। सन्तान दाम्पत्य सम्बन्ध का जबरदस्त सीमेंट है।’ 29 बच्चों के प्रति संरक्षण व उत्तरदायित्व को भी राहुल जी ने सवाक् अभिव्यक्त किया है-‘जया को टीके के कारण ज्वर था बच्चों का करुण रूदन सुनना असह्य होता है।’

राहुल जी ने पारिवारिक जीवन का विस्तारण करते हुए पुत्र जन्म की घटना का भी विस्तारण किया है-‘कमला अन्तर्वत्नी थी सन्तान के लिए कमला से शर्त लगाई थी..... वही बात हुई और अब की मैंने लड़के का नाम लेना पहले ही रख छोड़ा है.....डॉ? गिल ने बताया कि 10 बजने में 10 मिनट पर बच्चा पैदा हुआ।’

पति-पत्नी नैतिक व सामाजिक परम्पराओं, आदर्शों के सम्बन्ध में सांस्कृतिक परम्परा का निर्वहण करते हैं जोकि पारस्परिक विश्वास पर ही आधारित होते हैं। राहुल जी ने अपने व कमला जी के साहचर्य भाव से पारस्परिक प्रेम व समर्पण का उच्चतम निदर्शन प्रत्यंकित किया है-“आज 9 अप्रैल 1952 में 60वां जन्मदिवस था। कितने ही जन्म दिवस उस वक्त हुए.....कमला ने जब इस का जिक्र किया जो मैंने कहा जैसे 59 जन्मदिन बीते जैसे ही 60 वीं को भी बीत जाने दो लेकिन उन्होंने एक न मानी और 9 अप्रैल को मनाने का निश्चय कर लिया।”32 परिवार के सदस्यों में निहित सांस्कृतिक तत्त्व एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरित होते हैं। नारी द्वारा ही दाम्पत्य का सूत्रपात होता है तथा परिवार का सम्यक गठन होता है। पारिवारिक सदस्यों में रहकर मनुष्य में जिजीवषा की भावना का प्राबल्य रहता है। राहुल जी ने मेरी जीवन यात्रा के अन्तर्गत पत्नी के द्वारा अपने जन्म दिन मनाने की परम्परा का विश्लेषण किया है-‘यहीं आकर 60वें जन्मदिन को कमला ने विशेष तौर से मनाया था। आज 64वां जन्म दिन था। हम निश्चय कर चुके थे कि उस दिन अपने घर ही में विशेष खाना पीना कर लेंगे..... पार्टी वार्टी नहीं करेंगे।’

बहुमुखी व्यक्तित्व से सम्पन्न राहुल जी का जीवन आत्मकथा विधा के अनुकूल प्रतीत होता है। अपने निज से दूसरों को अवगत

करवाने का राहुल जी का प्रयास स्तुत्य है। राहुल जी ने 'मेरी जीवन यात्रा' के अन्तर्गत जीवन के विभिन्न रूपों शैशव, तारुण्य, प्रौढ़वस्था के चित्रण में अपने व्यक्तित्व के विभिन्न रूपों यथा यायावर, राजनीतिक, दार्शनिक, इतिहासकार, सत्यान्वेषी, साम्यवादी आदि का सत्यता, स्पष्टता व यथार्थता से आलेखन किया है। मेरी जीवन यात्रा' में राहुल जी ने जीवन अनुभवों को सत्यता के साथ प्रकट करके अनजानी दिशाओं को पाठकों से परिचित करवाया है। उनका गत्यात्मक व्यक्तित्व इस जीवन यात्रा में अंकित है जिस से पाठक राहुल जी की भावनात्मक क्रियाओं व प्रतिक्रियाओं से अवगत हो जाता है। वैचारिक भूमि पर राहुल जी की दृष्टि गत्यात्मक रही है तथा चारित्रिक दोषों को भी नहीं छुपाया। राहुल जी के लिए सर्वत्र प्रगतिशील एवं विचारगत स्वतन्त्रता, गतानुगतिक रूढ़िवाद का प्रबल खण्डन, समष्टि के हित की भावना, भौतिकवाद के चरम सत्य की उपलब्धि आदि वैचारिकता ही सर्वस्व थी। स्वच्छन्द विचारों की धारणा करना राहुल जी के व्यक्तित्व की महती विशेषता है। राहुल जी को नियमित शिक्षा का अवसर प्राप्त न होले पर भी स्वाध्याय से भारतीय संस्कृति, इतिहास, वेद, दर्शन और विश्व की अनेक भाषाओं में पांडित्य पाया। जीवन के 33 वर्षों के वृत्त में राहुल ने अपने व्यक्तित्व का आलेखन किया है—

सैर कर दुनिया की गाफिल जिन्दगानी फिर कहां,
जिदगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहां।

प्रतिष्ठित बहुभाषाविद् और हिन्दी साहित्यकार राहुल सांकृत्यायन के ये शब्द बताते हैं कि घुमकड़ से बढ़कर व्यक्ति और समाज का कोई हितकारी नहीं हो सकता।

The historian Kashi Prasad Jayaswal compared Rahul Sankrityayan with Buddha. Rahul's personality was as impressive and memorable as are his achievements. He travelled widely and wrote in five languages – Hindi, Sanskrit, Bhojpuri, Pâli and Tibetan. His published works span a range of genres, which include autobiography, biography, travelogue, sociology, history, philosophy, Buddhism, Tibetology, lexicography, grammar, text editing, folklore, science, fiction, drama, essays, politics, and pamphleteering.

उनकी जीवन-यात्रा देश-विदेश की राजनीतिक, सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न वातावरण का वास्तविक विश्वकोश है।

संदर्भ ग्रंथ:-

1. रवीन्द्र नाथ टैगोर: मेरी आत्मकथा, भूमिका, देवनागर प्रकाशन, जयपुर, 1978, भूमिका।
2. कमलेश सिंह: हिन्दी आत्मकथा:स्वरूप एवं साहित्य, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, 1989 पृ 1
3. गोविन्द त्रिगुणायत: शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त, एस चॉद एण्ड कम्पनी, दिल्ली, 1968, पृ 508
4. विनीता अग्रवाल: हिन्दी आत्मकथाएँ: सिद्धान्त एवं स्वरूप विश्लेषण, सचिन प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989, पृ 19
5. नारायण विष्णु शर्मा: हिन्दी आत्मकथा, पुस्तक संस्थान, कानपुर, 1978, पृ 58
6. भगवान शरण भारद्वाज' हिन्दी जीवनी साहित्य सिद्धान्त और अध्ययन, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ 61
7. विश्वबन्धु 'व्यथित': हिन्दी का आत्मकथा साहित्य, राधा प्रकाशन, दिल्ली, 1989, पृ 103
8. विनीता अग्रवाल: हिन्दी आत्मकथाएँ: सिद्धान्त एवं स्वरूप विश्लेषण, सचिन प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989, पृ 20
9. राहुल सांकृत्यायन: मेरी जीवन यात्रा, खण्ड 1, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1940, पृ 454
10. राहुल सांकृत्यायन: मेरी जीवन यात्रा, खण्ड 2, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1949, पृ 457
11. वही, पृ 459
12. वही, पृ 459
13. वही, पृ 459
14. राहुल सांकृत्यायन: मेरी जीवन यात्रा, खण्ड 4, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1967, पृ 112
15. राहुल सांकृत्यायन: मेरी जीवन यात्रा, खण्ड 5, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1967, पृ 220
16. राहुल सांकृत्यायन: मेरी जीवन यात्रा, खण्ड 1, पृ 454

17. राहुल सांकृत्यायन: मेरी जीवन यात्रा, खण्ड 2, पृ0 456
18. वही, पृ0 457
19. वही, पृ0 458
20. वही, पृ0 459
21. वही, पृ0 459
22. राहुल सांकृत्यायन: मेरी जीवन यात्रा, खण्ड 4, पृ0 560
23. राहुल सांकृत्यायन: मेरी जीवन यात्रा, खण्ड 5, पृ0 110
24. वही, पृ0 159
25. वही, पृ0 63-64
26. वही, पृ0 117

भारतीय सदाचार के विविध आयाम

डॉ. राम प्रकाश शर्मा*

प्राचीन भारतीय संस्कृत वाङ्मय में समाज के शिष्टजनों के व्यवहार और आचार को शिष्टाचार या सदाचार के रूप में निरूपित किया गया है। जैसे व्यवहार का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और बहुआयामी है, उसी प्रकार सदाचार का भी क्षेत्र वैविध्यपूर्ण एवं बहुआयामी है। प्राचीन भारतीय मनीषा में बड़ी सूक्ष्मता से विचार कर आचार एवं व्यवहार के उदात्त स्वरूपों का निर्धारण किया है। ये सदाचार भारतीय सदाचार की पद्धति अपनी महनीयता के कारण मानवता की एक अति प्रशंसनीय थाती है। सदाचार हमारे जीवन के वे समुन्नत आदर्श हैं। जिनके परिपालन से मानवता सुवासित हो उठती है। इतना ही नहीं सामाजिक समरसता व समुन्नत मानवीय मूल्यों की संस्थापना में उनका प्रशंसनीय योगदान निर्विवाद है। संस्कृत के विराट साहित्य में सदाचार के बहुरंगी आयामों का विशद् वर्णन यहां हम उनके संक्षिप्त स्वरूप पर विहंगम दृष्टि से विचार कर रहे हैं-

सदाचार का स्वरूप:- सदाचार शब्द की उत्पत्ति सत् और आचार इन दो शब्दों के संयुक्त योग से हुई है। इनमें से सत् का अर्थ है-अच्छ और आचार का अर्थ है-व्यवहार। पूर्ण वाक्य का अर्थ बनता है-अच्छ व्यवहार। धर्मग्रंथों के अनुसार सज्जनों के आचार का नाम ही सदाचार है-“संतां सज्जना नामाचारः” “सदाचारः” अर्थात् सत् परमात्मा के प्राप्यर्थ शास्त्र सम्मत सज्जनों के आचरण का नाम ही सदाचार है। वस्तुतः शास्त्र सम्मत जिन आचरणों के करने पर आत्मा, मन, वाणी तथा शरीर को सुसभ्य एवं परिमार्जित कर सत्-चित्त-आनन्द रूप परमात्मा की अनुभूति की ओर उन्मुख कर असत् रूप जगत के राग-द्वेष-कलह आदि आसुर भावों से विमुख होकर प्राणी अभ्युदय और शान्तिमय पर्यावरण का निर्माण करता है, वह कर्म, आचरण या व्यापार ही ‘सदाचार’ कहलाता है।

भारतीय धर्म ग्रंथों, दर्शन ग्रंथों और साहित्य ग्रंथों में सदाचार के विषय में प्रचुर मात्रा में उख प्राप्त होता है। महर्षि वेदव्यास जी ने महाभारत में इस विषय में स्पष्ट रूप से कहा है कि-दान, व्रत, ब्रह्मचर्य, शास्त्रोक्त रीति से वेदाध्ययन, इन्द्रियनिग्रह शांति, समस्त प्राणियों पर दया, पवित्रता, इन्द्रियों को सदा वश में रखना तथा शुभ कार्यों का सम्पादन करना ही सदाचार है। गीता में भगवान श्री कृष्ण ने सदाचार के स्वरूप को व्याख्या करते हुए कहा है-

“यद्यदाचरति श्रेष्ठस्ततदेवेत्तरो जनः”

अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करते हैं अन्य पुरुष भी वैसा ही आचरण करते हैं। श्रेष्ठ पुरुषों के सद्गुण सम्पन्न जो आचरण होते हैं, वहीं सदाचार कहलाता है, क्योंकि सदाचार और सद्गुणों का परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है। सद्गुणों से ही मानव का सदाचार दृष्टिगत होता है।

मीमांसाकों के अनुसार ऋषि-मुनि-देव-मनुष्य के सत् आचरणों का समुदाय ही अभीष्ट है अथवा प्रातःकाल से प्रारम्भ होकर रात्रि पर्यन्त जिन शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक चेष्टाओं के करने से शरीर, बुद्धि, मन और आत्मा की वास्तविक उन्नति हो सकती है उसी का नाम सदाचार है।

विष्णुपुराण में महर्षि और्व सदाचार के विषय में कहते हैं, कि सत् शब्द का अर्थ साधु है और साधु वही है जो दोष रहित हो, उस साधु (श्रेष्ठ) पुरुष का जो आचरण होता है उसे ही सदाचार कहते हैं। यथा-

“साधवः क्षीणदोषास्तु सच्छब्दः साधुवाचकः

तेषामाचरणं यत् सदाचारः सउच्चते।”

स्मृतिकारों ने सदाचार को धर्म का अविच्छिन्न अंग माना है। महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं कि अहिंसा का पालन करना, अच्छा व्यवहार रखना, दूसरों की वस्तु न चुराना, तन और मन से पवित्रता रखना, इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना, सत्पात्र को सात्विक दान देना, सभी जीवों पर दया भाव रखना, मन को वश में रखना, सहिष्णु होना ये जो गुण धर्म है वे ही सदाचार के साधन हैं। महर्षि मनु के अनुसार राग और द्वेष से रहित जिस मार्ग पर धार्मिक श्रेष्ठ विद्वान एक मत होकर गमन करते हैं वही सदाचार है।

महात्मा विदुर ने सदाचार की सुन्दर व्याख्या करते हुए कहा है- जो कार्य अपने स्वयं के प्रतिकूल हो, वह कार्य दूसरों के प्रति भी

*वधिमयी शिक्षक प्रशिक्षण (शिक्षा शास्त्री), महाविद्यालय, श्री गंगानगर (राज.)

न किया जाए, यही सदाचार हैं-

“ न तत परस्य संख्यात प्रतिकूलं यदात्मनः ”

न केवल हिन्दू धर्मशास्त्रों में सदाचार विषयक अवधारणाएं मिलती हैं अपितु अन्य भारतीय धर्म एवं दर्शनों में भी सदाचार के विषय में पर्याप्त उल्लेख प्राप्त होते हैं। बौद्ध धर्म और जैन धर्म के अनुसार पाप कर्म का परित्याग और पुण्य कर्मों का सम्पादन एवं चित्त की परिशुद्धता यही सदाचार हैं।

निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि सदाचार से आशय उस आचरण से है, जो श्रेष्ठ हो, जिसमें सत् का पुट हो, क्योंकि श्रेष्ठ लोगों के आचरण सत्यता की कसौटी पर कसे जाते हैं, उनके आचरण में वह स्थायित्व होता है जो कभी नष्ट नहीं होता। श्रेष्ठ लोगों को 'श्रेष्ठ' आचरण के कारण ही कहा जाता है।

भारत राष्ट्र की पहचान इसकी संस्कृति है। वास्तव में भारतीय संस्कृति धर्म प्रधान है। हमारी संस्कृति के अभ्युदय का प्रमुख कारण है यहां के लोगों में विद्यमान शील की प्रधानता। भारतीय संस्कृति में भोग की प्रधानता न होकर अध्यात्म की प्रधानता है। यहां व्यक्ति के जीवन का अन्तिम लक्ष्य-मोक्ष की प्राप्ति है। उस परम तत्व की प्राप्ति हेतु व्यक्ति के शुद्ध आचरण की व्याख्या की गई है। उस शुद्ध आचरण प्रणाली को जिन व्यक्तियों द्वारा अपनाया गया, वह श्रेष्ठ पुरुष कहलाए तथा श्रेष्ठ लोगों के आचरण अनुवर्तन को ही सदाचार की संज्ञा दी गई।

सदाचरण की उपादेयता:- विभिन्न विद्वानों, स्मृति ग्रंथों एवं दर्शन ग्रंथों के अनुसार सदाचार की विभिन्न परिभाषाएं, व्याख्याएं और विश्लेषण जितनी उदारता के साथ प्रस्तुत किया गया है इसके महत्व को स्वीकार करने में भी किसी ने कोई कर्पणता नहीं रखी। मनुस्मृतिकार मनु ने इसके महत्व को स्पष्ट करते हुए कहा है- अभिवादन शील तथा नित्य वृद्धजनों की सेवापरायण करने वाले मनुष्य की चार चीजों में नित्य वृद्धि होती है- आयु, विद्या, यश और बल। यथा-

“ अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।

चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम् ॥ ”

भगवत्प्राप्ति में सहायक:- मानव के जीवन का परमोद्देश्य भगवत्प्राप्ति अथवा मोक्ष है। जीवन में शान्ति भगवत्प्राप्ति से ही सम्भव है और इसे प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन है- निष्काम भावयुक्त सदाचार का अनुष्ठान, सदाचार द्वारा चित्त की शुद्धि होती है। उपासना के द्वारा चित्त की एकाग्रता बढ़ती है तथा ज्ञान के द्वारा अज्ञान का नाश होता है।

मनव जीवन में मल, विक्षेप और आवरण ये तीन मानसिक दोष हैं। सदाचार के द्वारा इन तीनों दोषों का नाश होता है। भगवत्प्राप्ति के बिना चित्त की चंचलता नहीं समाप्त होती। भक्ति युक्त सदाचार से चित्त एकाग्र हो जाता है।

चित्त के एकाग्र हो जाने पर शांत मन में विषयों के प्रति उपराम हो जाता है फिर सुख-दुःख, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी को सहन करने की शक्ति प्राप्त होती है। गुरु और शास्त्र वचनों में श्रद्धा-विश्वास उत्पन्न होने लगता है। जिससे चित्त की जिज्ञासाओं का समाधान होने लगता है और मोक्ष की इच्छा जाग्रत होती है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूप सदाचार के द्वारा भगवान का साक्षात्कार होने पर शाश्वत शांति प्राप्त होती है।

धर्मपरायणता में सहायक:- धारमते इति धर्मः अर्थात् जो धारण करता है, वह धर्म है। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र सभी का धारण, पोषण संघटन, सामंजस्य एवं ऐकमत्य का सम्पादन करने वाला एकमात्र पदार्थ धर्म है। धर्म का सम्यक ज्ञान अधिकारी व्यक्ति को वेद-वाक्यों एवं आदि ग्रंथों द्वारा प्राप्त होता है। सभी परिस्थितियों में सभी प्राणी धर्म का शुद्ध ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। महर्षि मनु कहते हैं कि सज्जन विद्वानों द्वारा ही धर्म का सम्यक ज्ञान और आचरण हो सकता है। जिन लोगों का अंतःकरण राग-द्वेष से कलुषित होता है, वे धर्म का कदापि सेवन नहीं कर सकते। इसके विपरीत साधु एवं सज्जन पुरुष ही जो राग-द्वेष से रहित होते हैं, वे ही सही मायने में धर्म तत्त्व को समझ सकते हैं। यथा-

“ विहृद्यः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषः रागिभिः ।

हृदयेनाम्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ॥ ”

उत्तम संस्कारों का सूचक:- स्वस्थ सामाजिक तथा आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने के लिए सदाचार और सद्बिचार ये दोनों ही रथ के द्विचक्र की भाँति आवश्यक तथा परम उपयोगी हैं। विचार और आचार की समरसता एवं एकरूपता से ही मानव जीवन के अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति होती है। आचार-विचार और संस्कार में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होने के फलस्वरूप भारतीय संस्कृति में संस्कारों की महत्ता पर विशेष बल दिया गया है।

संस्कारों की उच्चता से ही आचार-विचार में शुद्धता और सुदृढ़ता का समावेश होता है। जो व्यक्ति सदाचार युक्त होता है, वही श्रेष्ठ संस्कारों के गुणों को प्राप्त करने के योग्य होता है। वस्तुतः संस्कारों की समुचित व्यवस्था और सम्पन्नता से ही आचार-विचार में दृढ़ता और पूर्णता संभव होती है। दृढ़ आचार-विचार वाला मानव ही जीवन के प्रमुख उद्देश्य को प्राप्त कर सकने में सक्षम और समर्थ बन पाता है।

दीर्घायुस्य की प्राप्ति:- आचरण से मनुष्य को आयु प्राप्त होती है। सदाचार के पालन से ही मानव दीर्घायुस्य को प्राप्त करता है। इसी के द्वारा वह मनवांछित संतान को प्राप्त करता है, अक्षय धन सम्पत्ति पाता है। यथा-

आचारलभते ह्यायुराचारलभते प्रियम।

आचारालभते कीर्तिः पुरुषः प्रेत्य चेह च ॥

सदाचार सभी अनिष्ट लक्षणों को नष्ट करता है। यदि मनुष्य वर्ण, विद्या, विभावादि समस्त सुलक्षणों से रहित होकर भी सदाचार गुण से सम्पन्न है तो वह शास्त्रों के अनुसार सौ वर्षों की आयु प्राप्त करता है-

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः।

श्रद्धानोऽनस् यश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥

सदाचारी व्यक्ति के विपरीत दुराचारी मनुष्य वर्ण, विद्या, वैभव, सौन्दर्यादि सुलक्षणों से सम्पन्न होने पर भी समाज में निन्दा का पात्र बनता है, वह विविध दुःख भागी, रोगग्रस्त एवं अल्पायु हो जाता है, जो सदाचार शील मनुष्य चौबीस, चवालीस अथवा अड़तालीस वर्षों तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए यज्ञादि का अनुष्ठान करते हैं, वे नीरोग रहते हुए सौ वर्ष पर्यन्त जीवन का आनन्द लेते हैं। जो ब्रह्मज्ञानी उपासक होते हैं, उनकी मृत्यु उनकी इच्छा के अधीन रहती है, अतः जो चिरजीवी होना चाहते हैं उन्हें ब्रह्मज्ञान रूप उपासना करनी चाहिए। वास्तव में समझा जाए तो दीर्घजीवन सदाचार का अन्यतम फल है।

यश की प्राप्ति में सहायक:- महाभारत में कहा गया है कि मनुष्य को सबसे अधिक ध्यान अपने आचरण पर रखना चाहिए, क्योंकि -

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति चयाति च।

अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्तस्तु हतो हतः ॥

अर्थात् वित्त के क्षीण हो जाने पर भी यदि मनुष्य का आचरण ठीक हो तो मनुष्य की कोई हानि नहीं होती, परन्तु आचरण से हीन हो जाने पर उसका सर्वनाश हो ही जाता है।

प्रत्यक्ष भी है कि विपुल संपत्ति और अनेक वेद-वेदांगों का जानकार होने पर भी सदाचार रहित होने के कारण रावण राक्षस बन गया और सुयोधन दुर्योधन बन गया। सदाचार युक्त स्वल्पज्ञान से ही विभीषण राक्षस होते हुए भी राम-सेवक बन गया और शबरी भीलनी से भामिनी बन गई। दासी पुत्र नारद अगले जन्म में देवर्षि बन गए और सदाचार की ओर लौटते ही वाल्मीकि व्याध से वन्दनीय आदि कवि बन गये। सदाचार समन्वित तप व पुरुषार्थ के द्वारा ही बृहस्पति देवगुरु के पद पर प्रतिष्ठित हुए और सदाचार के चलते ही पवन पुत्र हनुमान भगवान श्री राम के परमभक्त के रूप में जाने गये। जबकि सदाचार के विपरीत इसका परिहास-उपहास करने के कारण ही इन्द्रासन-जैसा सम्पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न आसन प्राप्त करके भी ययाति का पतन हो गया अतः इन सभी उद्धारणों से यह सर्वथा सिद्ध है कि सदाचार से यश की प्राप्ति होती है और दुराचार से सदैव अपयश ही मिलता है।

महाभारत के एक स्थान पर जनक जी माण्डल मुनि से कहते हैं-

चरित्रमात्मनः पश्यंचन्द्र शुद्धमनामयम।

धर्मात्मात्मनो कीर्तिं प्रेत्य चेह यथा सुखम ॥

अर्थात् जो अपने सदाचार को चन्द्रमा के समान विशुद्ध, उज्वल और निर्विकार देखता हो, वह धर्मात्मा पुरुष इस लोक और परलोक में कीर्ति व उत्तम सुख प्राप्त करता है।

श्रेयपथ का सर्वोत्तम साधन:- मानव जीवन के अन्तिम एवं सर्वप्रमुख उद्देश्य मोक्ष का साक्षात् सम्बन्ध सदाचार से है। भगवान् मनु इस विषय में उपदेश देते हैं-

तयस्ते त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः।

दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात प्रवर्तेकम।

अर्थात् उत्तम, मध्यम तथा अधम भेद से तीन प्रकार के मन, वचन और शरीर के आश्रित होने से तीन अधिष्ठान वाले दश लक्षणों

से युक्त मनुष्य शरीर को कर्मों में प्रवृत्त करने वाला म नहीं है। मनुष्य द्वारा सदैव धर्म, अर्थ, काम रूपा इन तीन पुरुषार्थों की प्राप्ति हेतु धर्मशास्त्र के वचन तथा सत्पुरुषों के आचरण से आरम्भ जिस व्यक्ति के मानसिक एवं सम्पूर्ण जीवन ही क्रमशः अपने आप ही सकाम भावना से निकलकर निष्काम भाव में आ विराजता है। वह सर्वभूत हितकर होकर सर्वात्मदर्शी, आसकाम एवं निष्काम कर्म योगी बनकर केवल लोकहितकर कर्मों द्वारा अपने शेष प्रारब्ध को क्षीण करके अंत में अनिवार्य रूप से केवल मोक्ष को प्राप्त करता है। जैसा कि भगवान मनु कहते भी हैं-

“वेदाभ्यासस्तपोज्ञान मिन्द्रयाणां च संयमः ।
अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम ॥”

अर्थात् यद्यपि वेदाभ्यास तप, ज्ञान, इन्द्रिय संयम, अहिंसा और गुरु सेवा ये मोक्षपरक श्रेष्ठ छः कर्म हैं, तथापि इन शुभकर्मों सदाचारों में भी मानव के लिए एक सर्वाधिक श्रेयस्कर कर्म है, जिसके लिए ही समग्र सदाचार अथवा शुभ कर्म किए जाते हैं। वह सर्वाधिक श्रेयस्कर कर्म है- 'ब्रह्मज्ञान मूलक मोक्ष'।

हमारे लोक जीवन का अनुभव हमें बताता है कि व्यवहार के प्रत्येक पथ पर सदाचार और शिष्टाचार की महत्ता है। जहाँ हमारे व्यवहार में सदाचार का अतिक्रमण होने लगे वहाँ से मनुष्य के पतन की शुरुआत होने लगती है। सामाजिक जीवन में विकलता दिखलाई पड़ने लगती है। उच्च कोटि का विद्वान और विपुल धन सम्पन्न व्यक्ति को भी सदाचार विहीन व्यवहार के लिए समाज क्षमादान नहीं देता। जो व्यक्ति अशिष्टता का व्यवहार करता है, सदाचार हीन जीवन यापन करता है उसे समाज में कठोर दण्ड भुगतना पड़ता है। सामाजिक अव्यवस्था एवं सामाजिक दुर्व्यवस्था से बचने के लिए ही मनु ने न केवल सम्पूर्ण मानव जीवन का अपितु उसके समस्त व्यवहार का भी देश, काल, अवस्था, गुण, कर्म तथा परिस्थिति के अनुसार वर्गीकरण का प्रत्येक वर्ग तथा स्तर के लोगों के लिए नैतिक अनुशासन वर्गीकरण का प्रत्येक वर्ग तथा स्तर के लोगों के लिए नैतिक अनुशासन से नियन्त्रित आचार की व्यवस्था की है। इसी प्रकार सत्य भाषण, गुरुजन का आदर, परिवार के प्रति व्यवहार, पड़ोसी के प्रति व्यवहार, सर्वसाधारण के प्रति व्यवहार एवं नारियों के प्रति व्यवहार इत्यादि ऐसे अनेक व्यवहार हैं, जिसके लिए हमारे वाचिक, मानसिक और शारीरिक सदाचार की आवश्यकता है और इसी सामाजिक सदाचार की भूमिका पर हमारे विभिन्न सम्बन्ध स्थिर हैं।

मनुष्य की विविध कामनाओं की पूर्ति का साधन सदाचार को मानते हुए कहा गया है-

धर्मोऽस्य मूलं धनंयस्य शाखा,
पुस्पं च कामं-फलमस्य मोक्षः ।

अर्थात् सदाचार रूपी वृक्ष का मूल धर्म है, तना आयु है, शाखा धन है, पत्र कामना है, पुष्प यश है और फल मोक्ष है। सदाचार मनुष्य की कामनाओं को पूर्ण करने वाला कल्पवृक्ष है।

सदाचार के अनुशासन से मनुष्य की स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति को रोका जा सकता है। नियमित रूप से व्यक्ति जब धर्मानुकूल कार्य करता है तो उसमें संयम का आभास होने लगता है और संयम द्वारा मनुष्य ईश्वर की ओर उन्मुख होता है। संयम द्वारा मनुष्य अपनी इन्द्रियों और मनोवृत्तियों को वश में रखता है, जिससे व्यक्ति की आयु बढ़ती है। सदाचार जीवन की सब प्रकार की अनर्गलताओं का निषेध कर तपस्या और संयम का उपदेश करता हुआ मनुष्य की आयु वृद्धि में सहायक बनता है। इससे सदाचारी नर-नारी शतायु-दीर्घायु होते हैं।

सदाचार पालन से शरीर बुद्धि, चित्त और स्वभाव में धनोपार्जन सुलभ हो जाता है। सदाचार परायण व्यक्ति संसार में यशस्वी होता है। संसार में नम्रता, शीलता, सच्चरित्रता संयम आदि गुणों से ही यश प्राप्त होता है। सदाचार के द्वारा मनुष्यों में पवित्रता, निर्मलता, निष्पापता, चित्तशुद्धि, सात्विकता, आसुर भाव रहित देवत्व का प्रादुर्भाव होता है। सदाचार व्यक्ति की आध्यात्मिक और भौतिक कामनाओं की पूर्ति का साधन है।

शिष्टजनों के आचार व्यवहार का समुन्नत स्वरूप उपर्युक्त पंक्तियों में व्याख्यायित करने का एक लघु प्रयास किया गया है। यथार्थतः सदाचार हमारे जीवन का एक ऐसा अद्भुत आदर्श रूप है, जिसको जीवन में उतारने से व्यक्ति एवं समाज दोनों को लाभ होता है। जीवन का चरम एवं परम उद्देश्य भी इसी से निर्विघ्न सम्पन्न होता है, इसके साथ ही एक स्वस्थ समाज के निर्माण में सदाचार के द्वारा बड़ी सहायता मिलती है।

आइवर आर्मस्ट्रांग रिचर्ड्स का 'मूल्य सिद्धांत'

सुमन*

आधुनिक युग के मौलिक विचारकों में आई.ए. रिचर्ड्स का महत्वपूर्ण स्थान है। वह मनोविज्ञान के क्षेत्र से साहित्य में आए। इन्होंने अपने युग की विविध आलोचना-पद्धतियों का, जो कला के निरपेक्ष संसार पर आस्था रखती थी, युक्तियुक्त खण्डन करके आलोचना को एक वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित किया। इन्होंने मनोविज्ञान एवं बौद्धिकता की सहायता से कविता की सार्थकता एवं महत्ता के सम्बन्ध में नवीन तर्क प्रस्तुत किए। विज्ञान के बढ़ते प्रभाव को देखकर यह कहा जाने लगा कि कविता का भविष्य अन्धकारमय है तथा आगे चलकर मानव-सभ्यता के अन्तर्गत इसका कोई स्थान शेष नहीं रह जाएगा। रिचर्ड्स ने इस सिद्धांत का निराकरण करते हुए आचार्य शुक्ल की बात का समर्थन किया। शुक्ल जी ने कहा था, 'कविता ही मानव-सभ्यता का एक मात्र हेतु है, अतः यह कभी नहीं मिट सकती।' रिचर्ड्स ने इस मत को दूसरी तरह प्रतिपादित किया। उन्होंने कहा कि आज जब प्राचीन परम्पराएं और आस्थाएं विनिष्ट हो रही हैं, मूल्य का विघटन हो रहा है, सभ्य समाज कविता के सहारे ही अपनी मानसिक व्यवस्था बनाए रख सकता है क्योंकि काव्य से ही व्यक्ति और समाज में मानसिक सन्तुलन बढ़ता है। रिचर्ड्स ने कहा कि सभी आनन्दमूलक भावनाओं का संबंध सौन्दर्य से नहीं होता, आनन्द के अनेक स्रोत और प्रकार होते हैं। वह यह नहीं स्वीकारता कि मानव मन में कोई विशेष सौन्दर्य परक भावना होती है और इसलिए सौन्दर्य से हमें आनन्द की प्राप्ति होती है। तर्क और मनोविज्ञान दोनों किसी स्वतन्त्र सौन्दर्य-भावना के अस्तित्व को सिद्ध नहीं कर पातीं उसके अनुसार, 'सौन्दर्यानुभूति और सामान्य जीवनानुभूति में कोई अन्तर नहीं होता। सौन्दर्य, कला तथा जीवन का निकट एवं अनिवार्य संबंध है।'

रिचर्ड्स काव्य के प्रभाव तथा प्रयोजन के बारे में कहता है कि कविता का मूल्य, उसकी मन को प्रभावित करने की क्षमता पर निर्भर करता है। जो कविता पाठक या श्रोता को जितना प्रभावित कर पाएगी, उसमें सम्प्रेषणीयता जितनी अधिक होगी, वह उतनी ही उत्कृष्ट कहलाएगी। जो कविता शिरो-विषयक, सन्तुलित मनःस्थिति के उपयुक्त होगी वही कल्याणकारी होगी। उसका मानना है कि मन आवेगों का तन्त्र है और विचित्र आवेगों के कारण समतोलन भंग हो जाता है। परन्तु यदि मन में समतोलन लाना है तो आवश्यक है कि आवेग व्यवस्थित होकर एक स्वर हो जाए। मानव जीवन में ऐसे असमतोलन और समतोलन बराबर होते रहते हैं। वस्तुतः काव्य एवं कला का प्रयोजन है कि मनोवेगों में सन्तुलन स्थापित करके ऐसे व्यवस्थित करे कि भावुक को विश्रान्ति की अनुभूति हो। रिचर्ड्स ने अपने काव्य-मूल्य सिद्धांत द्वारा उन्नीसवीं शदी के आरम्भ में व्यक्त टॉमस लव पीकॉक के इस मत का खण्डन किया कि बढ़ती बौद्धिकता के दौर में कविता का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा। शैले ने 'दि डिफेंस ऑफ.पो.ए.जी.' में इस मत का खण्डन किया तथा आर्नल्ड ने कविता की सांस्कृतिक उपयोगिता के आधार पर कविता के महत्त्व को स्थापित किया।

रिचर्ड्स ने मानव के मनोवेगों को दो प्रमुख वर्गों में रखा-

आसक्तिमूलक (एपेटेन्सीज) एवं विरक्तिमूलक(एवर्शन्स)। प्रथम में हम कुछ पाने के लिए उद्यत होते हैं तो दूसरी में कुछ वस्तुओं के प्रति हमारे हृदय में विमुखता अथवा अरुची पैदा हो जाती है। प्रत्येक मनुष्य में दोनों प्रकार के वेग होते हैं तथा जीवन के अनुभवों में वस्तुतः इन्हीं मनोवेगों का संचरण होता है। सरल अनुभवों में कम वृत्तियों का सहयोग रहता है तो जटिल में वृत्तियां अधिक सक्रिय रहती हैं। सामान्य जीवन में प्रायः अनुभव सरल होता है तथा यह वृत्तियां 'अव्यवस्थित' तथा 'अस्तव्यस्त' रहती हैं, मगर कवि के अनुभव में इन वृत्तियों की व्यवस्था होती है तथा कविता से उत्पन्न सहृदय का अनुभव भी इन वृत्तियों का व्यवस्थित अवस्था का नाम है। कविता से उत्पन्न इन मनोवेगों की इस अवस्था के लिए रिचर्ड्स ने पहले तो 'सिन्थीसिस' शब्द का प्रयोग किया, परन्तु फिर 'सिन्थीसिस' का प्रयोग किया। अतः 'विरोधी मनोवेगों का सन्तुलन या समन्विति' यह काव्य का चरम मूल्य है तथा काव्य के महत्त्व का आधार यह समन्विति है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी सभी भावों का वर्गीकरण करते हुए इन्हें दो वर्गों में रखा-दुःखमूलक और सुखमूलक भाव। यह दोनों भाव ही काव्य के विषय बनते हैं तथा अपनी-अपनी विशेषताओं के अनुरूप सहृदय को प्रभावित करते हैं। जिस प्रकार आचार्य शुक्ल ने कविता के प्रभाव से भावों के व्यायम और परिष्कार की बात की है, उसी प्रकार रिचर्ड्स भी यह मानता

*सहायक प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, डी.ए.वी. कॉलेज, अबोहर,

है कि काव्य के अध्ययन से सहृदय के राग तत्व का परिमार्जन होता है।

मनोवेगों का सन्तुलन या सामरस्य तो जीवन में भी सिद्ध होता है, किन्तु काव्य द्वारा जो सामरस्य उत्पन्न होता है, वह अधिक जटिल और मूल्यवान होता है। मनोवेगों का यह सन्तुलन इस रूप में निष्प्रयोजन होता है कि वह कर्म में प्रेरित नहीं करता। इसी प्रकार यहाँ रिचर्ड्स का निष्प्रयोजन से तात्पर्य है:— कर्म में लीन होने की प्रक्रिया का अभाव। यद्यपि यह कहा गया है कि रिचर्ड्स द्वारा निष्प्रयोजनता का यह उल्लेख कांट के 'निष्प्रयोजन आनन्द' का स्मरण कराता है, परन्तु दोनों में अन्तर विवेचन स्तर का है। कांट का विवेचन दर्शन के स्तर पर आश्रित है जबकि रिचर्ड्स के विवेचन का आधार मनोविज्ञान है। उन्होंने मनोवेगों के सन्तुलन की अवस्था की तुलना उस खिलाड़ी से की है जो खेल में भाग लेने के लिए सन्नद्ध है। खिलाड़ी की सन्नद्धता से तुलना का अभिप्राय यह है कि मानसिक सन्तुलन की यह स्थिति कर्म से विच्छिन्न नहीं है, उसमें कर्म के संस्कार विद्यमान रहते हैं। कर्म के प्रति आसक्ति होती है परन्तु कर्म में प्रवृत्ति होती है। रिचर्ड्स के अनुसार मनोवेगों के सन्तुलन के दो रूप हैं— पहला, मनोवेगों के समाहार के द्वारा (बाई इंकलूशन), जहाँ अनेक मनोवेगों का समाहार या समावेश होता है। दूसरा, मनोवेगों के बहिष्कार के द्वारा (बाई एक्सलूशन), जहाँ कुछ सीमित मनोवेगों को स्वीकार किया जाता है और अधिकांश का बहिष्कार अथवा वर्जन किया जाता है। उदाहरणार्थ: प्रसाद के गीत 'बीती विभावरी जागरी' में रिचर्ड्स के अनुसार बहिष्कार द्वारा मनोवेगों का सन्तुलन है और 'प्रलय की छाया में' समाहार के द्वारा सन्तुलन है।

रिचर्ड्स अपने विषयगत विवेचन तथा मनोवेगों के सन्तुलन के मूल्यों की सीमाओं के प्रति सजग प्रतीत होता है। उसने कृति के मूर्त रूप (काव्य भाषा) का विस्तृत विवेचन किया है। उसने शास्त्र और काव्य भाषा का अन्तर करते हुए यह कहा है कि भाषा के दो रूप हैं—एक सांकेतिक और दूसरा भावोद्बोधक। सांकेतिक प्रयोग का प्रयोजन होता है: अर्थ की अभिव्यक्ति, शब्दों द्वारा साक्षत सांकेतिक अर्थ का प्रकाशन। विज्ञान एवं शास्त्र में भाषा के सांकेतिक रूप का ही प्रयोग होता है। इस से पृथक काव्य में भाषा का ऐसा प्रयोग भी होता है, जहाँ उसका उद्देश्य अर्थ की प्रतीति मात्र कारणा नहीं होता वरना सहृदय के मन में भावों को जगाना होता है। इस प्रयोजन में किया गया भाषा का प्रयोग भावोद्बोधक प्रयोग कहलाता है, जो मनोवेगों को उत्पन्न करता है, उन्हें परस्पर संबद्ध करता हुआ उनके बीच सामरस्य की स्थापना करता है। रिचर्ड्स कृत भाषा के इस वर्गीकरण की तुलना एक ओर तो भामह आदि के मत से की जा सकती है, जहाँ उन्होंने शस्त्र की भाषा को स्वभावोक्ति प्रधान एवं काव्य की भाषा को वक्रोक्ति प्रधान माना। वस्तुतः इनके उपर्युक्त वर्गीकरण को भारतीय काव्यशास्त्र के शब्द-शक्ति-विवेचन के समक्ष रखा जा सकता है। भाषा का सांकेतिक प्रयोग अभिधा भावोद्बोधक की तुलना लक्षणा एवं व्यंजना से की जा सकती है। परन्तु यहाँ यह कहना आवश्यक है कि भारतीय काव्य-शास्त्र में उपलब्ध शब्द-शक्ति-विवेचन कहीं ज्यादा सूक्ष्म है, वैज्ञानिक एवं पूर्ण है। काव्य भाषा के रिचर्ड्स ने चार तत्व माने हैं— पहला, वस्तुबोध (सेन्स) यह वह पक्ष है जिस में भाषा सामान्य अर्थ का ज्ञान कराती है क्योंकि काव्य के अध्ययन में पहला चरण तथ्य के ज्ञान का है। दूसरा, मनोवेग (फीलिंग) अर्थात् वस्तु के साथ लेखक का राग-बन्ध। इसमें सिर्फ अर्थ बोध ही नहीं होता बल्कि काव्य में तथ्य के प्रति कवि की कोई मनोभावना होती है, जो कविता की भाषा में व्यक्त होती है। तीसरा, ध्वनि (टोन) भाषा के माध्यम से कवि सहृदय के साथ अपने आप को प्रतिबद्ध करता है और चौथा, तत्व आता है: अभिप्राय (इन्टेंशन) लेखक का अभिप्राय, जो उसके अनुभव आदि की समग्रता को विशिष्ट बनाता है, वह भी भाषा में मूर्तिमान होता है। उसने काव्य में प्रसंग एवं रूपक पर विशेष महत्त्व दिया है। काव्य भाषा का शब्द-प्रसंग-विशेष से संबद्ध होकर विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति करता है। उदाहरणतः कविता में यदि एक शब्द दो विविध प्रसंगों में आता है तो चाहे उनका कोशगत अर्थ एक ही क्यों न हो किन्तु काव्य तथा उसके भावबोध में शब्द के अर्थ में अन्तर आ जाता है। वस्तुतः सहृदय में शब्द का वस्तुबोध तो एक ही होता है किन्तु भावबोध में अन्तर हो जाता है। इस प्रकार काव्य शब्द का अर्थ एक संश्लिष्ट अर्थ होता है जिसमें वस्तुबोध एवं राग-बोध का सम्मिश्रण होता है तथा यह संश्लिष्ट अर्थ शब्द का नहीं, प्रसंग युक्त शब्द का होता है।

काव्य में 'रूपक' का प्रयोग भी महत्त्वपूर्ण माना है। कारण है कि रूपक में अनेक अर्थों की संसृष्टि होती है, जिससे काव्य भाषा की शक्ति का विस्तार होता है। रूपक के प्रयोग से भाषा में अनेकार्थ की सृष्टि होती है। यह सभी अर्थ अपने-अपने प्रसंग के अनुकूल विशिष्ट रागात्मक प्रतिक्रिया जगाते हैं। उनके अनुसार कविता में उपयुक्त लय के प्रयोग से से भी कविता एवं सहृदय के बीच नाद के सामरस्य के स्तर पर संबंध स्थापित होता है। बाद की सामरसता योजना के प्रति आसक्ति एवं उसकी पहचान व्यक्ति मात्र में होती है। अतः नाद की गति तथा लयात्मकता के कारण सहृदय कविता से विशेष प्रकार की आशा करता है। वह शब्दों के नादात्मक सामरस्य को पहचानता है तथा उसका आस्वाद करता है। काव्य तथा शास्त्र की भाषा के उपर्युक्त अन्तर के आधार पर दर्शन एवं काव्य का अन्तर

समझा जा सकता है। शास्त्र में सार्वभौम सत्य का सांकेतिक आख्यान मिलता है, परन्तु काव्य एक ओर तो भावोद्बोध के प्रति आसक्त रहता है और दूसरी ओर दर्शन का उपयोग भी इसी उद्देश्य से करता है।

काव्य रचना में, भाषा के विशिष्ट प्रयोग आदि में कवि की कल्पना शक्ति सहायक होती है। इसलिए कल्पना शक्ति कविता के सन्दर्भ में अति महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। रिचर्ड्स ने कल्पना शक्ति को कॉलरिज के समान दर्शन स्तर पर ग्रहण न करके व्यवहारिक स्तर पर विचार किया है। उसके अनुसार कल्पना के छः गुण हैं। कविता सहृदय के मनोवेगों को जगाती है, उनकी संयोजना एवं व्यवस्था करती है, उसमें समरसता स्थापित करती है, कविता व मनोवेगों के बीच बिम्ब की स्थिति है, उस संश्लिष्ट अर्थ या चित्र की स्थिति है जो सहृदय के मन में पैदा होती है। इन चाक्षुष बिम्बों का उत्पादन कल्पना के द्वारा होता है तथा इन्हें जगाने वाली भाषा है: भाषा का उद्बोधक प्रयोग। इस रूप में चित्रण करता है कि वह सजीव हो उठे। किन्तु अन्यों की अनुभूतियों को समझने के लिए, परखने के लिए, उसे आत्मसात करने के लिए कवि कल्पना का ही आश्रय लेता है। भाषा का अलंकरण कल्पना का तीसरा कार्य है। इसमें विशिष्ट शब्दों का चयन, उनकी संयोजना, छन्द एवं लय की उद्भावना, अलंकारों का प्रयोग आदि शामिल है। यह सब समग्र रचना में अन्वित होकर उसके (कविता) प्रभाव को उद्दीप्त करते हैं। यह कार्य कल्पना के द्वारा सम्पन्न होता है। कल्पना का प्रयोग रचना के विविध तत्त्वों के परस्पर सामंजस्य में भी होता है। जैसे:—कृति में भाषा के विविध तत्त्वों की शब्द, प्रतीक, नाद, लय आदि की तथा अर्थ के विविध तत्त्वों की—विचार, दृश्य, घटना आदि की समन्वित है। यह सभी तत्व सम्मूक्त होकर रचना को जन्म देते हैं। इनको संयुक्त करने वाली शक्ति कल्पना ही है। कल्पना का प्रयोग केवल काव्य के क्षेत्र तक सीमित नहीं है अपितु ज्ञान के अन्य क्षेत्र—विज्ञान तथा दर्शन शास्त्र आदि में भी कल्पना का प्रयोग अनिवार्य रूप से होता है। कल्पना का अन्तिम कार्य:— विरोधों का समाहार है। काव्य में वस्तु तत्त्व एवं विषयी तत्त्व दोनों की विरोधी सत्ता है। शब्द एवं अर्थ में द्वन्द्व रहता है, विचार और भाव में संघर्ष विद्यमान रहता है। फलतः कल्पना वस्तु तत्त्व एवं विषयी तत्त्व को, भाषा तथा अर्थ को, विचार एवं भाव को समन्वित करके उनके विरोधों को दूर करती है।

वस्तुतः कल्पना शक्ति के विस्तृत विवेचन में रिचर्ड्स ने कल्पना के सभी कार्यों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इसमें उसने काव्य शास्त्र की पूर्ववर्ती परम्परा का पूरा-पूरा उपयोग किया है। बिम्बों के निर्मित का उल्लेख लॉजानस से मिलता है। विभिन्न तत्त्वों की संरचना एवं विरोधी तत्त्वों के समाहार की बात कॉलरिज के कल्पना सिद्धांत के विवेचन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियां हैं। किन्तु कॉलरिज के दार्शनिक विवेचन को अस्वीकार करके भी उसके द्वारा बताए गए कल्पना कार्यों को स्वीकार किया जा सकता है।

रिचर्ड्स ने आत्मवादी क्रॉंचे के अभिव्यंजनावाद के विपरीत सम्प्रेषण की अनिवार्यता पर बल दिया है। वह सम्प्रेषण को काव्य का अनिवार्य गुण मानता है। उसके द्वारा किया गया भाषा के भावोद्बोधक प्रयोग एवं कल्पना के विवेचन क्रम से ज्ञात होता है कि सहृदय को वह महत्त्वपूर्ण स्थान देता है। परन्तु उन्होंने सम्प्रेषण की व्याख्या मनोविज्ञान की सहायता से कला-व्यापार के आन्तरिक एवं आवश्यक गुण के रूप में की है। प्रायः कहा जाता है कि कवि रचना-व्यापार में सम्प्रेषण के प्रति सजग नहीं होता। कारण यह है कि यदि कवि सजग रूप से सम्प्रेषण को साध्य बनाकर चलते हैं, उनकी रचनात्मकता निम्न स्तर की होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कलाकार यदि सम्प्रेषण के मूल्य के प्रति सजग हो रचनात्मकता के उत्कर्ष को हानि होती है। फिर यदि सम्प्रेषण कला का अनिवार्य गुण नहीं है तो रिचर्ड्स का काव्य-मूल्य सिद्धांत अर्थहीन हो जाता है। इसलिए रिचर्ड्स ने सम्प्रेषण की ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की है, जिसके अनुसार सम्प्रेषण एक ओर तो सर्जना-व्यापार की शर्तों को पूरा करता है तथा दूसरी ओर एक अनिवार्य तथा अन्तरंग मूल्य में प्रतिष्ठित हो जाता है। रिचर्ड्स के अनुसार सम्प्रेषण का व्यापार एक व्यापक ओर अत्यन्त प्राचीन व्यापार है। उतना ही प्राचीन जितनी मानव सभ्यता। सम्प्रेषण की अनिवार्यता का अर्थ ही है कि मनुष्य में सम्प्रेषित कथ्य को ग्रहण करने की बद्धमूल शक्ति हो। इस प्रकार कवि चाहे सजग हो चाहे न हो, सम्प्रेषण तो अनिवार्यतः होगा।

सामान्य मानव परिवेश के प्रति एक निश्चित रूप से प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। वस्तुतः परिवेश के प्रति एक समान राग-बन्ध प्रत्येक मानव के स्वभाव का अनिवार्य गुण है। कवि अधिक कल्पनाशील एवं संवेदनशील व्यक्ति होता है, इसलिए परिवेश को ऐसा रूप देता है, ऐसी भाषा मूर्त्तिमान करता है कि सहृदय की प्रतिक्रिया अधिक व्यवस्थित और तीव्र हो जाए। किन्तु फिर भी रिचर्ड्स के सिद्धांत पर कई आक्षेप लगाए जाते हैं। पहा कि काव्य का प्रभाव एक अन्वित प्रभाव है, जिसमें विविध मनोवेग समाहित हो जाते हैं किन्तु रिचर्ड्स ने काव्य के विरोधी मनोवेगों के सन्तुलन को स्वीकार किया है जो सहृदय की अनुभूति के प्रणाम के विरुद्ध पड़ता है। दूसरा रिचर्ड्स के अनुसार कविता का मूल्य विषयीगत मूल्य है, उसकी स्थिति सहृदय के मन में है। तो पहली बात तो यह है कि पूर्णतः विषयी परक होने के नाते तथा मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण के विविध वादों में मौलिक भेद होने के कारण उसकी स्पष्ट एवं सर्वमान्य व्याख्या सम्भव नहीं हैं।

परन्तु इन सबके बावजूद आधुनिक पाश्चात्य मनीषियों में आई. ए. रिचर्ड्स का स्थान मूर्धन्य है। उसका प्रभाव एक ओर अमेरिका में छमू बतपजपबपेउ समुदाय के लेखकों पर स्पष्ट दिखाई देता है तो दूसरी ओर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी उनकी चर्चा की है। समीक्षा-सिद्धांत को वैज्ञानिक बनाने में उनका योगदान अपूर्व है। सम्प्रेषण की प्रक्रिया का वैज्ञानिक विवेचन अभूतपूर्व है। पाठक की मनःस्थिति का, कला का उसके मन पर पड़ने वाले प्रभावों का विश्लेषण एवं मूल्यांकन मनोविज्ञान का सदुपयोग है।

सन्दर्भ सूची:

1. पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धांत , डॉ.शान्ति स्वरूप गुप्त (अशोक प्रकाशन, नई दिल्ली)
2. पाश्चात्य काव्यशास्त्र , डॉ. तारक नाथ बाली
3. वृहत साहित्यिक निबंध , डॉ. कृष्ण देव झारी (पराग प्रकाशन)

भारतीय संविधान की प्रस्तावना का दार्शनिक पक्ष -एक समीक्षात्मक अध्ययन

ममता गुप्ता*

विश्व का सर्वाधिक विस्तृत भारत का संविधान जन-जन की आशाओं व आकांक्षाओं का पवित्र दस्तावेज है। इसकी प्रस्तावना में जन-गण की न्याय, स्वतंत्रता, समता, बन्धुता, व्यक्ति की गरिमा आदि आकांक्षाओं व संकल्पों की अभिव्यक्ति की गई है। यह मात्र एक श्रृंगारिक या आलंकारिक संगुन्जन नहीं है और न ही यह कोई वाक विदूध कृतार्थ है, बल्कि यह तो समाजवादी दर्शन से संजीवित एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है। प्रस्तावना में संविधान का लक्ष्य निहित होता है। प्रस्तावना मूल आदर्शों, आधारभूत व दार्शनिक अभिधारणाओं को मुख्यतः व्यक्त करती है। यह संवैधानिक प्रावधानों को औचित्य प्रदान करती है।

प्रस्तावना संविधान-निर्माताओं के विचारों को जानने की कुंजी है। संविधान रचियताओं के उद्देश्य क्या थे या वे किन आदर्शों की स्थापना करना चाहते थे, इन सबको जानने का माध्यम प्रस्तावना ही होती है। प्रस्तावना में निहित राष्ट्रीय आदर्श जहां एक ओर हमें अपने गौरवमय अतीत से जोड़ते हैं, वहीं दूसरी ओर भविष्य के सपने भी संजोते हैं। हम भारतीय अपने संविधान के मूल्यों, आदर्शों पर गर्व तो करते हैं, किन्तु इसके वास्तविक लाभों से केवल वंचित ही नहीं बल्कि अपरिचित भी हैं। यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि भारतीय संविधान का मूल दर्शन-प्रस्तावना का इतना व्यापक प्रभाव होते हुए भी, इस विषय के अनुशीलन पर राजनीति विज्ञान के अध्येता का विशेष ध्यान नहीं गया। हम संविधान के दार्शनिक पक्ष अर्थात् प्रस्तावना पर उतना चिन्तन करें, जितना कि सैद्धान्तिक पक्ष या उपबंधों पर करते हैं। फलतः जिज्ञासुओं और विद्यार्थियों को ज्ञान नहीं मिल पाता।

इसी सन्दर्भ में भारतीय संविधान की प्रस्तावना की अवधारणा का विश्लेषण कर समाजवादी लक्ष्य, लोकतांत्रिक समाज, पंथनिरपेक्ष, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक न्याय की प्राप्ति, व्यक्ति की गरिमा के प्रतिष्ठान एवं राष्ट्र की एकता व अखण्डता को स्थापित करने में हम कहां तक सफल हुए हैं, की अनुशंसा की है और सम्पूर्ण राष्ट्र में साम्प्रदायिकता, भ्रष्टाचार, भाषावाद, क्षेत्रीयता आदि के कारण फैली अशान्ति एवं अस्थिरता के दौर को रोकने के लिए प्रस्तावना की दार्शनिकता के विकल्प के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

प्रस्तावना से अभिप्रायः

प्रत्येक अधिनियम के प्रारम्भ में एक प्रस्तावना रहती है। प्रस्तावना में उन उद्देश्यों का उल्लेख किया जाता है, जिनकी प्राप्ति के लिए कोई अधिनियम पारित किया गया है। “प्रस्तावना अधिनियम का वह प्रस्तावनात्मक कथन होता है, जो शीर्षक के पश्चात् और अधिनियमकारी खण्ड के मध्य होता है। यह सम्बद्ध अधिनियम की नीति तथा प्रयोजन की घोषणा ही नहीं करती, वरन् उसके कारण तथा उससे साबित किए जाने वाले उद्देश्य को भी बताती है।” यद्यपि प्रस्तावना अधिनियमकारी खण्ड का अंग नहीं है, फिर भी यह अधिनियम के क्षेत्र, उद्देश्य एवं प्रयोजन को अभिव्यक्त करने के लिए आशयित है।²

दर्शन से अभिप्रायः

“वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप तथा शश्वत ज्ञान को ही दर्शन के मुख्य उद्देश्य में समाहित किया गया है।” दर्शन शब्द संस्कृत भाषा के ‘दृश’ धातु से बना है, जिसका अर्थ है ‘जिस द्वारा देखा जाय।’ भारत में दर्शन उस विद्या को कहा जाता है, जिसके द्वारा तत्त्व का साक्षात्कार हो सके तथा तत्त्व का अभिप्राय वस्तुओं के सत्य रूप को जानने से है।³ इस तरह भारतीय संविधान की प्रस्तावना भी वह माध्यम है, जिसके द्वारा संविधान को देखा जा सकता है तथा उसके सत्य रूप को जाना जा सकता है।

अविभाजित भारत के लिए संविधान बनाने हेतु संविधान निर्माता सभा का निर्वाचन हुआ। जिसमें ऐसे योग्य व अनुभवी व्यक्ति थे, जिन पर किसी को भी गर्व हो सकता है। संविधान सभा का प्रथम अधिवेशन 9 दिसम्बर, 1946 को प्रातः 11 बजे नई दिल्ली के संसद भवन के केन्द्रीय कक्ष में प्रारम्भ हुआ और इसी दिन डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा को सभा का अस्थायी अध्यक्ष निर्वाचित किया गया, जो

*डी.ए.वी. महाविद्यालय, अबोहर

संविधान सभा में सबसे पुराने संसदज्ञ भी थे। 11 दिसम्बर, 1946 को कांग्रेस के नेता डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को संविधान सभा का स्थायी अध्यक्ष चुना गया। 13 दिसम्बर, 1946 को पं. जवाहर लाल नेहरू ने अपना प्रसिद्ध उद्देश्य प्रस्ताव प्रस्तुत कर संविधान निर्माण की आधारशिला रखी। 4 उद्देश्य प्रस्ताव प्रस्तुत करते हुए पं. नेहरू ने कहा:—मैं आपके सामने जो प्रस्ताव प्रस्तुत कर रहा हूँ, उसमें हमारे उद्देश्यों की व्याख्या की गई है, योजना की रूप रेखा दी गई है और बताया गया है कि हम किस रास्ते पर चलने वाले हैं।

जवाहर लाल नेहरू का यह ऐतिहासिक भाषण उनके जीवन के सर्वाधिक महत्वपूर्ण, सुन्दर एवं प्रभावशाली भाषणों में से था। अतीत की स्मृतियाँ जैसे उनके मन में उमड़ गई थी, भावी स्वप्न जैसे साकार हो गए और साथ ही उन्हें वर्तमान के धर्म, उस समय की जटिल समस्याओं के बोझ, अपने भारी कर्तव्य और उत्तरदायित्व का भी बोध था। इस उद्देश्य प्रस्ताव के माध्यम से भारतीय क्रान्ति के जनकों ने देश को यह बताने का प्रयास किया कि उनके लक्ष्य क्या हैं, वे देश को किस सांचे में ढालना चाहते हैं और किस और ले जाना चाहते हैं। यह प्रस्ताव एक प्रकार से सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य की जन्म-पत्री था।

13 दिसम्बर से 19 दिसम्बर, 1946 तक संविधान-सभा ने उद्देश्य प्रस्ताव पर कुल आठ दिन विवाद-विचार किया। प्रस्ताव के संबंध में अनेक संशोधन प्रस्तुत किए गए लेकिन सबसे महत्वपूर्ण संशोधन डॉ.एम.आर.जयकर का था, जो इन्होंने 16 दिसम्बर, 1946 को प्रस्तुत किया। जिसमें कहा गया कि जब तक मुस्लिम लीग और देशी राज्यों के प्रतिनिधि संविधान-सभा में सम्मिलित न हो जायें, तब तक इस प्रस्ताव पर विचार न किया जाए। 21 दिसम्बर, 1946 को प्रस्ताव पर अगले अधिवेशन तक के लिए विचार स्थगित कर दिया गया। मुस्लिम लीग ने संविधान-सभा में सम्मिलित होना पसन्द नहीं किया। ऐसी स्थिति में संविधान सभा के सदस्यों ने प्रतीक्षा को निरर्थक मानते हुए 22 जनवरी, 1947 को “अवसर की गम्भीरता और प्रस्ताव में की गई प्रतिज्ञा की महानता का स्मरण करते हुए “बड़ी संजीदगी के साथ संविधान-सभा में सर्व-सम्मति से इस प्रस्ताव को पास किया।

संविधान सभा का दसवाँ अधिवेशन 6 से 17 अक्टूबर 1949 तक चला, जिसमें प्रस्तावना पर अन्तिम रूप से विचार-विमर्श हुआ और कई संशोधनों के पश्चात 17 अक्टूबर, 1949 को प्रस्तावना को स्वीकार किया गया। संविधान सभा का ग्यारहवाँ अधिवेशन 14 से 26 नवम्बर, 1949 तक चला, इसमें डॉ. अम्बेडकर द्वारा प्रस्तुत प्रस्ताव में कहा गया कि ‘सभा द्वारा निर्मित संविधान को पास किया जाए। यह प्रस्ताव 26 नवम्बर, 1949 को स्वीकृत हुआ और प्रस्तावना के शब्दों में, इस दिन भारत के लोगों ने अपनी संविधान-सभा में सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न, लोकतंत्रात्मक भारतीय गणराज्य के संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मसमर्पित किया। संविधान-सभा का बारहवाँ व अंतिम अधिवेशन 26 जनवरी, 1950 को हुआ। इस दिन सभी सदस्यों ने संविधान पर हस्ताक्षर किए और उसके बाद जन-गण-मन तथा वन्दे मातरम के गायन के साथ संविधान सभा का समापन हो गया। 26 जनवरी, 1950 को उसका भारतीय गणराज्य की अंतरिम संसद के रूप में आविर्भाव हुआ। 15 अगस्त, 1947 से लेकर 26 जनवरी, 1950 तक भारत का राजनैतिक स्तर ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के एक अधिराज्य का था। 26 जनवरी, 1950 को जब संविधान प्रवृत्त हुआ, इंग्लैंड के सम्राट का भारत में कोई विधिक या संवैधानिक प्राधिकार नहीं रहा। भारत का कोई नागरिक ब्रिटिश सम्राट के प्रति निष्ठा नहीं रख सकता। 5 और भारत उसी प्रकार सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य बन गया जिस प्रकार कि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी अथवा संसार का अन्य कोई स्वाधीन राज्य। 6

भारतीय प्रस्तावना में मूल आकांक्षाएं थोड़े शब्दों में बड़ी सुन्दरता के साथ अभिव्यक्ति हुई हैं जैसे: हम भारत के लोग, भारत को सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न समाजवादी, पंथनिरपेक्ष, लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिक सामाजिक, आर्थिक, और राजनीतिक उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त करने के लिए तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा, राष्ट्र की एकता और अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्पित होकर अपनी संविधान सभा में 26 नवम्बर, 1949 को इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मसमर्पित करते हैं।

भारतीय संविधान की प्रस्तावना के पदों का दार्शनिक पक्ष:—

हम भारत के लोग प्रभुत्ता और एकता:

प्रस्तावना के ‘हम भारत के लोग पदावली से यह स्पष्ट है कि भारतीय संविधान का स्रोत भारत की जनता है और भारतीय जनता ने अपनी सम्प्रभु इच्छा को इस संविधान के माध्यम से व्यक्त किया है। इसका तात्पर्य यह है कि जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों की सभा द्वारा संविधान का निर्माण किया गया है।

प्रभुत्व सम्पन्नता:

प्रस्तावना के ‘सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न’ पद से व्यक्त होता है कि भारत पूर्ण रूप से प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य है और कानूनी दृष्टि से न तो

उसके ऊपर किसी बाहरी शक्ति का और न किसी आन्तरिक शक्ति का कोई प्रतिबंध या नियंत्रण हैं। प्रभुता समूची भारतीय जनता में अथवा भारतीय गणराज्य में निहित है, उसके किसी अंगभूत भाग में नहीं।

राष्ट्रमंडल की सदस्यता:

राष्ट्रमंडल पूर्ण स्वतंत्र राष्ट्रों का एक स्वतंत्र और स्वैच्छिक समागम है और उसके प्रत्येक सदस्य की स्थिति पूर्णतः स्वतंत्र और समान दर्जे की है। 1949 में लंदन में हुए सम्मेलन में भारत ने यह घोषणा की थी कि वह राष्ट्रमंडल का पूर्ण सदस्य बना रहना चाहता है जिससे भारत की प्रभुसत्ता पर कोई आघात नहीं होता और वह अपने आन्तरिक और बाहरी मामलों में पुरी तरह स्वतंत्र है। राष्ट्रमंडल का सदस्य बने रहने से भारत के ऊपर कोई दायित्व नहीं आते और न राष्ट्रमंडल में ऐसे निर्णय किए जाते हैं जो भारत अथवा अन्य किसी सदस्य राज्य के लिए बंधनकारी हो। 7

समाजवाद:

समाजवाद शब्द को प्रस्तावना में 42 वें संशोधन, 1976 द्वारा सम्मिलित किया गया। समाजवाद का अभिप्राय है कि देश के भौतिक संसाधनों का यथासम्भव समानता के आधार पर बंटवारा होगा और धन का संकेन्द्रण कुछ लोगों के हाथों में नहीं होगा एवं अमीर और गरीब के मध्य दूरी कम की जाएगी। भारतीय समाजवाद लोकतांत्रिक समाजवाद की स्थापना के प्रयास में अग्रसर हैं। लोकतंत्र और समाजवाद से इस अनोखे सामंजस्य के प्रयास की परिकल्पना इस दिशा में एक नवीन कदम है। 8

पंथ निरपेक्षता:

संविधान (42 वां संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा प्रस्तावना में 'पंथ निरपेक्ष' शब्द अन्तः स्थापित करके सुनिश्चित किया गया है। पंथ निरपेक्ष राज्य अर्थात् ऐसा राज्य जो सभी धर्मों के प्रति तटस्थता और निष्पक्षता का भाव रखता है और स्वयं किसी भी मत को राज्य के धर्म के रूप में नहीं मानता। पंथ निरपेक्ष राज्य इस विचार पर आधारित होता है कि राज्य का विषय व्यक्ति के अन्तः करण का विषय है।

लोकतंत्रात्मक:

भारत के संविधान की प्रस्तावना में 'लोकतंत्रात्मक गणराज्य केवल मात्र एक शासन व्यवस्था नहीं है बल्कि लोकतंत्र जनता का, जनता के द्वारा, जनता के लिए शासन है और जनता से अभिप्राय समस्त जनता से है। भारतीय संविधान के दर्शन में लोकतंत्र को जीवनयापन की एक पूरी व्यवस्था के रूप में, जीवन के एक समग्र दर्शन के रूप में भावन किया है। व्यक्तिगत जीवन के स्तर पर घर, परिवार, जाति, समाज और देश के स्तर पर रहने के लिए विशिष्ट ढंग को ही हमने लोकतंत्रात्मक व्यवस्था माना है।

गणराज्य:

भारतीय संविधान की प्रस्तावना में देश को एक 'गणराज्य' की संज्ञा दी गई है। गणराज्य का अभिप्राय वह राज्य है, जो राजा या इसी तरह के एक शासक द्वारा शासित नहीं होता बल्कि जिसमें उच्चतम शक्ति लोगों में और उनके निर्वाचित प्रतिनिधियों अथवा अधिकारियों में निहित होती है, "बहुमत हिताय, बहुजन सुखाय" अथवा लोकमंगल के निमित्त। भारत में राज्य का प्रधान कोई आनुवंशिक नरेश नहीं, प्रत्युत निर्वाचित राष्ट्रपति है।

समाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय:

प्रस्तावना में "न्याय" शब्द जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है, वह न्याय शब्द वितरित न्याय की अवधारण से युक्त है। वितरित न्याय का अभिप्राय है, संवैधानिक मान्यता के आधार पर सभी विधियां समता-मूलक व्यवस्था पर आधारित है। दूसरे रूप में विधि के क्षेत्र में इसका तात्पर्य है-आर्थिक असमानता को दूर करना। सामाजिक न्याय का अभिप्राय मनुष्य के बीच सामाजिक स्थिति के आधार पर किसी प्रकार का भेद न माना जाये, प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्तियों के समुचित विकास के सामन अवसर उपलब्ध हों। राजनीतिक न्याय से तात्पर्य है कि राजनैतिक क्षेत्र में मनुष्य और मनुष्य के बीच कोई मनमाना विभेद नहीं किया जाएगा।

विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता संविधान ने न्याय के बाद सबसे अधिक महत्व स्वतंत्रता के सिद्धान्त को दिया है तथा 'विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता को व्यक्तियों तथा राष्ट्र के आत्मिक उत्कर्ष के लिए आवश्यक माना है और उसका प्रस्तावना में आश्वासन दिया है।

प्रतिष्ठा और अवसर की समता:

संविधान निर्माताओं ने प्रस्तावना में 'प्रतिष्ठा और अवसर की समता' पर बल दिया। संविधान में एक नागरिक और दूसरे नागरिक के

बीच राज्य द्वारा किए जाने वाले सभी विभेदों को अवैध घोषित किया गया। संविधान में सार्वजनिक स्थानों को सभी के लिए खोल दिया गया। अनुच्छेद 14-18 का उद्देश्य समता के अधिकार को व्यवहारिक रूप देना है।

बन्धुता और राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता

संविधान के आधारभूत सिद्धान्तों में देश की स्वतंत्रता को बनाए रखने और साथ ही लोकतंत्र को सफल बनाने के लिए राष्ट्र का सर्व-सम्मत लक्ष्य एकता को दृढ़ता प्रदान करना है। एकता के आदर्श को संविधान (42 वां संशोधन) अधिनियम 1976 द्वारा प्रस्तावना में और अखण्डता शब्दों को जोड़कर बल प्रदान किया गया “सभी मनुष्य जन्म से ही गरिमा और अधिकारों की दृष्टि से स्वतंत्र और समान हैं उन्हें वृद्धि और अंतश्चेतना प्रदान की गई है, उन्हें परस्पर भाईचारे की भावना से कार्य करना चाहिए। “हमारे संविधान की प्रस्तावना में बन्धुता की यही भावनादृष्टिगोचर होती है।

संविधान के इन कुछ आधारभूत सिद्धान्तों के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे संविधान में जिन उदात्त और चिरंतन तथ्यों का निरूपण किया है, उनसे किसी को मतभेद नहीं हो सकता और उनकी साधना और सिद्धि के लिए, भारत का जन जन चाहे उसकी जाति, धर्म, भाषा और पेशा कोई भी हो, एकमत हैं। प्रश्न है कार्यकरण का और इन सिद्धांतों को व्यवहार में लाने का। यदि संविधान को कार्यान्वित करने में राज्य के विधानांग, कार्यांग और न्यायांग इन आधारभूत सिद्धांतों का स्मरण रखें, तो संविधान से किसी को शिकायत नहीं हो सकती और आशा की जा सकती है कि आने वाली पीढ़ियां भी अपने-अपने युग की सामाजिक चेतना के अनुकूल इस संविधान में नए-नए अर्थ व गुण खोज सकेगी और नई प्रेरणा व ताजा स्फूर्ति ग्रहण कर सकेगी।

भारत के संविधान की प्रस्तावना एवं प्रस्तावना में वर्णित आदर्शों और उद्देश्यों के लिए स्थापित संवैधानिक व्यवस्थाओं पर न्यूनाधिक रूप में उदारवादी, समाजवादी एवं गांधीवादी विचारधाराओं का प्रभाव रहा, किन्तु भारतीय संविधान की मूल विचारधारा की पृष्ठभूमि उदारवादी- प्रजातंत्रिक थी। जिसमें व्यवहारिकता सम्मिलित थी। भारतीय संविधान की प्रस्तावना एवं संविधान उदारवादी, कल्याणकारी, समाजवादी, गांधीवादी कल्याण है, लोकतंत्र का एक अद्भुत सम्मिश्रण है जिसमें आर्थिक शक्तियों को सीमित हाथों में रखा गया है और राजनीतिक अधिकारों का उदारता के साथ विवरण किया गया है।

भारतीय संविधान की प्रस्तावना को क्रियान्वित करने वाले संवैधानिक प्रावधान के सफल क्रियान्वयन में आज पृथकतावाद शक्तियों, जातिवाद, भाषावाद, अलगाववाद, नक्सलवाद, आरक्षण, भ्रष्टाचार राजनीति का अपराधीकरण, अस्थिर सरकार, धीमी न्याय प्रणाली, साम्प्रदायिक विद्वेष आदि बाधा उत्पन्न कर रहे हैं। राष्ट्रीय एकता को आघात पहुंच रहा है। अल्पसंख्यकों की मांग से खतरनाक राष्ट्र विरोधी प्रवृत्तियों को स्वीकार करते रहने से राष्ट्र खंड-खंड हो जाएगा। यह संविधान की भावनाओं, आदर्शों, आधारों, यहां तक की उपबंधों से अंसगत है।

वर्तमान समय में जहां सम्पूर्ण भारत में आतंकवाद, साम्प्रदायिकता, हिंसा आदि चरम सीमा पर है, ऐसे समय में अशांति और हिंसा के बढ़ते हुए दौर को रोकने के लिए उस विकल्प की आवश्यकता है जो सम्पूर्ण मानवता के बीच शांति और भाईचारे को बना सके। इसके लिए प्रस्तावना में प्रतिबिम्बित गांधी दर्शन एक समाधान बन सकता है। उनका यह दर्शन सामाजिक व मनोवैज्ञानिक तनाव को उपचार प्रदान करता है। वर्तमान में प्रदूषित सांस्कृतिक एवं वैचारिक वातावरण के समाधान में गांधीवादी दर्शन अति सार्थक है।

प्रस्तावना में वर्णित राष्ट्रीय एकता एवं बंधुत्व की भावना को बढ़ाने तथा सम्पूर्ण राष्ट्र को एकता के सूत्र में बांधने के लिए स्वतंत्रता की जनभाषा हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा बनाने का सार्थक प्रयास किया जाए। देश के भावनात्मक एकीकरण के लिए सामर्थ्याली हिन्दी को उसका सही स्थान प्रदान किया जाए। व्यापक परिवर्तन के लिए व्यापक शांतिपूर्ण एवं अहिंसक जन आंदोलनों को प्रस्तावना में स्थान देते हुए उन्हें मान्यता दी जाए। वर्तमान में हुए भ्रष्टाचार विरोधी जन आंदोलन में भिन्न-भिन्न धर्म, भाषा, वर्ग, समुदाय, जाति के लोगों को एक मंच पर ला दिया। इससे राष्ट्रीय एकता में जन आंदोलन की बढ़ती भूमिका स्पष्ट हुई, जिसने संसद को भी जन समस्याओं के समाधान हेतु जनमत के सामने झुका दिया।

राष्ट्रीय एकता के तत्वों को संविधान में चिन्हित करना चाहिए। राष्ट्रीय एकता के तत्वों के रूप में हमारी नागरिकता का एकल रूपी, हमारी संघीय व्यवस्था, अस्पश्यता का अंत जैसी व्यवस्थाएं प्रस्तावना में वर्णित लक्ष्य, एकता की प्राप्ति से संविधान के प्रवधानों के रूप में सार्थक प्रयास है। साथ ही ये व्यवस्थाएं जातिवादी, क्षेत्रीयतावाद आदि बाधाओं को दूर करने में सहायक है।

प्रस्तावना में वर्णित लक्ष्य 'न्याय' की वास्तविक स्थिति के लिए न्यायिक सुधार की गतिशीलता प्रदान की जाए। न्याय की गारंटी देकर समयबद्ध सीमा में इसकी उपलब्धि करवाई जाए क्योंकि कि यह सर्वविदित है कि देरी से प्राप्त न्याय, न्याय के उद्देश्यों को समाप्त कर देता है तथा न्यायालय के निर्णय जनभाषा में दिए जाने चाहिए ताकि प्रभावित व्यक्ति उसे भली प्रकार से समझ सकें।

DAV SHODHDHARA

संविधान में निरन्तर संशोधन किए जा रहे हैं, यही नहीं यदा कदा सम्पूर्ण संविधान पर प्रश्न चिन्ह लगाकर उसके पुर्न: निरीक्षण की चर्चा भी होती है। इससे जन सामान्य के हृदय में संविधान के प्रति एक संशय उत्पन्न होता है। आवश्यकता इस बात की है कि संविधान की प्रस्तावना के मूल-भाव अर्थात उसकी दार्शनिकता को समझा जाये, तभी संविधान के प्रति विसंगतियां दूर होंगी तथा पवित्र संविधान पर आक्षेप कम होंगे।

निष्कर्ष: यह कहना कदाचित अनुपयुक्त होगा कि प्रस्तावना के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए संविधान के सुसंगत प्रावधानों में संशोधन तथा इनको प्राप्त करने के लिए बनाए गए कानूनों में संशोधन एवं नए कानूनों का निर्माण तथा ईमानदारी से ऐसे कानूनों के आदर्शों का लाभ वास्तविक व्यक्ति तक पहुंचेगा। इसलिए हर स्तर पर गुप्त समितियों का गठन किया जाए तथा उनकी कथनी व करनी में एकरूपता हेतु प्रतिबद्ध किया जाए।

सन्दर्भ सूची:

1. इन री बेरुबरि यूनियन एंड एक्सचेंज ऑफइन्क्लेव, ए.आई.आर, 1960, एस.सी.845
2. इन री केरल एजुकेशन बिल, ए.आई.आर, 1958, एस.सी.956
3. प्रो. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा: भारतीय दर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2010, पृ.1
4. कान्स्टीच्यूट एसैंबली डिबेट्स, खंड 1, पृ. 1-14, 39-49
5. डी.डी. बसु: भारत का संविधान, वाधवा एंड कम्पनी, नागपुर, 2002, पृ.21
6. सुभाष कश्यप: भारत का संवैधानिक विकास एवं संविधान, हिन्दी माध्यम निदेशालय, नई दिल्ली, 1997, पृ.330
7. पूर्वोक्त, पृ.331
8. जय नारायण पाण्डेय: भारत का संविधान, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहाबाद, 2008, पृ.35

ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਬਾਣੀ: ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਕ੍ਰਾਂਤੀ ਦਾ ਪ੍ਰਵਚਨ

ਡਾ. ਇਕਬਾਲ ਸਿੰਘ ਗੋਦਾਰਾ*

ਸਭਿਆਚਾਰ ਮਨੁੱਖ ਦੀ ਵਿਲੱਖਣ ਸਮਾਜਿਕ ਜੀਵਨ ਵਿਧੀ ਦਾ ਨਾਂ ਹੈ। ਸਭਿਆਚਾਰ ਅਜਿਹਾ ਮਨੁੱਖੀ ਵਿਵਹਾਰ ਹੈ, ਜਿਹੜਾ ਕਿਸੇ ਵਿਸ਼ੇਸ਼ ਖਿੱਤੇ ਦੇ ਲੋਕਾਂ ਨੂੰ ਇੱਕ ਸੰਗਠਿਤ ਰੂਪ ਪ੍ਰਦਾਨ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਮਨੁੱਖੀ ਸਮੂਹ ਨਾਲ ਸੰਬੰਧਿਤ ਪਦਾਰਥਕ-ਵਸਤਾਂ, ਸਮਾਜਿਕ ਵਰਤਾਰੇ ਅਤੇ ਭਾਵਨਾਤਮਕ ਸੰਕਲਪ ਆਦਿ ਉਸ ਸਮੂਹ ਦੀਆਂ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਇਕਾਈਆਂ ਬਣ ਕੇ ਉੱਭਰਦੇ ਹਨ। 'ਸਭਿਆਚਾਰ ਇੱਕ ਜਟਿਲ ਸਿਸਟਮ ਹੈ, ਜਿਸ ਵਿੱਚ ਕਿਸੇ ਮਨੁੱਖੀ ਸਮਾਜ ਦੇ ਨਿਸ਼ਚਿਤ ਇਤਿਹਾਸ ਪੜਾਅ ਉੱਤੇ ਪ੍ਰਚਲਿਤ ਕਦਰਾਂ-ਕੀਮਤਾਂ ਅਤੇ ਉਹਨਾਂ ਨੂੰ ਪ੍ਰਗਟਾਉਂਦੇ ਮਨੁੱਖੀ ਵਿਹਾਰ ਦੇ ਪੈਟਰਨ ਪਦਾਰਥਕ ਅਤੇ ਬੌਧਿਕ ਵਰਤਾਰੇ ਸ਼ਾਮਿਲ ਹਨ।'¹

ਸਭਿਆਚਾਰ ਮਨੁੱਖੀ ਜੀਵਨ ਵਿਧੀ ਦਾ ਅਜਿਹਾ ਲੱਛਣ ਹੈ, ਜਿਹੜਾ ਉਸ ਨੂੰ ਹੋਰ ਪ੍ਰਾਣੀ ਸੰਸਾਰ ਨਾਲੋਂ ਨਿਖੇੜਦਾ ਹੈ। ਮਨੁੱਖ ਹੀ ਅਜਿਹਾ ਪ੍ਰਾਣੀ ਹੈ, ਜਿਹੜਾ ਪ੍ਰਕਿਰਤਕ ਸੰਸਾਰ ਵਿੱਚ ਵਿਚਰਦੇ ਹੋਏ ਵੀ ਆਪਣੀ ਸਿਰਜਣ ਪ੍ਰਤਿਭਾ ਦੁਆਰਾ ਵੱਖਰੇ ਸੰਸਾਰ ਦੀ ਰਚਨਾ ਕਰ ਲੈਂਦਾ ਹੈ। ਇਹ ਨਿਵੇਕਲਾ ਸੰਸਾਰ ਮਨੁੱਖ ਨੂੰ ਨਵੇਂ ਅਰਥ ਪ੍ਰਦਾਨ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਇਹ ਅਰਥ ਮਨੁੱਖੀ ਆਚਾਰ ਅਤੇ ਵਿਵਹਾਰ ਵਿੱਚੋਂ ਮੁੱਲਾਂ ਨੂੰ ਸਾਰਥਕ ਬਣਾਉਂਦੇ ਹਨ। ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਪ੍ਰਾਣੀ ਹੋਣ ਕਰਕੇ ਮਨੁੱਖ ਜੀਵਨ ਦੇ ਮੂਲ ਸਰੋਕਾਰਾਂ ਨੂੰ ਪਰਿਭਾਸ਼ਿਤ ਹੀ ਨਹੀਂ ਕਰਦਾ, ਸਗੋਂ ਇਹਨਾਂ ਅਨੁਸਾਰ ਜੀਵਨ ਵਿਧੀ ਦਾ ਨਿਰਮਾਣ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਸਭਿਆਚਾਰ ਨੂੰ ਮਨੁੱਖ ਦੀ ਮਨੁੱਖਤਾ ਦਾ ਪਛਾਣ-ਚਿੰਨ੍ਹ ਵੀ ਆਖਿਆ ਜਾ ਸਕਦਾ ਹੈ।²

ਮਨੁੱਖੀ ਸਭਿਆਚਾਰ ਦੀ ਬੁਨਿਆਦ ਸਮਾਜਕ-ਆਰਥਕ ਪ੍ਰਬੰਧ ਉੱਪਰ ਟਿਕੀ ਹੋਣ ਕਰਕੇ ਇਸ ਨੂੰ ਇਤਿਹਾਸਕ ਵਿਕਾਸ-ਗਤੀ ਦਾ ਸਾਹਮਣਾ ਕਰਨਾ ਪੈਂਦਾ ਹੈ। ਇਸ ਸਭਿਆਚਾਰ ਨੂੰ ਮਨੁੱਖ ਦੇ ਵਿਚਾਰਧਾਰਕ ਉਸਾਰ ਦੇ ਇੱਕ ਅੰਗ ਵਜੋਂ ਸਵੀਕਾਰ ਕੀਤਾ ਜਾ ਸਕਦਾ ਹੈ। ਸਭਿਆਚਾਰ ਦੀ ਸਿਰਜਣਾ ਵਿੱਚ ਸਮਾਜ ਦੇ ਵਿਚਾਰ-ਪ੍ਰਬੰਧ ਦਾ ਭਰਪੂਰ ਯੋਗਦਾਨ ਹੁੰਦਾ ਹੈ। ਕੋਈ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਇਕਾਈ ਕਿਸੇ ਇਤਿਹਾਸਕ ਪੜਾਅ ਉੱਪਰ ਆਂਤਰਿਕ ਜਾਂ ਬਾਹਰੀ ਕਾਰਨਾਂ ਕਰਕੇ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਸੰਕਟ ਦਾ ਸ਼ਿਕਾਰ ਹੋ ਸਕਦੀ ਹੈ। ਅਜਿਹੇ ਵੇਲੇ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਕਦਰਾਂ-ਕੀਮਤਾਂ ਨੂੰ ਢਾਅ ਲਾ ਰਹੀਆਂ ਪ੍ਰਸਥਿਤੀਆਂ ਦਾ ਸਾਹਮਣਾ ਕਰਨ ਲਈ ਸਭਿਆਚਾਰ ਚੇਤਨਾ ਦੀ ਲੋੜ ਪੈਂਦੀ ਹੈ।

ਇਹ ਪ੍ਰਸਥਿਤੀਆਂ ਧਾਰਮਿਕ, ਆਰਥਿਕ, ਰਾਜਨੀਤਕ ਸ਼ਕਤੀਆਂ ਦੇ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਹੁੰਦੀਆਂ ਹਨ। ਇਹਨਾਂ ਦੀ ਇੱਕ ਆਪਣੀ ਹੀ ਸੱਤਹਾ ਹੁੰਦੀ ਹੈ। ਸੱਤਹਾ ਆਧਾਰਤ ਵਿਚਾਰਧਾਰਾ ਨੂੰ ਆਰੋਪਿਤ ਕਰਨ ਲਈ ਜਿਸ ਧਰਾਤਲ ਦੀ ਲੋੜ ਹੁੰਦੀ ਹੈ, ਉਹ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਚੇਤਨਾ ਦੇ ਖੀਣ ਹੋਣ ਨਾਲ ਪੈਦਾ ਹੁੰਦਾ ਹੈ। ਇਹ ਕਿਹਾ ਜਾ ਸਕਦਾ ਹੈ ਕਿ ਸਮਾਜ, ਰਾਜਨੀਤੀ, ਧਰਮ ਅਤੇ ਸਭਿਆਚਾਰ ਕਿਸੇ ਨਾ ਕਿਸੇ ਪੱਧਰ 'ਤੇ ਅੰਤਰ ਸੰਬੰਧਿਤ ਹੁੰਦੇ ਹਨ।³ ਇਸੇ ਕਰਕੇ ਸਭਿਆਚਾਰ ਸੰਕਟ ਵੀ ਇਕ ਤਰ੍ਹਾਂ ਦਾ ਵਿਚਾਰਧਾਰਾਈ ਸੰਕਟ ਹੀ ਹੁੰਦਾ ਹੈ।

ਮਨੁੱਖੀ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਵਰਤਾਰਾ ਸਾਹਿਤ, ਸੰਗੀਤ, ਕਲਾ, ਧਰਮ ਅਤੇ ਹੋਰ ਨੈਤਿਕ ਸੰਸਥਾਵਾਂ ਆਦਿ ਰਾਹੀਂ ਰੂਪਮਾਨ ਹੁੰਦਾ ਹੈ। ਇਹਨਾਂ ਦੀਆਂ ਆਪਣੀਆਂ ਰੂਪ-ਵਿਧੀਆਂ, ਸਰੂਪ ਅਤੇ ਸੁਭਾ ਹੁੰਦਾ ਹੈ। ਕਾਵਿ-ਅਭਿਵਿਅਕਤੀ ਜੀਵਨ-ਅਨੁਭਵ ਅਤੇ ਬੋਧ ਦੇ ਧਰਾਤਲ' ਤੋਂ ਰੂਪ ਧਾਰਦੀ ਹੈ। ਇਹ ਵੇਦਨਾ ਤੋਂ ਸੰਵੇਦਨਾ ਤੱਕ ਦਾ ਸਫ਼ਰ ਤਹਿ ਕਰਦੀ ਹੈ।

ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਸੰਕਟ ਦੀ ਸਥਿਤੀ ਵਿੱਚ ਕਾਵਿ ਅਭਿਵਿਅਕਤੀ ਵਿਚਾਰਧਾਰਕ ਪੈਂਤੜੇ ਤੋਂ ਹੀ ਸਥਾਪਤ ਵਿਵਸਥਾ ਨੂੰ ਵੰਗਾਰਦੀ ਹੋਈ ਆਪਣੀ ਭੂਮਿਕਾ ਦੀ ਸਾਰਥਕਤਾ ਨੂੰ ਗ੍ਰਹਿਣ ਕਰਦੀ ਹੈ।

ਸਮੁੱਚੇ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਜੀਵਨ-ਦ੍ਰਿਸ਼ਟੀ ਤੋਂ ਟੁੱਟ ਚੁੱਕਾ ਸਭਿਆਚਾਰ ਦਿਸ਼ਾਹੀਣ ਵਿਹਾਰ ਬਣ ਕੇ ਰਹਿ ਜਾਂਦਾ ਹੈ। ਸਭਿਆਚਾਰ ਮਨੁੱਖੀ ਵਿਰਾਸਤ ਹੀ ਨਹੀਂ ਸਗੋਂ ਵਿਗੜਨ ਤੋਂ ਸੰਗਠਨ ਦੀ ਯਾਤਰਾ ਵੀ ਹੁੰਦਾ ਹੈ। ਸੰਤੁਲਿਤ ਜੀਵਨ-ਦ੍ਰਿਸ਼ਟੀ ਹੀ ਮਨੁੱਖ ਨੂੰ ਸਿਰਜਣਾਤਮਕ ਬਣਾਉਂਦੀ ਹੈ। ਇਸੇ ਨਾਲ ਹੀ ਮਨੁੱਖੀ ਸਭਿਆਚਾਰ ਗਤੀਸ਼ੀਲ ਬਣਦਾ ਹੈ। ਇਸ ਦੀ ਅਣਹੋਂਦ ਵਿੱਚ ਮਨੁੱਖੀ ਸਮਾਜ ਦੇ ਇਕ ਗਤੀਹੀਣ, ਅਕਿਰਿਆਸ਼ੀਲ ਇਕਾਈ ਬਣ ਜਾਣ ਦੀਆਂ ਸੰਭਾਵਨਾਵਾਂ ਪੈਦਾ ਹੁੰਦੀਆਂ ਹਨ। ਇਹ ਇੱਕ ਅਜਿਹੀ

* ਮੁਖੀ, ਪੰਜਾਬੀ ਵਿਭਾਗ, ਡੀ.ਏ.ਵੀ. ਕਾਲਜ, ਅਬੋਹਰ,

ਇਕਾਈ ਹੁੰਦੀ ਹੈ, ਜਿਸ ਵਿੱਚ ਮਨੁੱਖੀ ਚੇਤਨਾ ਆਪਣੇ ਆਲੇ-ਦੁਆਲੇ ਦੇ ਸੰਸਾਰ ਨਾਲੋਂ ਟੁੱਟ ਕੇ ਸੰਚਾਰ ਦੀ ਪੱਧਰ 'ਤੇ ਅਜਿਹੀ ਸੰਰਚਨਾ ਦੀ ਰਚਨਾ ਵਲ ਰੁਚਿਤ ਹੁੰਦੀ ਹੈ, ਜਿਸ ਵਿੱਚ ਬੁਨਿਆਦੀ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਗਤੀ ਦੀ ਅਣਹੋਂਦ ਹੁੰਦੀ ਹੈ। ਇਸ ਨਾਲ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਮਰਿਆਦਾ ਦੇ ਭੰਗ ਹੋਣ ਦੀਆਂ ਅਮੁੱਕ ਸੰਭਾਵਨਾਵਾਂ ਦਾ ਸਿਲਸਿਲਾ ਚੱਲ ਪੈਂਦਾ ਹੈ।

ਅਜਿਹੇ ਵੇਲੇ ਅਜਿਹੀ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਚੇਤਨਾ ਦੀ ਜ਼ਰੂਰਤ ਹੁੰਦੀ ਹੈ, ਜਿਹੜੀ ਪ੍ਰਾਪਤ ਸਥਿਤੀ ਨਾਲ ਸੰਵਾਦ ਰਚਾਉਂਦੀ ਹੋਈ, ਅਜਿਹੇ ਪ੍ਰਵਚਨ ਦੀ ਸਿਰਜਨਾ ਕਰੇ, ਜਿਸ ਨਾਲ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਕ੍ਰਾਂਤੀ ਦੀਆਂ ਸੰਭਾਵਨਾਵਾਂ ਪੈਦਾ ਹੋ ਸਕਣ ਅਤੇ ਇਸ ਸੰਕਟ ਵਿੱਚੋਂ ਮਾਨਵ-ਮੁਕਤੀ ਲਈ ਦਿਸ਼ਾ ਨਿਰਦੇਸ਼ ਪ੍ਰਾਪਤ ਹੋ ਸਕੇ।

ਮੱਧਕਾਲੀ ਪੰਜਾਬ ਅਜਿਹਾ ਹੀ ਇਤਿਹਾਸਕ ਪੜਾਅ ਹੈ, ਜਿਥੇ ਪੰਜਾਬੀ ਸਭਿਆਚਾਰ ਉਪਰੋਕਤ ਭਾਂਤ ਦੇ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਸੰਕਟ ਦਾ ਸ਼ਿਕਾਰ ਹੋਇਆ। ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਬਾਣੀ ਵਿੱਚ ਅਜਿਹੇ ਸੰਕਟ ਦੀ ਵਿਆਪਕਤਾ ਵਲ ਸੰਕੇਤ ਕੀਤੇ ਗਏ ਹਨ। ਤੱਤਕਾਲੀ ਸਮਾਜਕ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਸਥਿਤੀ ਦਾ ਪਤਨਮੁਖੀ ਰੂਪ ਭਰਪੂਰ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਚਿਤਰਿਆ ਗਿਆ ਹੈ, ਜਿਵੇਂ:

ਕਲਿ ਕਾਤੀ ਰਾਜੇ ਕਾਸਾਈ
ਧਰਮੁ ਪੰਖਿ ਕਰਿ ਉਡਰਿਆ ॥
ਕੂੜੁ ਅਮਾਵਸ ਸਚੁ ਚੰਦ੍ਰਮਾ
ਦੀਸੈ ਨਾਹੀ ਕਹ ਚੜਿਆ ॥
ਹਉ ਭਾਲਿ ਵਿਕੁੰਨੀ ਹੋਈ
ਆਧੈਰੈ ਰਾਹੁ ਨ ਕੋਈ ॥
ਵਿਚਿ ਹਉਮੈ ਕਰਿ ਦੁਖੁ ਰੋਈ ॥
ਕਰੁ ਨਾਨਕ ਕਿਨਿ ਬਿਧਿ ਗਤਿ ਹੋਈ ॥⁴

ਇਹ ਸੰਕਟ ਕੇਵਲ ਪੰਜਾਬ ਦਾ ਹੀ ਨਹੀਂ ਸਗੋਂ ਉਸ ਸਮੇਂ ਦੇ ਸਮੁੱਚੇ ਭਾਰਤ ਦਾ ਸਮਾਜਿਕ-ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਸੰਕਟ ਸੀ। ਇਸ ਦੇ ਪ੍ਰਤੀਕਰਮ ਵਜੋਂ ਹੀ ਭਗਤੀ ਲਹਿਰ ਪੈਦਾ ਹੋਈ। ਪੰਜਾਬ ਵਿੱਚ ਭਗਤੀ ਲਹਿਰ ਗੁਰਬਾਣੀ ਦੀ ਕਾਵਿ-ਪਰੰਪਰਾ ਦੇ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਸਾਹਮਣੇ ਆਈ। ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਬਾਣੀ ਇਸ ਕਾਵਿ-ਪਰੰਪਰਾ ਦਾ ਉਦੈ ਬਿੰਦੂ ਹੈ। ਇਥੇ ਸਾਡੀ ਚਰਚਾ ਦਾ ਵਿਸ਼ਾ ਵੀ ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਬਾਣੀ ਦੀ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਭੂਮਿਕਾ ਅਤੇ ਸਾਰਥਕਤਾ ਹੈ।

ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਜੀ ਦੇ ਆਗਮਨ ਸਮੇਂ ਪੰਜਾਬ ਵਿੱਚ ਹਰ ਪਾਸੇ ਜੀਵਨ ਦੇ ਹਰ ਖੇਤਰ ਵਿੱਚ ਅਰਾਜਕਤਾ ਦਾ ਮਾਹੌਲ ਸੀ। 'ਇਤਿਹਾਸਕ ਦ੍ਰਿਸ਼ਟੀ ਤੋਂ ਆਦਿ ਗ੍ਰੰਥ ਬਾਣੀ ਦਾ ਸਿਰਜਣ ਕਾਲ ਭਾਰਤ ਵਿੱਚ ਇਸਲਾਮੀ ਸਭਿਆਚਾਰ ਦੇ ਪ੍ਰਵੇਸ਼ ਅਤੇ ਫੈਲਾਓ ਦਾ ਦੌਰ ਹੈ। ਭਾਰਤ ਦੀ ਉੱਤਰ-ਪੱਛਮੀ ਸੀਮਾ ਵਲੋਂ ਹਮਲਾਵਰ ਦੇ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਪ੍ਰਵੇਸ਼ ਹੋਏ ਇਸ ਸਭਿਆਚਾਰ ਨੇ ਸ਼ੁਰੂ ਸ਼ੁਰੂ ਵਿੱਚ ਪੰਜਾਬ ਅਤੇ ਉਸਦੇ ਨਾਲ ਲੱਗਦੇ ਇਲਾਕਿਆਂ ਨੂੰ ਨਿਰੰਤਰ ਹਮਲਿਆਂ ਰਾਹੀਂ ਧਾੜਵੀ ਲੁੱਟ-ਖਸ਼ੋਟ ਦਾ ਸ਼ਿਕਾਰ ਬਣਾਇਆ।⁵ ਦਹਿਸ਼ਤ ਅਤੇ ਦਮਨ ਦੇ ਵਾਤਾਵਰਣ ਵਿੱਚ ਆਮ ਲੋਕਾਈ ਦਾ ਮਨੋਬਲ ਡਿੱਗਦਾ ਗਿਆ। ਢਹਿੰਦੀਆਂ ਕਲਾ ਵਾਲੀ ਮਾਨਸਿਕਤਾ ਦੇ ਸਿੱਟੇ ਵਜੋਂ ਪਤਨਮੁਖੀ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਸਥਿਤੀ ਪੈਦਾ ਹੋਈ। ਅਰਥਾਂ ਅਤੇ ਮੁੱਲਾਂ ਦਾ ਸਮੁੱਚਾ ਪ੍ਰਬੰਧ ਵਿਗੜਨ ਤੋਂ ਚੁੱਕਾ ਸੀ। ਸਮਕਾਲੀ ਸਮਾਜਿਕ ਸਥਿਤੀ ਦੇ ਸੰਦਰਭ ਵਿੱਚ ਇਹ ਨਿਰਾਰਥਕ ਹੁੰਦਾ ਗਿਆ ਅਤੇ ਇਸ ਖਲਾਅ ਨੂੰ ਭਰਨ ਲਈ ਪਾਖੰਡ ਅਤੇ ਦੰਭ ਮੁੱਖ ਭੂਮੀ ਵਿੱਚ ਆਉਂਦਾ ਗਿਆ। ਇਹ ਦੋ ਸਭਿਆਚਾਰਾਂ ਦੇ ਟਕਰਾਓ ਦਾ ਸਮਾਂ ਸੀ। ਜੇਤੂ ਸਭਿਆਚਾਰ ਜਿਸ ਨੂੰ ਅਸੀਂ ਸਾਮੀ-ਸਭਿਆਚਾਰ ਦੇ ਨਾਂ ਨਾਲ ਜਾਣਦੇ ਹਾਂ, ਸਥਾਨਕ ਸਭਿਆਚਾਰ ਨੂੰ ਬੁਰੀ ਤਰ੍ਹਾਂ ਤਹਿਸ-ਨਹਿਸ ਕਰੀ ਜਾ ਰਿਹਾ ਸੀ। ਸਮਾਜਕ ਪੱਧਰ ਤੇ ਕੁਲੀਨ-ਜਾਤੀ ਇਸ ਜੇਤੂ ਸਭਿਆਚਾਰ ਦੀ ਸੱਤ੍ਰਾ ਵਿੱਚ ਭਾਈਵਾਲ ਬਣ ਰਹੀ ਸੀ ਅਤੇ ਆਮ ਜਨ ਸਮੂਹ ਸਿਥਲ ਹੋ ਕੇ ਹਰ ਕਿਸਮ ਦੀ ਅਨੈਤਿਕਤਾ ਦਾ ਭਾਗੀ ਬਣ ਰਿਹਾ ਸੀ।

ਅਜਿਹੀ ਸਥਿਤੀ ਵਿੱਚ ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਬਾਣੀ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਚੇਤਨਾ ਦੇ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਸਾਹਮਣੇ ਆਈ। ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਜੀ ਨੇ ਸਮਕਾਲੀ ਸਾਧਨਾਂ-ਪ੍ਰਣਾਲੀਆਂ ਨਾਲ ਸੰਵਾਦ ਰਚਾਉਂਦੇ ਹੋਏ ਸਭਿਆਚਾਰਕ-ਕ੍ਰਾਂਤੀ ਦੇ ਪ੍ਰਵਚਨ ਦੀ ਸਿਰਜਣਾ ਕੀਤੀ। ਇਸ ਪ੍ਰਵਚਨ ਨੇ ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਬਾਣੀ ਦੇ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਸਾਰਥਕ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਭੂਮਿਕਾ ਨਿਭਾਈ। ਗੁਰਮਤਿ ਦੇ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਇੱਕ ਨਵੇਂ ਗਿਆਨ ਅਨੁਸ਼ਾਸਨ ਦਾ ਮੁੱਢ ਬੰਨਿਆ। ਉਹਨਾਂ ਦੀ ਬਾਣੀ ਅਸਲੋਂ ਸੰਵਾਦ ਆਧਾਰਿਤ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਚੇਤਨਾ ਦੀ ਕਾਵਿਕ-ਅਭਿਵਿਅਕਤੀ ਹੈ।⁶

ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਬਾਣੀ ਵਿੱਚ ਪੇਸ਼ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਚੇਤਨਾ ਦਾ ਮਹੱਤਵਪੂਰਨ ਪਹਿਲੂ ਸਮਾਜਿਕ ਪੱਧਰ 'ਤੇ ਦੱਬੇ ਕੁਚਲੇ ਲੋਕਾਂ ਦੇ ਹੱਕ ਵਿੱਚ ਆਵਾਜ਼ ਬੁਲੰਦ ਕਰਨ ਨਾਲ ਸਾਹਮਣੇ ਆਉਂਦਾ ਹੈ। ਹਾਕਮਾਂ ਦੀ ਲੁਟ ਖਸ਼ੂਟ ਦਾ ਸ਼ਿਕਾਰ ਮਿਹਨਤੀ ਲੋਕਾਂ, ਕਿਸਾਨਾਂ, ਕਿਰਤੀਆਂ ਅਤੇ ਜਾਤੀ ਪ੍ਰਥਾ ਦਾ ਸੰਤਾਪ ਹੰਢਾਉਂਦੇ ਵਰਗਾਂ ਦਾ ਪੱਖ ਪੂਰ ਦੀ ਕੋਈ ਨਾਨਕ ਬਾਣੀ ਇਕ ਨਵੇਂ ਸਮਾਜ ਦਾ ਸੰਕਲਪ ਪੇਸ਼ ਕਰਦੀ ਹੈ:

ਨੀਚਾ ਅੰਦਰਿ ਨੀਚ ਜਾਤਿ
 ਨੀਚੀ ਹੂ ਅਤਿ ਨੀਚ ॥
 ਨਾਨਕ ਤਿੰਨ ਕੈ ਸੰਗ ਸਾਥਿ
 ਵਡਿਆ ਸਿਉ ਕਿਆ ਰੀਸ ॥
 ਜਿਥੈ ਨੀਚ ਸਮਾਲੀਅਨਿ
 ਤਿਥੈ ਨਦਰਿ ਤੇਰੀ ਬਖਸੀਸ ॥⁷

ਅਧਿਆਤਮਕ ਮੁਹਾਵਰੇ ਵਿੱਚ ਸਮਕਾਲੀ ਯਥਾਰਥ ਦਾ ਵਿਸ਼ਲੇਸ਼ਣ ਕਰਦੇ ਹੋਏ ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਜੀ ਆਪਣੇ ਸਮਾਜਿਕ ਆਦਰਸ਼ ਨੂੰ ਅਗਰਭੂਮੀ ਵਿੱਚ ਲਿਆਉਂਦੇ ਹਨ। ਇਸ ਧਾਰਨਾ ਨੂੰ ਸਵੀਕਾਰਦੇ ਹੋਏ ਰੂਸੀ ਚਿੰਤਕ ਸ਼੍ਰੀ ਆਈ ਸਰਬਰੀਆਕੋਵ ਲਿਖਦੇ ਹਨ, “ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇ ਵਿਚਾਰ ਸਮਾਜਿਕ ਆਦਰਸ਼-ਚਿੰਤਰਾਂ ਦੇ ਰੰਗ ਵਿੱਚ ਰੰਗੇ ਹੋਏ ਹਨ, ਇੱਕ ਅਦਲੀ ਸਮਾਜਿਕ ਨਿਜ਼ਾਮ ਦੇ ਅਜਿਹੇ ਸੁਫਲਿਆਂ ਵਿੱਚ ਰੰਗੇ ਹੋਏ ਹਨ, ਜਿਹੜੇ ਕਿਰਤ ਕਰਨ ਵਾਲੇ ਲੋਕਾਂ ਦੇ ਦਿਲਾਂ ਵਿੱਚ ਯੁਗਾਂ ਤੋਂ ਧੜਕਦੇ ਆ ਰਹੇ ਹਨ। ਆਪਣੀਆਂ ਕਿਰਤਾਂ ਵਿੱਚ ਸਾਮੰਤਵਾਦੀ ਪੰਜਾਬ ਦੇ ਸਭ ਤੋਂ ਨੀਵੇਂ ਤਬਕੇ ਕਿਸਾਨਾਂ, ਵਪਾਰੀਆਂ, ਕਾਰੀਗਰਾਂ ਦੀ ਭਾਵਨਾ ਦਾ ਪ੍ਰਤੀਬਿੰਬ ਪੇਸ਼ ਕਰਦਿਆਂ ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਨੇ ਆਪਣੇ ਵਿਚਾਰਾਂ ਰਾਹੀਂ ਆਉਣ ਵਾਲੇ ਲੰਮੇ ਸਮੇਂ ਲਈ ਲੋਕ-ਤੰਤਰੀ ਤੇ ਅਗਾਂਹਵਧੂ ਪੰਜਾਬੀ ਵਿਚਾਰਧਾਰਾ ਦੇ ਵਿਕਾਸ ਨੂੰ ਸੇਧ ਦਿੱਤੀ।⁸

ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਬਾਣੀ ਸਮਕਾਲੀ ਭੌਤਿਕ ਸਮਾਜਿਕ ਵਿਹਾਰ ਦੀ ਸਮੀਖਿਆ ਹੀ ਨਹੀਂ ਕਰਦੀ, ਸਗੋਂ ਤਿੱਖੀ ਆਲੋਚਨਾ ਕਰਦੀ ਹੈ। ਸੱਤਾਧਾਰੀ ਸ਼੍ਰੇਣੀ ਦੇ ਲੋਟੂ ਕਿਰਦਾਰ ਨੂੰ ਕਾਂਟੇ ਹੇਠ ਲਿਆਉਂਦੀ ਹੈ। ਇੰਜ ਇਹ ਸ਼ੋਸ਼ਣਕਾਰੀ ਵਿਚਾਰਧਾਰਾ ਨੂੰ ਵੰਗਾਰਦੀ ਹੈ। ਦਰਅਸਲ ਉਸ ਵੇਲੇ ਜਿਹੜਾ ਸਮੁੱਚਾ ਪ੍ਰਬੰਧ ਹੀ ਅਨਿਆਂਕਾਰੀ ਬਿਰਤੀ ਧਾਰਨ ਕਰ ਚੁੱਕਾ ਸੀ। ਹਰ ਛੋਟਾ-ਵੱਡਾ ਅਹਿਲਕਾਰ ਲੋਟੂ ਸ਼੍ਰੇਣੀ ਦੇ ਹੱਥ ਠੋਕੇ ਵਜੋਂ ਕੰਮ ਕਰ ਰਿਹਾ ਸੀ। ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੀ ਪ੍ਰਚੰਡ ਚੇਤਨਾ ਅਜਿਹੇ ਪ੍ਰਬੰਧ ਉਪਰ ਤਿੱਖਾ ਪਰਹਾਰ ਕਰਦੀ ਹੈ ਜਿਵੇਂ:

ਰਾਜੇ ਸੀਹ ਮੁਕਦਮ ਕੁਤੇ ॥
 ਜਾਇ ਜਗਾਇਨਿ ਬੈਠੇ ਸੁਤੇ ॥
 ਚਾਕਰ ਨਹਦਾ ਪਾਇਨਿ ਘਾਉ ॥
 ਰਤੁ ਪਿਤੁ ਕੁਤਿਹੋ ਚਟਿ ਜਾਹੁ ॥⁹

ਇੰਜ ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਹਾਕਮ ਸ਼੍ਰੇਣੀ ਦੇ ਅਤਿਆਚਾਰ ਦਾ ਪਰਦਾਫਾਸ਼ ਕਰਕੇ ਅਜਿਹੀ ਸਮਾਜਿਕ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਸਿਰਜਣਾ ਦਾ ਸੰਕਲਪ ਪੇਸ਼ ਕਰਦੇ ਹਨ, ਜਿਸ ਵਿੱਚ ਮਨੁੱਖੀ ਸੰਬੰਧਾਂ ਦਾ ਆਧਾਰ ਸੁੱਚੀ ਕਿਰਤ ਬਣਦਾ ਹੈ। ਇਸ ਵਿੱਚ ਠੱਗੀ ਜਾਂ ਲੁੱਟ ਲਈ ਕੋਈ ਥਾਂ ਨਹੀਂ ਹੈ। ਸੰਸਾਰ ਦੀ ਭੌਤਿਕਤਾ ਨੂੰ ਅਧਿਆਤਮਕਤਾ ਅਧੀਨ ਕਰਦੇ ਹੋਏ ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਜੀ ਨੇ ਕਿਰਤ ਕਰਨ ਅਤੇ ਵੰਡ ਛਕਣ ਦੀ ਪ੍ਰੇਰਨਾ ਦੇ ਕੇ ਪਦਾਰਥਕ ਪੱਖੋਂ ਇਕ ਖੁਸ਼ਹਾਲ ਅਤੇ ਵਿਕਸਿਤ ਸਮਾਜ ਦਾ ਸੰਕਲਪ ਪੇਸ਼ ਕੀਤਾ। ਇਸ ਹਾਲ ਦੀ ਪੁਸ਼ਟੀ ਨਾਨਕ ਬਾਣੀ ਦੀਆਂ ਹੇਠ ਲਿਖੀਆਂ ਸਤਰਾਂ ਤੋਂ ਸਹਿਜੇ ਹੀ ਹੋ ਜਾਂਦੀ ਹੈ:

- (1) ਸਾਚੀ ਕਾਰ ਕਮਾਵਣੀ ਹੋਰਿ ਲਾਲਚ ਬਾਦਿ ॥¹⁰
- (2) ਘਾਲਿ ਖਾਇ ਕਿਛੁ ਹਥਹੁ ਦੇਇ
 ਨਾਨਕ ਰਾਹੁ ਪਛਾਣਹਿ ਸੇਇ ॥¹¹
- (3) ਹਕੁ ਪਰਾਇਆ ਨਾਨਕਾ ਉਸੁ ਸੁਅਰ ਉਸੁ ਗਾਇ ॥
 ਗੁਰੁ ਪੀਰੁ ਹਾਮਾ ਤਾ ਭਰੇ ਜਾ ਮੁਰਦਾਰੁ ਨ ਖਾਇ ॥¹²

ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਜੀ ਦਾ ਸਮਾਜ ਜਿਥੇ ਹੋਰ ਸਮਾਜਿਕ ਬੁਰਾਈਆਂ ਨਾਲ ਭਰਪੂਰ ਸੀ, ਉਥੇ ਸਭ ਤੋਂ ਵੱਡੀ ਬੁਰਾਈ ਔਰਤ ਦੀ ਤਿਰਸਕਾਰੀ ਸਥਿਤੀ ਸੀ। ਸਦੀਆਂ ਤੋਂ ਪ੍ਰਚਲਿਤ ਮਾਨਸਿਕਤਾ ਵਿੱਚ ਔਰਤ ਦਾ ਸਥਾਨ ਦੂਜੇਲਾ ਹੀ ਨਹੀਂ ਸਗੋਂ ਦੱਬੀ ਕੁੱਚਲੀ,

ਰੋਲੀ ਹੋਈ, ਨੀਵੇਂ ਦਰਜੇ ਵਾਲੀ, ਨਿੱਘਰੀ ਹੋਈ ਔਰਤ ਵਾਲਾ ਸੀ। ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਜੀਵ-ਆਤਮਾ ਲਈ ਇਸਤਰੀ ਨੂੰ ਚਿਹਨਕ ਬਣਾ ਕੇ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਚਿਹਨ-ਪ੍ਰਬੰਧ ਦੀ ਵਿਰਚਨਾ ਕਰਦੇ ਹਨ। ਇਸਤਰੀ ਨੂੰ ਸਮਾਜਕ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਹਾਸ਼ੀਏ ਤੋਂ ਕੇਂਦਰ ਵਿੱਚ ਲਿਆਉਣਾ ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੀ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਚੇਤਨਾ ਦਾ ਅਹਿਮ ਪਹਿਲੂ ਹੈ। ਕਾਵਿਕ ਪੱਧਰ 'ਤੇ ਅਜਿਹੀ ਚਿਹਨਾਤਮਕ ਸੁਤੰਤਰਤਾ ਨਾਨਕ ਬਾਣੀ ਦੀ ਵੱਡੀ ਪ੍ਰਾਪਤੀ ਹੈ। ਅਜਿਹਾ ਕਰਦੇ ਹੋਏ ਨਾਨਕ ਬਾਣੀ ਅਸੰਤੁਲਿਤ ਸਮਾਜਕ ਸਥਿਤੀ ਨੂੰ ਇਕ ਲਾਜ਼ਮੀ ਸੰਜਮ ਪ੍ਰਦਾਨ ਕਰਦੇ ਹਨ। ਇਕ ਅਜਿਹੀ ਜੀਵਨ-ਸਥਿਤੀ ਜਿਸ ਵਿੱਚ ਮਰਦ-ਔਰਤ ਦੀ ਦਰਜੇਬੰਦੀ ਨੂੰ ਤਾਰਕਿਕ ਮਨੋਵਿਗਿਆਨਕ ਢੰਗ ਨਾਲ ਨਜਿੱਠਿਆ ਗਿਆ ਹੈ। ਨਾਨਕ ਬਾਣੀ ਔਰਤ ਨੂੰ ਸਮਾਜ ਦਾ ਕੇਂਦਰ ਬਣਾ ਕੇ ਪੇਸ਼ ਕਰਦੇ ਹਨ:

ਭੰਡਿ ਜੰਮੀਐ ਭੰਡਿ ਨਿੰਮੀਐ
ਭੰਡਿ ਮੰਗਣੁ ਵੀਆਹੁ ॥
ਭੰਡਹੁ ਹੋਵੈ ਦੋਸਤੀ
ਭੰਡਹੁ ਚਲੈ ਰਾਹੁ ॥
ਭੰਡੁ ਮੁਆ ਭੰਡੁ ਭਾਲੀਐ
ਭੰਡਿ ਹੋਵੈ ਬੰਧਾਨੁ ॥
ਸੋ ਕਿਉ ਮੰਦਾ ਆਖੀਐ
ਜਿਤੁ ਜੰਮਹਿ ਰਾਜਾਨੁ ॥¹³

ਇਸੇ ਤਰ੍ਹਾਂ ਸਤੀ ਪ੍ਰਥਾ ਵਰਗੀ ਭਿਆਨਕ, ਅਪਰਾਧਕ ਅਤੇ ਘਿਣਾਉਣੀ ਪ੍ਰਥਾ ਦਾ ਡੱਟ ਕੇ ਵਿਰੋਧ ਕਰਦੇ ਹੋਏ ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਜੀ ਤੱਤਕਾਲੀ ਸਮਾਜ ਨੂੰ ਸੇਧ ਦਿੰਦੇ ਹਨ। ਇਹ ਵਿਰੋਧ ਹਰ ਪ੍ਰਕਾਰ ਦੀ ਸਮਾਜ ਬੁਰਾਈ ਜਿਵੇਂ ਜਾਤ-ਪਾਤ, ਮੂਰਤੀ ਪੂਜਾ, ਪੁਰਾਣੇ ਨਿਰਾਰਥਕ ਸੰਸਕਾਰਾਂ, ਵਹਿਮਾਂ ਭਰਮਾਂ, ਕਰਾਮਾਤਾਂ, ਰਿਧੀਆਂ-ਸਿੰਧੀਆਂ, ਜੰਤਰ ਮੰਤਰ, ਸੁੱਚ-ਭਿੱਟ, ਪੂਜਾ ਵਿਧੀਆਂ ਦੀ ਨਿਰਾਰਥਕਤਾ ਆਦਿ ਵਿਰੋਧ ਦਰਜ ਕੀਤਾ ਗਿਆ। ਦਰਅਸਲ ਇਹਨਾਂ ਬੁਰਾਈਆਂ ਦਾ ਪ੍ਰਚਲਨ ਧਾਰਮਕ, ਸਮਾਜਕ ਸੱਤਾਧਾਰੀਆਂ ਦੀ ਸੱਤਾ ਨੂੰ ਕਾਇਮ ਰੱਖਣ ਲਈ ਹੀ ਹੋ ਰਿਹਾ ਸੀ। ਸਮਾਜਿਕ ਨਾਬਰਾਬਰੀ ਨੂੰ ਕਾਇਮ ਰੱਖ ਕੇ ਹੀ ਸੱਤਾ-ਤੰਤਰ ਆਪਣੀ ਅਜ਼ਾਦਗੀ ਨੂੰ ਕਾਇਮ ਰੱਖਣ ਵਿੱਚ ਕਾਮਯਾਬ ਹੁੰਦਾ ਹੈ। ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਬਾਣੀ ਅਜਿਹੀ ਅਜ਼ਾਦਗੀ ਨੂੰ ਨਕਾਰਦੀ, ਵੰਗਾਰਦੀ ਹੋਈ ਆਪਣੀ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਚੇਤਨਾ ਨੂੰ ਸਾਰਥਕ ਬਣਾਉਂਦੀ ਹੈ।

ਆਪਣੇ ਸਮੇਂ ਦੇ ਸਮਾਜ ਦਾ ਖੰਡਨ ਕਰਦੇ ਹੋਏ ਆਤਮਾ-ਪਰਮਾਤਮਾ ਦੇ ਸੰਬੰਧਾਂ ਨੂੰ ਦ੍ਰਿਸ਼ਮਾਨ ਕਰਨ ਲਈ ਵਰਤੇ ਗਏ ਬਿੰਬ-ਵਿਧਾਨ ਤੋਂ ਇਸ ਗੱਲ ਦਾ ਪਤਾ ਲੱਗਦਾ ਹੈ ਕਿ ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਨੇ ਵਿਅਕਤੀ, ਸਮਾਜ, ਕੌਮ, ਰਾਜ ਅਤੇ ਵਿਸ਼ਵ ਦੇ ਸਿਰਜਣਾਤਮਕ ਤੱਤਾਂ ਉੱਪਰ ਧਿਆਨ ਕੇਂਦਰਿਤ ਕੀਤਾ ਹੈ। ਇੰਜ ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਬਾਣੀ ਇਕ ਅਜਿਹਾ ਗਿਆਨ ਅਨੁਸ਼ਾਸਨ ਹੈ, ਜਿਹੜਾ ਮਨੁੱਖ ਦੀ ਸਭਿਆਚਾਰ-ਸਿਰਜਣ ਦੀ ਪ੍ਰਕਿਰਿਆ ਵਿੱਚ ਅਹਿਮ ਭੂਮਿਕਾ ਨਿਭਾਉਂਦਾ ਹੈ ਅਤੇ ਨਿਭਾਉਣ ਲਈ ਸਾਰਥਕ ਵੀ ਹੈ। ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਬਾਣੀ ਅਜਿਹਾ ਚਿਹਨ ਪ੍ਰਬੰਧ ਸਿਰਜਦੀ ਹੈ, ਜਿਹੜਾ ਸਥਾਪਤ ਚਿਹਨ ਪ੍ਰਬੰਧ ਨੂੰ ਬੁਧ ਵਿਵੇਕ ਦੀ ਪੱਧਰ 'ਤੇ ਵਿਸਥਾਪਤ ਕਰਦਾ ਹੋਇਆ ਮਨੁੱਖੀ ਸਭਿਆਚਾਰ ਦੀ ਅਰਥ ਭਰਪੂਰ ਕਲਪਨਾ-ਸੰਕਲਪਨਾ ਨੂੰ ਹੋਂਦ ਵਿੱਚ ਲਿਆਉਂਦਾ ਹੈ। ਇਸ ਨਾਲ ਇੱਕ ਨਵੀਂ ਵਿਸ਼ਵ ਦ੍ਰਿਸ਼ਟੀ ਦਾ ਮੁੱਢ ਬੱਝਦਾ ਹੈ। 'ਯਥਾਰਥ ਨੂੰ ਪਰਮਾਰਥ ਦੇ ਦ੍ਰਿਸ਼ਟੀਕੋਣ ਤੋਂ ਪਰਿਭਾਸ਼ਿਤ ਕਰਨ ਵਾਲੀ ਇਹ ਵਿਸ਼ਵ-ਦ੍ਰਿਸ਼ਟੀ ਮਨੁੱਖੀ ਜੀਵਨ ਨੂੰ ਅੰਤਿਮ ਅਰਥਾਂ ਦੇ ਸੰਦਰਭ ਨਾਲ ਸੰਬੰਧਤ ਕਰਕੇ ਪ੍ਰਸਤੁਤ ਕਰਦੀ ਹੈ।¹⁴

ਹਰ ਮਨੁੱਖੀ ਸਮੂਹ ਦੀ ਆਪਣੀ ਰਹਿਣੀ-ਬਹਿਣੀ, ਬੋਲੀ ਅਤੇ ਸਾਹਿਤ ਹੁੰਦਾ ਹੈ। ਕਿਸੇ ਦਬਾਓ ਹੇਠ ਆਪਣੀ ਕੌਮ ਹੀ ਵਿਲੱਖਣਾ ਨੂੰ ਗੁਆ ਕੇ ਕੋਈ ਮਨੁੱਖੀ ਸਮੂਹ ਵਿਕਾਸ ਨਹੀਂ ਕਰ ਸਕਦਾ। ਇਸਲਾਮਿਕ ਪ੍ਰਭਾਵ ਹੇਠ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਪੱਧਰ ਤੇ ਜੋ ਗੁਲਾਮ ਮਾਨਸਿਕਤਾ ਪੈਦਾ ਹੋਈ ਅਤੇ ਜਿਸ ਦੇ ਸਿੱਟੇ ਵਜੋਂ ਪੰਜਾਬੀ/ਭਾਰਤੀ ਸਭਿਆਚਾਰ ਨੂੰ ਢਾਅ ਲੱਗੀ, ਉਸ ਦਾ ਖੰਡਨ ਕਰਦੇ ਹੋਏ ਨਾਨਕ ਬਾਣੀ ਆਪਣੀ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਭੂਮਿਕਾ ਅਤੇ ਸਾਰਥਕਤਾ ਦੀਆਂ ਸਿਖਰਾਂ ਨੂੰ ਪ੍ਰਾਪਤ ਹੁੰਦੀ ਹੈ:

ਆਦਿ ਪੁਰਖ ਕਉ ਅਲਹੁ ਕਹੀਐ ਸੇਖਾਂ ਆਈ ਵਾਰੀ ॥
ਦੇਵਲ ਦੇਵਤਿਆਂ ਕਰੁ ਲਾਗਾ ਐਸੀ ਕੀਰਤਿ ਚਾਲੀ ॥
ਕੂਜਾ ਬਾਰਾ ਨਿਵਾਜ ਮੁਸਲਾ ਨੀਲ ਰੂਪ ਬਨਵਾਰੀ ॥
ਘਰਿ ਘਰਿ ਮੀਆਂ ਸਭਨਾ ਜੀਆ ਬੋਲੀ ਅਵਰ ਤੁਮਾਰੀ ॥¹⁵

ਅਜਿਹੀ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਚੇਤਨਾ ਦਾ ਪ੍ਰਦਰਸ਼ਨ ਕਰਦੇ ਹੋਏ ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਬਾਣੀ ਆਪਣੀ ਸਾਰਥਕ ਭੂਮਿਕਾ ਨਿਭਾਉਂਦੀ ਹੈ।

ਉਪਰੋਕਤ ਸੰਖੇਪ ਵਿਚਾਰ ਚਰਚਾ ਵਿੱਚ ਨਾਨਕ ਬਾਣੀ ਦੇ ਅਹਿਮ ਨੁਕਤਿਆਂ ਨੂੰ ਸਮਝਣ ਦੀ ਕੋਸ਼ਿਸ਼ ਕੀਤੀ ਗਈ ਹੈ। ਇਸ ਨਾਲ ਨਾਨਕ ਬਾਣੀ ਇਕ ਸਹਿਜ ਵਿਸਮਾਦੀ ਸਰਮਾਏ ਦੇ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਸਵੀਕਾਰ ਕੀਤੀ ਜਾਣੀ ਚਾਹੀਦੀ ਹੈ। ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਬਾਣੀ ਜਿਸ ਮਾਨਵਵਾਦੀ ਸੰਦੇਸ਼ ਦੀ ਸਿਰਜਣਾ ਕਰਦੀ ਹੈ, ਉਸ ਦੀ ਸਮਕਾਲੀ ਸਮਿਆਂ ਵਿੱਚ ਭੂਮਿਕਾ ਉਦੋਂ ਹੀ ਸੰਭਵ ਹੋਵੇਗੀ, ਜਦੋਂ ਅਸੀਂ ਬਾਣੀ ਦੇ ਸੰਦੇਸ਼ ਨੂੰ ਵਰਤਮਾਨ ਗਿਆਨ-ਅਨੁਸ਼ਾਸਨ ਦੀ ਕਸੌਟੀ ਤੇ ਪਰਖਦੇ ਹੋਏ ਇਸਨੂੰ ਗਿਆਨ ਪਰੰਪਰਾ ਦਾ ਹਿੱਸਾ ਬਣਾਵਾਂਗੇ। ਨਾਨਕ ਬਾਣੀ ਵਿਚਲੀ ਭਾਵਨਾ ਦਾ ਸੰਚਾਰ ਕਰਕੇ ਹੀ ਅਸੀਂ ਸਮਕਾਲੀ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਸੰਕਟਾਂ ਦਾ ਸਾਹਮਣਾ ਕਰਨ ਦੇ ਯੋਗ ਹੋ ਸਕਦੇ ਹਾਂ। ਨਾਨਕ-ਬਾਣੀ ਦੀ ਭਾਵਨਾ ਮਨੁੱਖੀ ਏਕਤਾ, ਸਾਂਝੀਵਾਲਤਾ ਦੇ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਜਿਸ ਇਤਿਹਾਸਕ ਹਕੀਕਤ ਦੀ ਮੰਗ ਕਰਦੀ ਹੈ; ਉਹ ਸ਼੍ਰੇਣੀ ਰਹਿਤ ਸਮਾਜ ਹੈ। ਨਾਨਕ-ਬਾਣੀ ਸਿਧਾਂਤਕ ਅਤੇ ਵਿਵਹਾਰ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਇਸ ਦੀ ਪ੍ਰਾਪਤੀ ਲਈ ਲੋੜੀਂਦੀਆਂ ਜੁਗਤਾਂ ਨਾਲ ਓਤ-ਪੋਤ ਹੈ। ਨਾਨਕ ਬਾਣੀ ਦੀ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਭੂਮਿਕਾ ਇਸ ਦੇ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਕ੍ਰਾਂਤੀ ਦੇ ਸੰਦੇਸ਼ ਵਿੱਚ ਨਹਿਤ ਹੈ।

ਹਵਾਲੇ ਤੇ ਟਿੱਪਣੀਆਂ:

1. ਗੁਰਬਖਸ਼ ਸਿੰਘ, ਸਭਿਆਚਾਰ- ਜਾਣ ਪਛਾਣ, ਪੰਨਾ 25
2. ਡਾ. ਜਗਬੀਰ ਸਿੰਘ, ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਬਾਣੀ ਵਿੱਚ ਸਭਿਆਚਾਰ ਦਾ ਸੰਕਲਪ, ਸਭਿਆਚਾਰ ਪੱਤ੍ਰਿਕਾ, ਅੰਕ 2, ਪੰਨਾ 91
3. ਗੁਰਬਚਨ ਸਿੰਘ, ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਬਾਣੀ ਵਿੱਚ ਉਸਰਨ ਵਾਲਾ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਮਾਡਲ, ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਬਾਣੀ: ਸੰਚਾਰ ਜੁਗਤਾਂ, ਪੰਨਾ 97
4. ਆਦਿ ਗ੍ਰੰਥ, ਪੰਨਾ 145
5. ਡਾ. ਜਗਬੀਰ ਸਿੰਘ, ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਕ੍ਰਾਂਤੀ ਅਤੇ ਮਾਨਵ ਮੁਕਤੀ ਦਾ ਪ੍ਰਵਚਨ: ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ ਸਾਹਿਬ, ਨਾਨਕ ਪ੍ਰਕਾਸ਼ ਪੱਤ੍ਰਿਕਾ, ਜੂਨ 2000, ਪੰਨਾ 9
6. ਡਾ. ਰਤਨ ਸਿੰਘ ਜੱਗੀ, ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ ਸਾਹਿਬ ਵਿੱਚ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਚੇਤਨਾ, ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਪੱਤ੍ਰਿਕਾ, ਅੰਕ 2, ਪੰਨਾ 2
7. ਆਦਿ ਗ੍ਰੰਥ, ਪੰਨਾ 15
8. ਆਈ ਸਰਬਰੀਆਕੋਵ, ਮੇਰੀ ਨਜ਼ਰ ਵਿੱਚ ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ, ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ: ਇੱਕ ਦ੍ਰਿਸ਼ਟੀਕੋਣ, ਪੰਨਾ 12
9. ਆਦਿ ਗ੍ਰੰਥ, ਪੰਨਾ 1288
10. ਉਹੀ -, ਪੰਨਾ 1010
11. ਉਹੀ -, ਪੰਨਾ 1245
12. ਉਹੀ -, ਪੰਨਾ 141
13. ਉਹੀ -, ਪੰਨਾ 473
14. ਜਗਬੀਰ ਸਿੰਘ, ਮੱਧਕਾਲੀ ਸ਼ਬਦ ਸਭਿਆਚਾਰ, ਪੰਨਾ 11
15. ਆਦਿ ਗ੍ਰੰਥ, ਪੰਨਾ 1191

ਜਰਨੈਲ ਸਿੰਘ ਸਿੰਘ ਦੀ ਕਹਾਣੀ 'ਪਾਣੀ' ਵਿੱਚ ਪੀੜੀ ਪਾੜਾ

ਡਾ. ਇਕਬਾਲ ਸਿੰਘ ਸੰਧੂ*

'ਪਾਣੀ' ਕਹਾਣੀ ਵਿੱਚ ਦੇਸ਼ ਅਤੇ ਵਿਦੇਸ਼ ਵਿੱਚ ਟੁੱਟ ਰਹੀ ਭਾਈਚਾਰਕ ਸਾਂਝ ਦਾ ਪ੍ਰਮਾਣ ਪੇਸ਼ ਕਰਦੀ ਹੈ। ਇਹ ਕਹਾਣੀ ਦੀ ਪ੍ਰਮੁੱਖ ਪਾਤਰ ਸੁਖਜੀਤ ਕੌਰ ਪ੍ਰਵਾਸੀ ਪੰਜਾਬੀਆਂ ਦੀ ਪਹਿਲੀ ਪੀੜੀ ਨਾਲ ਸੰਬੰਧਿਤ ਹੈ। ਉਸ ਦਾ ਬੇਟਾ ਰਾਜੂ ਗੋਰੀ ਨਸਲ ਦੀ ਕੁੜੀ ਸ਼ੈਰਨ ਨਾਲ ਵਿਆਹ ਕਰਵਾ ਲੈਂਦਾ ਹੈ। ਸੁਖਜੀਤ ਕੌਰ ਦਾ ਪਤੀ ਬਲਦੇਵ ਸਿੰਘ ਪੱਛਮੀ ਸਮਾਜ ਨਾਲ ਸੁਰ-ਤਾਲ ਕਾਇਮ ਕਰ ਲੈਂਦਾ ਹੈ, ਪਰ ਸੁਰਜੀਤ ਕੌਰ ਪੰਜਾਬੀ ਸੱਭਿਆਚਾਰ ਨਾਲ ਮੋਹ ਰੱਖਣ ਵਾਲੀ ਹੈ। ਉਸ ਦੇ ਵੱਸੋ ਬਾਹਰਾ ਹੈ ਕਿ ਉਹ ਪੱਛਮੀ ਰੰਗ-ਢੰਗ ਵਿਚ ਢਲ ਸਕੇ। ਇਸੇ ਲਈ ਉਸ ਨੂੰ ਆਪਣੀ ਨੂੰ ਸ਼ੈਰਨ ਪਸੰਦ ਨਹੀਂ ਆਉਂਦੀ। ਹੋਰਨਾਂ ਪ੍ਰਵਾਸੀ ਪੰਜਾਬੀਆਂ ਵਾਂਗ ਉਹ ਵੀ ਰਾਜੂ ਦਾ ਵਿਆਹ ਪੰਜਾਬ ਤੋਂ ਆਈ ਕਿਸੇ ਕੁੜੀ ਨਾਲ ਕਰਨਾ ਚਾਹੁੰਦੀ ਸੀ। ਸਮੇਂ ਦੀ ਨਜ਼ਾਕਤ ਪਹਿਚਾਣਦੀ ਹੋਈ ਹਾਲਾਤ ਨਾਲ ਸਮਝੌਤਾ ਕਰ ਲੈਂਦੀ ਹੈ। ਇਹ ਕਹਾਣੀ ਮੁੱਖ ਤੌਰ 'ਤੇ ਸੁਖਜੀਤ ਕੌਰ ਦੇ ਮਾਨਸਿਕ ਪਸਾਰ ਨਾਲ ਸੰਬੰਧਿਤ ਹੈ। ਸਥਿਤੀ ਉਦੋਂ ਤਣਾਉਪੂਰਨ ਹੁੰਦੀ ਹੈ, ਜਦੋਂ ਰਾਜੂ ਮਾਂ ਨੂੰ ਪਿੰਡ ਵਿਚਲੀ ਜ਼ਮੀਨ ਵੇਚ ਕੇ ਘਰ ਵਿੱਚ ਸਵਿਮਿੰਗ ਪੂਲ ਬਣਾਉਣ ਲਈ ਕਹਿੰਦਾ ਹੈ। ਰਾਜੂ ਪੱਛਮੀ ਧਰਤੀ ਉੱਤੇ ਜੰਮਿਆ-ਪਲਿਆ ਹੋਣ ਕਾਰਨ ਵਿਦੇਸ਼ੀ ਸੱਭਿਆਚਾਰ ਨਾਲ ਮੋਹ ਰੱਖਣ ਵਾਲਾ ਹੈ। ਉਸ ਨੂੰ ਮਾਪਿਆਂ ਦੀ ਜ਼ਮੀਨ ਨਾਲ ਕੋਈ ਸਰੋਕਾਰ ਨਹੀਂ। ਉਸ ਦੇ ਅਨੁਸਾਰ ਸਵਿਮਿੰਗ ਪੂਲ ਹੀ ਘਰ ਦੀ ਸ਼ਾਨ ਹੈ। ਰਾਜੂ ਅਤੇ ਸ਼ੈਰਨ ਦੋਵੇਂ ਹੀ ਜ਼ਿੰਦਗੀ ਦਾ ਪੂਰਾ ਅਨੰਦ ਮਾਣਨਾ ਚਾਹੁੰਦੇ ਹਨ। ਸਵਿਮਿੰਗ ਪੂਲ ਸੁਖਜੀਤ ਕੌਰ ਅਤੇ ਉਸ ਦੇ ਨੂੰਹ-ਪੁੱਤਰ ਵਿਚਕਾਰ ਤਣਾਉ ਪੈਦਾ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਪੰਜਾਬੀ ਸੱਭਿਆਚਾਰ ਨਾਲ ਮੋਹ ਰੱਖਣ ਵਾਲੀ ਮਾਂ ਦੀ ਭਾਵਨਾ, ਨੂੰਹ-ਪੁੱਤਰ ਨਹੀਂ ਸਮਝ ਸਕਦੇ। ਉਹ ਮਾਂ ਨੂੰ ਸਮਝਾਉਂਦੇ ਹਨ ਕਿ ਪਿੰਡ ਵਾਲੀ ਜ਼ਮੀਨ ਦਾ ਕੀ ਲਾਭ ਹੈ? ਸੁਖਜੀਤ ਕੌਰ ਨੂੰ ਪੰਜਾਬ ਵਿਚਲੀ ਜ਼ਮੀਨ ਨਾਲ ਮੋਹ ਹੈ। ਉਹ ਕਿਸੇ ਵੀ ਕੀਮਤ ਉੱਤੇ ਆਪਣੀਆਂ ਜੜ੍ਹਾਂ ਨਾਲੋਂ ਨਹੀਂ ਸੀ ਟੁੱਟਣਾ ਚਾਹੁੰਦੀ। ਉਸ ਨੂੰ ਗਹਿਰੀ ਠੋਸ ਉਦੋਂ ਲੱਗਦੀ ਹੈ, ਜਦੋਂ ਉਸ ਦੇ ਚਾਰੇ ਦੇ ਪੁੱਤਰ ਭੁੱਪੀ ਦਾ ਪੰਜਾਬ 'ਚੋਂ ਫੋਨ ਆਉਂਦਾ ਹੈ:

ਭੈਣ ਜੀ! ਸਤਿ ਸ੍ਰੀ ਅਕਾਲ.... ਸੁਣਾਓ ਕੀ ਹਾਲ ਐ? ਠੀਕ ਐ ਭੁੱਪੀ.... ਤੁਸੀਂ ਕਿੱਦਾਂ, ਸਾਰੇ ਠੀਕ ਠਾਕ ਓ? ਹਾਂ.... ਆਂ.... ਠੀਕ ਈ ਐ.... ਭੈਣ ਜੀ!.... ਮੈਂ.... ਮੈਂ.... ਅਸਲ ਵਿੱਚ ਏਸ ਕਰਕੇ ਫੋਨ ਕੀਤੈ ਤੁਹਾਡੀ ਜ਼ਮੀਨ ਦਾ ਮੁਖਤਿਆਰਨਾਮਾ ਚਾਹੀਦਾ। ਮੁਖਤਿਆਰਨਾਮਾ? ਕਾਹਦੇ ਲਈ? ਗੱਲ ਏਦਾਂ ਐ.... ਪਈ ਪੰਜਾਬ ਦੀ ਜ਼ਮੀਨ ਬੱਲਿਓ ਪਾਣੀ ਮੁੱਕ ਗਿਐ। ਜ਼ਮੀਨ ਵੇਚ ਕੇ ਮੈਂ ਕੋਈ ਹੋਰ ਜੁਗਾੜ ਫਿੱਟ ਕਰਨਾ ਚਾਹੁੰਨਾ ਹਾਂ। ਚਾਚਾ ਜੀ ਨਾਲ ਗੱਲ ਕਰਾ ਤਾਂ। ਉਹ ਬਿਮਾਰ ਨੇ। ਭੁੱਪੀ ਦਾ ਉੱਤਰ ਸੀ। ਸੁਖਜੀਤ ਕੌਰ ਨੂੰ ਇੰਝ ਲੱਗਾ ਜਿਵੇਂ ਉਸ ਦਾ ਚਾਚਾ ਫੋਨ ਦੇ ਲਾਗੇ ਹੀ ਮੰਜੇ 'ਤੇ ਪਿਆ ਹੁੰਗ ਰਿਹਾ ਹੋਵੇ। ਅਚਾਨਕ ਟੈਲੀਫੋਨ ਦੀ ਲਾਈਨ ਜਿਵੇਂ ਟੁੱਟ ਗਈ! ਜ਼ਮੀਨ ਬੱਲਿਓ ਪਾਣੀ ਮੁੱਕ ਗਿਐ.... ਪਾਣੀ ਮੁੱਕ ਗਿਐ? ਸੁੱਤ ਉਨੀਂਦੀ ਹਾਲਤ ਵਿੱਚ ਬੁੜਬੁੜਾਉਂਦਿਆਂ ਸੁਖਜੀਤ ਕੌਰ ਨੂੰ ਠੀਕ ਤਰ੍ਹਾਂ ਪਤਾ ਹੀ ਨਹੀਂ ਸੀ ਲੱਗ ਰਿਹਾ ਕਿ ਫੋਨ ਸੱਚਮੁੱਚ ਹੀ ਆਇਆ ਸੀ ਜਾਂ ਉਸ ਨੇ ਕੋਈ ਸੁਪਨਾ ਵੇਖਿਆ ਸੀ।¹

ਪਾਣੀ ਦਾ ਮੁੱਕ ਜਾਣਾ ਇੱਥੇ ਪ੍ਰਤੀਕਾਤਮਕ ਅਰਥ ਗ੍ਰਹਿਣ ਕਰ ਜਾਂਦਾ ਹੈ। ਇਹ ਗਰਜ਼ਾਂ ਅਤੇ ਕਾਮਨਾਵਾਂ ਦੇ ਸਾਹਮਣੇ ਮੋਹ-ਪਿਆਰ ਦੇ ਰਿਸ਼ਤਿਆਂ ਦੇ ਟੁੱਟਣ ਦਾ ਲਖਾਇਕ ਹੋ ਨਿਬਣਦਾ ਹੈ। ਪੈਸੇ ਦੀ ਅੰਨ੍ਹੀ ਦੌੜ 'ਚ ਲੱਗਾ ਮਨੁੱਖ ਨਿੱਜੀ ਰਿਸ਼ਤਿਆਂ ਨੂੰ ਖਤਮ ਕਰ ਬੈਠਾ ਹੈ। ਸੁਖਜੀਤ ਕੌਰ ਸਦਾ ਲਈ ਹੀ ਵਿਦੇਸ਼ੀ ਸੱਭਿਆਚਾਰ ਨੂੰ ਨਫ਼ਰਤ ਕਰਦੀ ਹੈ ਅਤੇ ਆਪਣੇ ਦੇਸ਼ ਨੂੰ ਮੋਹ ਕਰਦੀ ਰਹੀ ਹੈ, ਪਰ ਹੁਣ ਮੋਹ, ਉਦਰੇਵੇਂ ਤੇ ਤੜਫ ਦੀ ਆਖਰੀ ਕੜੀ ਵੀ ਟੁੱਟ ਗਈ ਸੀ। ਹੋਰ ਪ੍ਰਵਾਸੀ ਪੰਜਾਬੀਆਂ ਦੀ ਤਰ੍ਹਾਂ ਸੁਖਜੀਤ ਕੌਰ ਵੀ ਆਪਣੀ ਸੱਭਿਆਚਾਰਕ ਹੋਂਦ ਬਚਾਈ ਰੱਖਣ ਲਈ ਨਿਰੰਤਰ ਯਤਨਸ਼ੀਲ ਰਹਿੰਦੀ ਹੈ। ਸੁਖਜੀਤ ਕੌਰ ਸ਼ੈਰਨ ਵਿੱਚ ਪੂਰਬੀ ਅਤੇ ਪੱਛਮੀ ਸੱਭਿਆਚਾਰ ਟਕਰਾਓ ਪੈਦਾ ਹੁੰਦਾ ਹੈ। ਦੋਹਾਂ ਵਿੱਚ ਖਾਣ-ਪੀਣ, ਰਹਿਣ-ਸਹਿਣ, ਭਾਸ਼ਾ, ਆਦਤਾਂ ਦਾ ਢੇਰ ਅੰਤਰ ਹੈ। ਨੂੰਹ ਨੂੰ ਸੱਸ ਦੇ ਸਮਾਜਿਕ ਭਾਈਚਾਰੇ ਨਾਲ ਮੇਲ-ਜੋਲ ਰੱਖਣ ਵਿੱਚ ਕੋਈ ਦਿਲਚਸਪੀ ਨਹੀਂ। ਉਸ ਦੀ ਮਾਨਸਿਕਤਾ ਪੰਜਾਬੀ ਸੱਭਿਆਚਾਰ ਨੂੰ ਸਮਝਣ ਅਤੇ ਮੰਨਣ ਤੋਂ ਇਨਕਾਰੀ ਹੈ:

*ਐਸੋਸੀਏਟ ਪ੍ਰੋਫੈਸਰ, ਪੋਸਟ ਗ੍ਰੈਜੂਏਟ, ਪੰਜਾਬੀ ਵਿਭਾਗ, ਡੀ.ਏ.ਵੀ. ਕਾਲਜ, ਅਬੋਹਰ

ਪਤੀ ਨਾਲ ਕਾਰ ਵਿੱਚ ਬਹਿੰਦਿਆਂ ਉਸ ਦੀ ਨਿਗ੍ਹਾਂ ਸ਼ੈਰਨ ਵੱਲ ਚਲੀ ਗਈ। ਨਿਆਣਿਆਂ ਨੂੰ ਆਪਣੀ ਕਾਰ ਵਿੱਚ ਬਿਠਾ ਰਹੀ, ਉਹ ਉਹ ਕਿੰਨੀ ਖੁਸ਼ ਸੀ। ਉਸ ਦੀ ਸਰੂਰ ਭਰੀ ਚਾਲ-ਚਾਲ ਸੁਖਜੀਤ ਕੌਰ ਲਈ ਓਪਰੀ ਨਹੀਂ ਸੀ। ਜਦੋਂ ਵੀ ਕਿਤੇ ਬੀਚ ਉਤੇ ਜਾਂ ਬਾਹਰ ਘੁੰਮਣ ਫਿਰਨ ਜਾਣਾ ਹੁੰਦਾ ਤਾਂ ਸ਼ੈਰਨ ਇਸੇ ਰਾਉਂ ਵਿੱਚ ਹੁੰਦੀ ਸੀ..... ਜਿਵੇਂ ਨੱਚਦੀ ਫਿਰ ਰਹੀ ਹੋਵੇ। ਸੁਖਜੀਤ ਕੌਰ ਅੰਦਰ ਗਿਲਾ ਜਿਹਾ ਉੱਠ ਪਿਆ, ਜੇ ਕਹੋ ਕਿ ਚੱਲ ਕਿਸੇ ਗਿਸ਼ਤੇਦਾਰ ਦੇ ਹੋ ਆਈਏ ਤਾਂ ਫਟ ਦੇਣੀ ਨਾਂਹ ਕਰ ਦਉ। ਕਦੀ ਭਾਵੇਂ ਜੇ ਮੂਡ ਹੋਵੇ ਤਾਂ ਤੁਰ ਪਏ। ਇਕ ਵੇਰਾਂ ਇਹ ਬਾਬਤ ਉਹ ਨੂੰਹ ਨੂੰ ਜੋ ਗੁੱਸੇ ਹੋਈ ਤਾਂ ਨੂੰਹ ਦਾ ਜਵਾਬ ਸੀ, ਮਾਮ!..... ਤੁਹਾਡੀਆਂ ਗਿਸ਼ਤੇਦਾਰ ਔਰਤਾਂ ਪੰਜਾਬੀ ਗੱਲਾਂ ਵਿੱਚ ਐਨੀਆਂ ਮਸਤ ਹੋ ਜਾਂਦੀਆਂ ਨੇ ਕਿ ਉਨ੍ਹਾਂ ਨੂੰ ਸੁਰਤ ਹੀ ਨਹੀਂ ਰਹਿੰਦੀ ਕਿ ਮੈਂ ਵੀ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਕੋਲ ਬੈਠੀ ਆਂ.... ਮੇਰੇ ਨਾਲ ਤਾਂ ਉਹ ਗੱਲਾਂ ਹੀ ਨਹੀਂ ਕਰਦੀਆਂ। ਮੈਂ ਬੋਰ ਹੋਈ ਜਾਨੀ ਆਂ।

ਸ਼ੈਰਨ ਵਿਅਕਤੀਵਾਦੀ ਰੁਚੀਆਂ ਰੱਖਣ ਵਾਲੀ ਲੜਕੀ ਹੈ। ਉਸ ਨੂੰ ਬਾਹਰ ਘੁੰਮਣਾ-ਫਿਰਨਾ ਅਤੇ ਹੋਟਲਾਂ ਵਿੱਚ ਖਾਣਾ-ਪੀਣਾ ਚੰਗਾ ਲੱਗਦਾ ਹੈ। ਪੱਛਮੀ ਸਮਾਜ ਵਿੱਚ ਹਰ ਕੋਈ ਆਪਣੀ ਜ਼ਿੰਦਗੀ ਦਾ ਲੁਤਫ ਲੈਣਾ ਚਾਹੁੰਦਾ ਹੈ। ਸੁਖਜੀਤ ਕੌਰ ਪੰਜਾਬੀ ਨੂੰ ਨੂੰਹ ਦੀ ਅਧੂਰੀ ਰਹਿ ਗਈ ਅਕਾਂਖਿਆ ਵਾਰ-ਵਾਰ ਸਤਾਉਂਦੀ ਹੈ:

ਉਹ ਕਿਹੋ ਜਿਹੇ ਪਲ ਹੁੰਦੇ ਜੇ ਇਸ ਵਕਤ ਉਹ ਸੱਸ ਰਲ ਕੇ ਸਰੋਂ, ਪਾਲਕ ਅਤੇ ਬਰੋਕਲੀ ਨੂੰ ਛਿੱਲ ਚੀਰ ਕੇ ਸਾਗ ਬਣਾ ਰਹੀਆਂ ਹੁੰਦੀਆਂ.... ਤੇ ਨਾਲ ਦੀ ਨਾਲ ਬੀਤੇ ਹਫਤੇ ਦੀਆਂ ਜਮ੍ਹਾਂ ਹੋਈਆਂ ਗੱਲਾਂ ਵੀ ਸਾਂਝੀਆਂ ਕਰ ਰਹੀਆਂ ਹੁੰਦੀਆਂ ਪਰ ਕਿਥੇ.... ਨਾ ਖਾਣ ਪੀਣ ਦੀ ਸਾਂਝ ਤੇ ਨਾ ਬੋਲੀ ਦੀ।

ਕਹਾਣੀ ਵਿੱਚ ਤਣਾਓ ਪਸਰਿਆਂ ਰਹਿੰਦਾ ਹੈ ਕਿਉਂਕਿ ਨੂੰਹ ਸੱਸ ਦੋਵੇਂ ਹੀ ਇੱਕ-ਦੂਜੇ ਦੀ ਮਾਨਸਿਕਤਾ ਨੂੰ ਸਮਝਣੋਂ ਅਸਮਰੱਥ ਹਨ। ਸੁਖਜੀਤ ਕੌਰ ਦਾ ਪਤੀ ਬਲਦੇਵ ਸਿੰਘ ਪੱਛਮੀ ਸੱਭਿਆਚਾਰ ਵਿੱਚ ਪੂਰੀ ਤਰ੍ਹਾਂ ਢਲਿਆ ਵਿਖਾਇਆ ਹੈ। ਉਸ ਨੂੰ ਆਪਣੇ ਬੱਚਿਆਂ ਦੇ ਅੰਤਰ ਨਸਲੀ ਵਿਆਹਾਂ ਸਬੰਧੀ ਕੋਈ ਗਿਲਾ ਨਹੀਂ ਹੈ। ਸਿਰਫ ਸੁਖਜੀਤ ਕੌਰ ਪਰਿਵਾਰਕ ਇਕਾਈ ਵਿੱਚ ਵਾਪਰ ਰਹੀ, ਇਸ ਅੰਦਰੂਨੀ ਟੁੱਟ-ਭੱਜ ਵਿੱਚ ਇਕੱਲੀ ਹੈ। ਉਸ ਦੀ ਸਥਿਤੀ ਚੱਕੀ ਦੇ ਦੋ ਦੋਹਾਂ ਪੁੜਾਂ ਵਿੱਚ ਪਿਸਣ ਵਾਲੀ ਹੈ। ਪਿਛਲੇ ਪਰਿਵਾਰ ਦਾ ਮੋਹ ਵੱਖ ਸਤਾਉਂਦਾ ਹੈ। ਘਰ ਵਿੱਚ ਸਵਿਮਿੰਗ ਪੂਲ ਬਣਾਉਣ ਦੀ ਜਿਦ ਕਰਨ ਵਾਲੇ ਨੂੰਹ-ਪੁੱਤ, ਸੁਖਜੀਤ ਕੌਰ ਨੂੰ ਦੇਸ਼ ਵਾਲੀ ਜ਼ਮੀਨ ਵੇਚਣ ਲਈ ਮਜਬੂਰ ਕਰਦੇ ਹਨ। ਸੁਖਜੀਤ ਕੌਰ ਨੂੰ ਇਹ ਜ਼ਮੀਨ ਆਪਣੇ ਮਾਂ-ਪਿਓ ਦੀ ਹੱਦ ਅਤੇ ਆਪਣੀ ਸ਼ਨਾਖਤ ਨਾਲ ਜੁੜੀ ਪ੍ਰਤੀਤ ਹੁੰਦੀ ਹੈ, ਨੂੰਹ-ਪੁੱਤਰ ਲਈ ਇਹ ਜ਼ਮੀਨ ਕੇਵਲ ਇੱਕ ਟੁੱਕੜਾ ਹੈ, ਜਿਸ ਨੂੰ ਵੇਚ ਕੇ ਪੈਸਿਆਂ ਦਾ ਪ੍ਰਬੰਧ ਕੀਤਾ ਜਾ ਸਕਦਾ ਹੈ। ਸੁਖਜੀਤ ਕੌਰ ਉਸ ਸਮੇਂ ਵੀਹ ਹਜ਼ਾਰ ਡਾਲਰ ਪਿੱਛੋਂ ਮੰਗਾ ਚੁੱਕੀ ਹੈ, ਜਦੋਂ ਕੈਨੇਡਾ ਵਿੱਚ ਉਸ ਨੇ ਘਰ ਬਣਾਇਆ ਸੀ। ਰਾਜੂ ਦੇ ਬੋਲ ਸੁਖਜੀਤ ਕੌਰ ਦੀ ਸਥਿਤੀ ਨੂੰ ਹੋਰ ਗੰਭੀਰ ਬਣਾ ਦਿੰਦੇ ਹਨ:

ਮੇਰਾ ਮਤਲਬ ਐ ਕਿ ਆਪਾਂ ਤੁਹਾਡੀ ਜ਼ਮੀਨ ਸੇਲ ਕਰ ਦਈਏ। ਸੇਲ ਸ਼ਬਦ ਸੁਖਜੀਤ ਕੌਰ ਦੇ ਸਿਰ 'ਤੇ ਬੰਬ ਵਾਂਗ ਫਟਿਆ ਦਿਲ ਖੱਲੇ ਡਿੱਗਦਾ ਜਾਪਿਆ.... ਸਰੀਰ ਤੁੱਲੀ-ਤੁੱਲੀ ਹੋ ਗਿਆ.... ਉਸ ਨੂੰ ਇੰਝ ਲੱਗਾ ਜਿਵੇਂ ਉਸ ਦਾ ਪੁੱਤਰ ਉਸ ਦੀਆਂ ਜੜ੍ਹਾਂ ਨਾਲ ਜੁੜੀ ਹੋਈ ਮਿੱਟੀ ਨੂੰ ਖੁਰਚ ਕੇ ਕਿਸੇ ਗਾਰਬੇਜ ਦੇ ਟੋਏ ਵਿੱਚ ਸੁੱਟਣੀ ਚਾਹ ਰਿਹਾ ਹੋਵੇ.... ਪਲਾਂ ਵਿੱਚ ਹੀ ਉਸ ਦੀਆਂ ਨਸਾਂ ਵਿੱਚ ਟੈਨਸ਼ਨ ਆ ਵੜੀ।

ਰਾਜੂ ਪੱਛਮੀ ਸੱਭਿਆਚਾਰ ਨਾਲ ਮੋਹ ਰੱਖਦਾ ਹੈ। ਉਸ ਨੂੰ ਮਾਪਿਆਂ ਦੀ ਜ਼ਮੀਨ ਨਾਲ ਕੋਈ ਸਰੋਕਾਰ ਨਹੀਂ। ਉਹ ਜੋ ਬਣਾ ਰਿਹਾ ਸੀ, ਉਸ ਮੁਤਾਬਿਕ ਦੀ ਘਰ ਦੀ ਸ਼ਾਨ ਸੀ। ਉਧਰ ਸੁਖਜੀਤ ਕੌਰ ਦੀ ਹਾਲਤ ਬਣ ਰਹੇ ਸਵਿਮਿੰਗ ਪੂਲ ਨੂੰ ਵੇਖ ਕੇ ਇਸ ਪ੍ਰਕਾਰ ਹੈ: ਜਿਵੇਂ ਬਣ ਰਹੇ ਸਵਿਮਿੰਗ ਪੂਲ ਦੀਆਂ ਨੀਹਾਂ ਹੇਠ ਉਸ ਦੇ ਪੁਰਖਿਆਂ ਦੀ ਜ਼ਮੀਨ ਦੱਬੀ ਜਾ ਰਹੀ ਹੋਵੇ....ਜਿਵੇਂ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੀਆਂ ਮੋਟਰਾਂ ਦਾ ਪਾਣੀ ਸੂਤ ਕੇ ਸਵਿਮਿੰਗ ਪੂਲ ਦੇ ਢਿੱਡ 'ਚ ਪਾਇਆ ਜਾ ਰਿਹਾ ਹੋਵੇ।

ਸ਼ੈਰਨ ਵੀ ਆਪਣੇ ਮਨ ਦੀ ਗੱਲ ਸੱਸ ਅੱਗੇ ਰੱਖਦੀ ਹੈ:

.... ਜ਼ਿੰਦਗੀ ਕਿਨਾਰਿਆਂ 'ਤੇ ਬੈਠ ਕੇ ਜੀਣ ਵਾਲੀ ਚੀਜ਼ ਨਹੀਂ ਸੋ ਜੋ ਮਜਾ ਪਾਣੀ ਵਿੱਚ ਕੁੱਦਣ, ਪਾਣੀ ਨਾਲ ਖਹਿਣ-ਖੇਡਣ ਤੇ ਪਾਣੀ 'ਤੇ ਸਵਾਰ ਹੋਣ 'ਚ ਆਉਂਦਾ ਏ, ਉਹ ਕਿਨਾਰੇ 'ਤੇ ਬੈਠ ਕੇ ਨਹੀਂ ਆ ਸਕਦਾ।

ਇਹ ਸਾਰੀਆਂ ਗੱਲਾਂ ਸੁਖਜੀਤ ਕੌਰ ਦੇ ਮਨ ਨੂੰ ਠੇਸ ਪਹੁੰਚਾਉਂਦੀਆਂ ਹਨ। ਉਸ ਨੂੰ ਆਪਣੇ ਪੁੱਤਰ ਨਾਲੋਂ ਨੂੰਹ ਦੀਆਂ ਗੱਲਾਂ ਵਧੇਰੇ ਚੁਭੀਆਂ:

DAV SHODHDHARA

ਸੁਖਜੀਤ ਕੌਰ ਦਾ ਮਨ ਘੱਟ ਰਹੀ ਟੈਨਸ਼ਨ ਵਿੱਚ ਵਧਣ ਲੱਗ ਪਈ, ਉਹ ਅੰਦਰ ਹੀ ਅੰਦਰ ਕੁੜਨ ਲੱਗੀ, ਮੈਨੂੰ ਲਾ ਕੇ ਗੱਲ ਕੀਤੀ ਏ ਕਿੰਨੀ ਸ਼ੈਤਾਨ ਨਾ ਇਹ ਇਸ ਘਰ 'ਚ ਆਉਂਦੀ, ਨਾ ਸਵਿਮਿੰਗ ਪੂਲ ਦਾ ਸਿਆਪਾ ਖੜ੍ਹਾ ਹੁੰਦਾ। ਪਤਾ ਨਹੀਂ ਕਦੋਂ ਦੀ ਰਾਜੂ ਨੂੰ ਪੱਟੀ ਪੜ੍ਹਾ ਰਹੀ। ਉਹੋ ਜਿਹਾ ਮਿੱਟੀ ਦਾ ਮਾਧੋ ਉਹ। ਆਖੋ, ਮਾਮ ਤੁਹਾਡੀ ਜ਼ਮੀਨ.... ਕਿੱਥੇ ਮੇਰੇ 'ਤੇ ਜਾਣ ਦੇਣ ਵਾਲੇ ਮੇਰੇ ਚਾਚਾ ਜੀ ਤੇ ਕਿੱਥੇ ਆਪਣੇ ਹੀ ਸਰੂਰ 'ਚ ਆਕੜੀ ਹੋਈ, ਦੂਜਿਆਂ 'ਚ ਨਾ ਭਿੱਜਣ ਆਲੀ ਇਹ ਸ਼ੈਰਨ।'

ਸੁਖਜੀਤ ਕੌਰ ਨੂੰ ਇਹ ਗੱਲਾਂ ਧੁਰ ਅੰਦਰ ਤੱਕ ਸਾੜ ਦਿੰਦੀਆਂ ਹਨ। ਕੈਨੇਡਾ ਵਿਚਲਾ ਪਾਣੀ ਅਤੇ ਪੰਜਾਬ ਵਿਚਲਾ ਮੁੱਕ ਚੁੱਕਾ ਪਾਣੀ ਸੁਖਜੀਤ ਕੌਰ ਨੂੰ ਦੁੱਖ ਦਿੰਦੇ ਹਨ। ਉਹ ਮਾਨਸਿਕ ਤੌਰ 'ਤੇ ਦੁਬਿਧਾ ਵਿੱਚ ਰਹਿੰਦੀ ਹੈ। ਉਸ ਨੂੰ ਵਿਦੇਸ਼ੀ ਸੁੱਖਾਂ ਨਾਲੋਂ ਆਪਣਾ ਪਿਤਾ-ਪੁਰਖੀ ਧੰਦਾ ਖੇਤੀਬਾੜੀ ਉੱਤਮ ਲੱਗਦਾ ਹੈ:

ਟਿਊਬਵੈਲ-ਟ੍ਰੈਕਟਰ ਨਾਲ ਸੁਖਜੀਤ ਦੇ ਚਾਚੇ ਪੰਜਾਬ ਸਿੰਘ ਅੰਦਰ ਇੱਕ ਨਵਾਂ ਜੋਸ਼ ਭਰ ਚੁੱਕਾ ਸੀ। ਹਰੇ ਇਨਕਲਾਬ ਕਰਕੇ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦਿਨਾਂ ਵਿੱਚ ਨਵੇਂ ਬੀਜਾਂ ਤੇ ਖਾਦਾਂ ਦੀ ਵਰਤੋਂ ਨਾਲ, ਉਸ ਦੀ ਫਸਲ ਬੰਨਿਆਂ ਤੋਂ ਬਾਹਰ ਹੋ ਹੋ ਪੈਂਦੀ। ਉਹ ਆਪਣੇ ਅਤੇ ਠੋਕੇ 'ਤੇ ਲਏ ਖੇਤਾਂ ਵਿੱਚ ਕੰਮ ਦੇ ਸਿਰ 'ਤੇ ਚੜ੍ਹਿਆ ਰਹਿੰਦਾ। ਉਸ ਦੀ ਘਰਵਾਲੀ ਜੱਸ ਕੌਰ ਲਵੇਰੀਆਂ ਸਾਂਭਦੀ। ਸੁਖਜੀਤ ਦੀ ਬੀਜੀ ਪੰਨ ਕੌਰ ਰਸੋਈ ਅਤੇ ਘਰ ਦੇ ਹੋਰ ਕੰਮਾਂ 'ਚ ਲੱਗੀ ਰਹਿੰਦੀ। ਜਦੋਂ ਕਾਲਜ ਅਤੇ ਸਕੂਲ ਵਿੱਚ ਛੁੱਟੀਆਂ ਹੁੰਦੀਆਂ ਤਾਂ ਸੁਖਜੀਤ ਅਤੇ ਭੁੱਪੀ ਵੀ ਖੇਤਾਂ ਵਿੱਚ ਚਲੇ ਜਾਂਦੇ ਪੰਜਾਬ ਸਿੰਘ ਨਾਲ ਹੱਥ ਵਟਾਉਣ।^੯

ਭੂ-ਹੋਰਵਾ ਅਤੀਤ ਦੀਆਂ ਸੱਭਿਆਚਾਰਕ ਤੰਦਾਂ ਨਾਲ ਮੋਹ ਦੀ ਸਥਾਪਤੀ ਦਾ ਰਿਸ਼ਤਾ ਹੈ। ਉਹ ਬੀਤ ਚੁੱਕੇ ਸਮੇਂ ਨੂੰ ਮੁੜ ਜੀਣਾ ਚਾਹੁੰਦੀ ਹੈ। ਉਹ ਆਪਣੇ ਬੱਚਿਆਂ ਨੂੰ ਵੀ ਆਪਣੇ ਮੁਤਾਬਿਕ ਤੋਰਨਾ ਚਾਹੁੰਦੀ ਹੈ:

ਮਾਈਕਰੋਵੇਵ 'ਚ ਆਲੂ ਉਬਲਣੇ ਰੱਖਦਿਆਂ ਸੁਰਜੀਤ ਕੌਰ ਦਾ ਦਿਲ ਕੀਤਾ ਕਿ ਨੂੰਹ ਪੁੱਤਰ ਦਾ ਬੀਫ ਵਾਲਾ ਪਤੀਲਾ ਬਾਹਰ ਵਗਾਹ ਮਾਰੇ।'

ਸਿੱਟੇ ਵਜੋਂ ਪਹਿਲੀ ਪੀੜ੍ਹੀ ਪਰਵਾਸ ਦਾ ਸੰਤਾਪ ਭੋਗਦੀ ਹੈ ਅਤੇ ਨਾਲ ਹੀ ਬੱਚਿਆਂ ਦੇ ਵਿਰੋਧ ਦਾ ਸ਼ਿਕਾਰ ਹੁੰਦੀ ਹੈ। ਇਹ ਕਹਾਣੀ ਪੁਰਬੀ ਅਤੇ ਪੱਛਮੀ ਦੋਹਾਂ ਸੱਭਿਆਚਾਰਾਂ ਦੇ ਟਕਰਾਉ ਨੂੰ ਪੇਸ਼ ਕਰਦੀ ਹੈ।

ਹਵਾਲੇ ਅਤੇ ਟਿੱਪਣੀਆਂ:

1. ਜਰਨੈਲ ਸਿੰਘ, ਪਾਣੀ, ਪੰਨਾ-56
2. ਉਹੀ -45
3. ਉਹੀ -38
4. ਉਹੀ -36-37
5. ਉਹੀ -39
6. ਉਹੀ - 54
7. ਉਹੀ -37
8. ਉਹੀ -40
9. ਉਹੀ -38

ਬਾਲ-ਸਾਹਿਤਕਾਰ ਗੁਰਦਿਆਲ ਸਿੰਘ: ਅਣਜਾਣੇ ਤੱਥ

ਡਾ. ਤਰਸੇਮ ਸ਼ਰਮਾ*

1955-56 ਦੇ ਕਹਾਣੀ ਲਿਖਣ ਦੇ ਅਭਿਆਸ ਅਤੇ ਸਫਲਤਾ ਨੇ ਗੁਰਦਿਆਲ ਸਿੰਘ ਨੂੰ ਬਾਲ-ਸਾਹਿਤ ਵੱਲ ਆਕਰਸ਼ਿਤ ਕਰ ਲਿਆ। ਇਹ ਉਹ ਸਮਾਂ ਹੈ, ਜਦੋਂ ਸੁਤੰਤਰਤਾ ਉਪਰੰਤ ਰਾਜਨੀਤਕ, ਆਰਥਿਕ, ਸਮਾਜਿਕ ਖੇਤਰ ਵਿਚ ਪਸਰੀ ਹੁੰਦੇ ਲਾਂਭੇ ਹੋਣੀ ਸ਼ੁਰੂ ਹੋ ਜਾਂਦੀ ਹੈ ਅਤੇ ਪੂੰਜੀਵਾਦੀ ਵਿਕਾਸ ਮਾਰਗ 'ਤੇ ਤੁਰਦੀ ਭਾਰਤ ਦੀ ਅਤੇ ਪੰਜਾਬ ਦੀ ਆਰਥਿਕਤਾ ਦਾ ਮੁਹਾਂਦਰਾ ਆਪਣੇ ਅੰਤਰ-ਵਿਰੋਧਾਂ ਅਤੇ ਤਨਾਉਗ੍ਰਸਤ ਅੰਤਰ-ਸਬੰਧਾਂ ਸਮੇਤ ਉੱਘੜ ਕੇ ਸਾਹਮਣੇ ਆ ਜਾਂਦਾ ਹੈ। ਦਿਹਾਤ ਦੇ ਸਮਾਜਿਕ ਅਤੇ ਸੰਸਥਾਵਾਂ ਦੇ ਜੀਵਨ ਦੇ ਕਠੋਰ ਯਥਾਰਥ ਦਾ ਵਿਸ਼ਾਲ ਅਨੁਭਵ, ਵਿਪੰਨ ਵਰਗਾਂ ਦੇ ਲੋਕਾਂ ਦੀਆਂ ਨਿਤਾਪ੍ਰਤੀ ਦੀਆਂ ਸਮੱਸਿਆਵਾਂ ਅਤੇ ਮਾਲਵਾ ਖਿੱਤੇ ਦੇ ਜੀਵਨ ਦਾ ਅਸਲੋਂ ਅਛੂਤਾ ਅਨੁਭਵ ਉਸਦੀ ਕਹਾਣੀ ਦਾ ਵਿਸ਼ਾ ਬਣਿਆ। ਨਵਤੇਜ ਸਿੰਘ, ਮੁਖਬੀਰ ਅਤੇ ਗੁਰਬਖ਼ਸ਼ ਸਿੰਘ ਪ੍ਰੀਤਲੜੀ ਦੀ ਸਾਂਝ ਨੇ ਉਸ ਅੰਦਰਲੀ ਪ੍ਰਤਿਭਾ ਨੂੰ ਹੋਰ ਨਿਖਾਰਿਆ।

ਬਾਲ-ਸਾਹਿਤ ਦੀਆਂ ਲਗਭਗ ਚੌਵੀ ਪੁਸਤਕਾਂ ਦੇ ਰਚਣਗੇ ਗੁਰਦਿਆਲ ਸਿੰਘ ਦੀ ਬਾਲ-ਸਾਹਿਤ ਦੇ ਪਿੜ ਵਿਚ ਦੇਣ ਅਤਿਅੰਤ ਮਹੱਤਵਪੂਰਨ ਹੈ।¹ ਇਸ ਖੇਤਰ ਵਿਚ ਉਸਨੇ ਨਵੀਆਂ ਸਿਨਫਾਂ ਪੈਦਾ ਕੀਤੀਆਂ ਅਤੇ ਬਕਲਮਖੁਦ² ਇਸੇ ਨਵੀਂ ਸਿਨਫ ਦਾ ਸੁੰਦਰ ਨਮੂਨਾ ਹੈ ਜਿਸ ਵਿਚ ਪਾਠਕ ਅਣਗੌਲੇ ਪਾਤਰਾਂ (ਬੱਚਿਆਂ) ਨਾਲ ਮੁਖਾਤਿਬ ਹੁੰਦੇ ਹਨ। ਇਹ ਰਚਨਾਵਾਂ ਉਤਸੁਕਤਾ ਪੈਦਾ ਕਰੀ ਰੱਖਣ ਵਿਚ ਸਫਲ ਹਨ। ਟੁੱਕ ਖੋਹ ਲਏ ਕਾਵਾਂ, ਗੱਪੀਆਂ ਦਾ ਪਿਓ, ਓਮਾ, ਲਿਖਤਮ ਬਾਬਾ ਖੇਮਾ ਆਦਿ ਉਸ ਦੀਆਂ ਉਸੇ ਦੌਰ ਦੀਆਂ ਹੋਰ ਸਿਰਜਣਾਵਾਂ ਹਨ। ਟੁੱਕ ਖੋਹ ਲਏ ਕਾਵਾਂ ਬਾਲ ਨਾਵਲਿਟ ਬਾਲ-ਸਾਹਿਤ ਪਰੰਪਰਾ ਵਿਚ ਸਨਮਾਨਯੋਗ ਵਾਧਾ ਹੈ ਅਤੇ ਨਵਾਂ ਤਜਰਬਾ ਵੀ। ਗੁਰਦਿਆਲ ਸਿੰਘ ਅਨੁਸਾਰ, 'ਸਮਾਂ ਬੀਤਣ ਨਾਲ ਹੌਂਸਲਾ ਵਧਦਾ ਗਿਆ। ਬੱਚਿਆਂ ਲਈ ਕਹਾਣੀਆਂ ਲਿਖਣੀਆਂ ਬੜਾ ਸੌਖਾ ਕੰਮ ਲੱਗਿਆ। ਕਹਾਣੀ ਲਿਖਣ ਦਾ ਇੱਕ ਵੱਖਰਾ ਢੰਗ ਵੀ ਲੱਭ ਗਿਆ। ਢੰਗ ਇਹ ਸੀ ਕਿ ਕੋਈ ਬੱਚਾ ਘਰ, ਸਕੂਲ, ਅਧਿਆਪਕ, ਆਪਣੇ ਨਾਲ ਦੇ ਬੱਚਿਆਂ ਬਾਰੇ ਕਿਵੇਂ ਸੋਚ ਸਕਦਾ ਹੈ, ਇਹ ਲਿਖਣਾ ਮੁਸ਼ਕਲ ਨਹੀਂ ਸੀ ਲੱਗਦਾ। ਉਦੋਂ ਬੱਚਿਆਂ ਲਈ ਸਭ ਤੋਂ ਪ੍ਰਸਿੱਧ ਤੇ ਚੰਗਾ ਰਸਾਲਾ ਬਾਲ-ਸੰਦੇਸ਼ ਸੀ ਜਿਹੜਾ ਬਹੁਤ ਪੜ੍ਹਿਆ ਜਾਂਦਾ ਸੀ। ਬਹੁਤ ਸਾਰੀਆਂ ਕਹਾਣੀਆਂ ਲਿਖ ਕੇ ਤੇ ਫੇਰ ਕਈ-ਕਈ ਵਾਰ ਸੋਚ ਕੇ ਇੱਕ ਕਹਾਣੀ ਬਾਲ-ਸੰਦੇਸ਼ ਦੇ ਸੰਪਾਦਕ, ਨਵਤੇਜ ਸਿੰਘ ਨੂੰ ਭੇਜ ਦਿੱਤੀ। ਕਹਾਣੀ ਦਾ ਨਾਂ ਤਾਂ ਹੋਰ ਸੀ (ਸ਼ਾਇਦ 'ਦੋ ਕੂ ਗੱਲਾਂ') ਪਰ ਕਿਉਂਕਿ ਉਹ ਲਿਖੀ ਇੰਜ ਸੀ ਜਿਵੇਂ ਬੱਚਾ ਖੁਦ ਆਪਣੀ ਕਹਾਣੀ ਸੁਣਾ ਰਿਹਾ ਹੋਵੇ, ਇਸ ਲਈ ਉਹਦੇ ਅਖੀਰ ਵਿਚ ਬੱਚੇ ਦਾ ਕਲਪਿਤ ਨਾਂ ਰੱਖ ਕੇ ਉਹਦੇ ਹੇਠ ਸ਼ਬਦ 'ਬਕਲਮਖੁਦ' ਲਿਖ ਦਿੱਤਾ ਸੀ। (ਇਹ ਉਰਦੂ ਦਾ ਸ਼ਬਦ ਸੀ ਜੋ ਕਚਹਿਰੀਆਂ ਵਿਚ ਵਰਤਿਆ ਜਾਂਦਾ ਸੀ। ਇਹਦੇ ਅਰਥ ਸਨ: 'ਆਪਣੇ ਹੱਥ ਨਾਲ ਆਪ ਲਿਖਿਆ ਹੈ')। ਇਹ ਕਹਾਣੀ ਛਪ ਗਈ ਤਾਂ ਬਹੁਤ ਚਰਚਾ ਹੋਈ। ਫੇਰ ਇੰਜ ਮਹਿਸੂਸ ਹੋਇਆ ਜਿਵੇਂ ਸੱਚਮੁੱਚ ਈ ਲੇਖਕ ਬਣ ਗਿਆ ਹੋਵਾਂ। ਕੁਝ ਭਰੋਸੇ ਕਰਕੇ ਤੇ ਕੁਝ ਬੱਚਿਆਂ ਵੱਲੋਂ ਲਿਖੀ ਕਹਾਣੀ ਦੇ ਨਵੇਂ ਢੰਗ ਕਰਕੇ, ਅਜਿਹੀਆਂ ਕਹਾਣੀਆਂ ਬੱਚਿਆਂ ਤੇ ਵੱਡੀ ਉਮਰ ਦੇ ਪਾਠਕਾਂ ਨੂੰ ਵੀ ਪਸੰਦ ਆਈਆਂ। ਫੇਰ, ਸ਼ਾਇਦ ਅੱਠ-ਦਸ ਕਹਾਣੀਆਂ, ਲਗਾਤਾਰ ਈ ਬਾਲ-ਸੰਦੇਸ਼ ਵਿਚ ਛਪੀਆਂ ਤੇ ਜਿਵੇਂ ਉਹਨਾਂ ਬਾਰੇ ਚਰਚਾ ਹੋਈ ਉਸ ਨਾਲ ਸਵੈ-ਭਰੋਸਾ ਵਧ ਗਿਆ। ਨਾਲ ਈ ਇਹ ਵਿਸ਼ਵਾਸ ਹੋਣ ਲਗ ਪਿਆ ਕਿ ਪੜ੍ਹਨ ਵਾਲੇ ਬੱਚਿਆਂ ਦੇ ਮਨ ਵਿਚ ਵਾਪਰਨ ਵਾਲੇ ਉਤਰਾਅ-ਚੜ੍ਹਾਅ ਤੇ ਉਹਨਾਂ ਨਾਲ ਵਾਪਰੀਆਂ ਘਟਨਾਵਾਂ ਨੂੰ ਦਿਲਚਸਪ ਕਹਾਣੀਆਂ ਵਿਚ ਢਾਲਣ ਦਾ ਢੰਗ ਆ ਗਿਆ ਸੀ। ਇਸੇ ਭਰੋਸੇ ਕਰਕੇ ਬੱਚਿਆਂ ਲਈ ਪਹਿਲੀ ਪੁਸਤਕ ਵੀ ਛਪਵਾ ਲਈ ਜਿਸਦਾ ਨਾਂ ਵੀ ਬਕਲਮਖੁਦ ਰੱਖਿਆ। ਨਵਤੇਜ ਸਿੰਘ ਨੇ ਉਹਦਾ ਮੁਖਬੰਧ ਲਿਖਿਆ। ਉਹ ਉਦੋਂ ਪ੍ਰੀਤਲੜੀ ਤੇ ਬਾਲ-ਸੰਦੇਸ਼ ਦੋਹਾਂ ਦਾ ਸੰਪਾਦਕ ਤੇ ਚੰਗਾ ਕਹਾਣੀਕਾਰ ਹੋਣ ਕਰਕੇ, ਪੰਜਾਬੀ ਪਾਠਕਾਂ 'ਚ ਜਾਣਿਆ-ਪਛਾਣਿਆ ਲੇਖਕ ਸੀ। ਉਸ ਮੁਖਬੰਧ ਕਰਕੇ ਵੀ ਪਾਠਕਾਂ ਦੀ ਦਿਲਚਸਪੀ ਵਧ ਗਈ ਸੀ। ਇੰਜ ਮੈਂ ਬੱਚਿਆਂ ਲਈ ਲਿਖਣ ਵਾਲੇ ਚੰਗੇ ਲੇਖਕਾਂ ਵਿਚ ਸ਼ਾਮਲ ਹੋ ਗਿਆ ਸਾਂ।³

ਛੇਵੇਂ ਦਹਾਕੇ ਦੇ ਅੰਤ ਵਿੱਚ ਗੁਰਦਿਆਲ ਸਿੰਘ ਦੀ ਪਹਿਲੀ ਨਿਵੇਕਲੀ ਪਛਾਣ ਉਸ ਦੀਆਂ ਰੇਖਾ-ਚਿੱਤਰ ਨੁਮਾ ਨਿਵੇਕਲੀ ਸ਼ੈਲੀ ਵਿੱਚ ਪਾਤਰਾਂ ਦੀ ਮਨੋਦਸ਼ਾ ਬਾਰੇ ਬਕਲਮਖੁਦ ਸਿਰਲੇਖ ਅਧੀਨ ਲਿਖੀਆਂ ਕਹਾਣੀਆਂ ਨਾਲ ਬਣੀ। 'ਬਕਲਮਖੁਦ' ਹਕੀਕਤ ਵਿੱਚ ਇਕ ਨਿਵੇਕਲੀ ਭਾਂਤ ਦੀਆਂ ਅਜਿਹੀਆਂ ਕਹਾਣੀਆਂ ਸਨ ਜਿਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਲੇਖਕ ਵਜੋਂ ਗੁਰਦਿਆਲ ਸਿੰਘ ਦੀ ਵੱਖਰੀ ਪਛਾਣ ਸਥਾਪਿਤ ਹੋਈ। ਕਥਾ ਰਸ ਨਾਲ ਭਰਪੂਰ ਹਰ ਚਿੱਤਰ ਵਿੱਚ ਲੇਖਕ ਸਮਕਾਲੀ ਜੀਵਨ ਵਿਚਲੇ ਕਿਸੇ ਅਜਿਹੇ ਪਾਤਰ ਨੂੰ ਅਗਰਭੂਮੀ

*ਐਸੋਸੀਏਟ ਪ੍ਰੋਫੈਸਰ, ਪੋਸਟ ਗ੍ਰੈਜੂਏਟ, ਪੰਜਾਬੀ ਵਿਭਾਗ, ਡੀ.ਏ.ਵੀ. ਕਾਲਜ, ਅਬੋਹਰ

ਵਿੱਚ ਲਿਆਉਂਦਾ ਸੀ, ਜੋ ਕਿਸੇ ਨਾ ਕਿਸੇ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਸਮਾਜ ਵਿੱਚ ਦੁਰਕਾਰਿਆ ਹੋਇਆ ਹੈ। ਅਜਿਹਾ ਪਾਤਰ ਪ੍ਰਗਟ ਤੌਰ 'ਤੇ ਆਪਣੀਆਂ ਕਮਲੀਆਂ-ਰਮਲੀਆਂ ਸੁਣਾਉਣ ਲਈ ਤੱਤਪਰ ਰਹਿੰਦਾ ਹੈ ਅਤੇ ਕੋਸ਼ਿਸ਼ ਕਰਦਾ ਹੈ ਕਿ ਸਰੋਤੇ ਵੱਲੋਂ ਟੋਕੇ ਜਾਣ ਤੋਂ ਪਹਿਲਾਂ-ਪਹਿਲਾਂ ਸਭ ਕੁਝ ਦੱਸ ਜਾਵੇ। ਪਰ ਇਹਨਾਂ ਕਮਲੀਆਂ-ਰਮਲੀਆਂ ਵਿੱਚੋਂ ਪ੍ਰਾਪਤ ਜੀਵਨ ਦੇ ਕਠੋਰ ਯਥਾਰਥ ਦਾ ਇੱਕ ਮਾਰਮਿਕ ਤੇ ਬਹੁਪਰਤੀ ਚਿੱਤਰ ਉਭਰ ਆਉਂਦਾ ਸੀ। ਆਪਣੀ ਕਥਾ ਸੁਣਾਉਣ ਵਾਲੇ ਅਜਿਹੇ ਪਾਤਰ ਕੋਈ ਨਾਇਕ ਨਹੀਂ ਸਨ, ਸਗੋਂ ਬਹੁਤ ਸਾਧਾਰਨ ਪੱਧਰ ਦੇ ਵਿਅਕਤੀ ਸਨ। ਪਰ ਹਰ ਇਕ ਦੀ ਕਹਾਣੀ ਵਿਚਲਾ ਤ੍ਰਾਸਦਕ ਅੰਸ਼ ਪ੍ਰਾਪਤ ਜੀਵਨ ਦੇ ਸਮਾਜਕ ਤੇ ਆਰਥਿਕ ਮੁੱਲਾਂ ਵਿਚਲੇ ਕਿਸੇ ਉਲਾਰ ਦਾ ਦੁੱਖ ਭੋਗ ਰਿਹਾ ਸੀ। ਗੁਰਦਿਆਲ ਸਿੰਘ ਅਨੁਸਾਰ, 'ਬਾਲ-ਸਾਹਿਤ ਦੀਆਂ ਲੋੜਾਂ ਦਾ ਸਿੱਧਾ ਸਬੰਧ ਸਮੇਂ ਤੇ ਸਥਾਨ ਨਾਲ ਜੁੜਿਆ ਹੁੰਦਾ ਹੈ। ਇਤਿਹਾਸਕ, ਸਮਾਜਕ ਤੇ ਸੱਭਿਆਚਾਰਕ ਪ੍ਰਸਥਿਤੀਆਂ ਅਨੁਸਾਰ ਜਿਵੇਂ ਹੋਰ ਮਨੁੱਖੀ ਲੋੜਾਂ ਬਦਲਦੀਆਂ ਹਨ ਉੱਝ ਹੀ ਬਾਲ-ਸਾਹਿਤ ਦੀਆਂ ਲੋੜਾਂ ਵਿਚ ਵੀ ਤਬਦੀਲੀ ਆਉਣੀ ਲਾਜ਼ਮੀ ਹੈ। ਮਿਸਾਲ ਵਜੋਂ ਕਿਸੇ ਸਮੇਂ 'ਮੱਝ ਤੇ ਚਿੜੀ' ਦੀ ਕਹਾਣੀ ਛੋਟੇ ਬੱਚਿਆਂ ਦੀ ਆਮ ਲੋੜ ਸੀ। ਇਹ ਲੋੜ ਪੰਜਾਬੀ ਬਾਲ-ਪਾਠਕਾਂ ਦੇ ਵਸਤੂ-ਸੰਸਾਰ 'ਚੋਂ ਪੈਦਾ ਹੁੰਦੀ ਸੀ। ਸੁਰਤ ਸੰਭਲਦਿਆਂ ਹੀ ਘਰਾਂ ਦੀਆਂ ਛੱਤਾਂ, ਰੋਸ਼ਨਦਾਨਾਂ, ਝਰੋਖਿਆਂ ਵਿਚ ਚਿੜੀਆਂ ਦੇ ਆਲ੍ਹਣੇ ਤੇ ਗਲੀ ਵਿਚ ਬੱਝੀਆਂ ਮੱਝਾਂ ਬੱਚੇ ਲਈ ਜਾਣੇ-ਪਛਾਣੇ ਪਸ਼ੂ-ਪੰਛੀ ਹੁੰਦੇ ਸਨ। ਪਿੰਡਾਂ ਵਿਚ ਹੀ ਨਹੀਂ ਸ਼ਹਿਰਾਂ ਵਿਚ ਮੱਝਾਂ ਤੇ ਚਿੜੀਆਂ ਹਰ ਥਾਂ ਮਿਲ ਜਾਂਦੀਆਂ ਸਨ। ਇਸੇ ਲਈ ਇਨ੍ਹਾਂ ਨਾਲ ਜੁੜੀਆਂ ਕਹਾਣੀਆਂ ਬੱਚਿਆਂ ਦੀ ਲੋੜ ਬਣ ਜਾਂਦੀਆਂ ਸਨ।..... ਪਰ ਸਮਾਂ ਬਦਲਣ ਨਾਲ ਪੰਜਾਬ ਦੇ ਸਮਾਜਕ ਜੀਵਨ ਵਿਚ ਅਜਿਹੀਆਂ ਤਬਦੀਲੀਆਂ ਆਈਆਂ ਹਨ ਕਿ ਹੁਣ ਵੱਡੇ ਸ਼ਹਿਰਾਂ 'ਚ ਕੁਝ ਅਜਿਹੀਆਂ ਬਸਤੀਆਂ ਜ਼ਰੂਰ ਮਿਲ ਜਾਣਗੀਆਂ ਜਿਥੇ ਸੁਰਤ ਸੰਭਾਲਣ ਵਾਲੇ ਬੱਚਿਆਂ ਨੇ ਕਦੇ ਮੱਝ ਦੀ ਸ਼ਕਲ ਵੀ ਨਹੀਂ ਦੇਖੀ ਹੁੰਦੀ। ਇੰਝ ਘੱਟੋ-ਘੱਟ, ਇਨ੍ਹਾਂ ਬਸਤੀਆਂ ਦੇ ਬੱਚਿਆਂ ਦੀ ਲੋੜ ਜ਼ਰੂਰ ਬਦਲ ਗਈ ਹੈ। 'ਮੱਝ ਤੇ ਚਿੜੀ' ਦੀ ਕਹਾਣੀ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੀ 'ਲੋੜ' ਨਹੀਂ ਕਹੀ ਜਾ ਸਕਦੀ। ਜੇ ਕਹਾਣੀ ਦਾ ਮਨੋਰਥ ਅਸੀਂ ਬੱਚੇ ਦੀ ਕਲਪਨਾ-ਸ਼ਕਤੀ ਦਾ ਵਿਕਾਸ ਤੇ ਭਾਵ-ਜਗਤ ਦਾ ਪਾਸਾਰ ਮਿੱਥ ਲਈਏ ਤਾਂ ਅਜਿਹੀ ਕਹਾਣੀ, ਉਸ ਸ਼ਹਿਰੀ ਬੱਚੇ ਦੀ ਲੋੜ-ਪੂਰਤੀ ਨਹੀਂ ਕਰੇਗੀ'⁴

ਇਹਨਾਂ ਸਭਨਾਂ ਪਾਤਰਾਂ ਦੀ ਵਿਸ਼ੇਸ਼ਤਾ ਇਹ ਸੀ ਕਿ ਉਹ ਤ੍ਰਾਸਦਿਕ ਹੋਣੀ ਦੇ ਬਾਵਜੂਦ ਰੌਦੂ ਨਹੀਂ। ਇਹ ਦੱਸਦਿਆਂ ਹੋਇਆਂ ਵੀ ਕਿ ਉਹਨਾਂ ਦੀ ਜ਼ਿੰਦਗੀ ਵਿੱਚ ਕੋਈ ਰਸ ਨਹੀਂ ਅਤੇ ਉਹ ਜੂਨ ਹੀ ਕੱਟ ਰਹੇ ਸਨ, ਜ਼ਿੰਦਗੀ ਨੂੰ ਭਰਪੂਰ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਜਿਉਣ ਤੇ ਮਾਨਣ ਦੀ ਉਹਨਾਂ ਦੀ ਅਕਾਂਖਿਆਂ ਦੀ ਸਪੱਸ਼ਟ ਝਲਕ ਮਿਲਦੀ ਹੈ, ਅਤੇ ਇਹ ਲੱਛਣ ਹੀ ਇਹਨਾਂ ਨੂੰ ਮਹੱਤਵ ਪ੍ਰਦਾਨ ਕਰਦਾ ਸੀ।

ਇਹ ਕਹਾਣੀਆਂ ਬੱਚਿਆਂ ਦੀਆਂ ਕਹਾਣੀਆਂ ਸਨ, ਜਿਨ੍ਹਾਂ ਵਿੱਚ ਬੱਚੇ ਹੀ ਆਪਣੀ ਜਬਾਨੀ ਆਪਣੀਆਂ ਮੁਸ਼ਕਲਾਂ, ਆਪਣੇ ਗਿਲੇ ਤੇ ਸਮਾਜ ਤੋਂ ਅਪਾਣੇ ਨਾਲ ਹੋ ਰਹੀ ਬੇਇਨਸਾਫੀ ਲਈ ਰੋਸ ਪ੍ਰਗਟ ਕਰਦੇ ਸਨ। ਇਹਨਾਂ 'ਕਹਾਣੀਆਂ' ਵਿੱਚ ਆਪਣਾ ਹੀ ਰੰਗ ਸੀ ਤੇ ਇਹ ਵਾਕਈ ਆਪਣੀ ਤਰ੍ਹਾਂ ਦੀਆਂ ਕਹਾਣੀਆਂ ਸਨ। ਕੋਈ ਬੱਚਾ ਆਪਣੀ ਤੋਤਲੀ ਬੋਲੀ ਵਿੱਚ ਆਪਣੇ ਮਾਂ ਦੇ ਖਿਲਾਫ ਜਾਂ ਆਪਣੇ ਕਿਸੇ ਸਾਥੀ ਦੇ ਖਿਲਾਫ ਸ਼ਿਕਾਇਤ ਕਰ ਰਿਹਾ ਹੈ। ਉਹਦੀ ਤੋਤਲੀ ਜਬਾਨ ਭਾਵੇਂ ਆਪਣੇ-ਆਪ ਨੂੰ ਪੂਰੀ ਤਰ੍ਹਾਂ ਨਾ ਪ੍ਰਗਟਾ ਸਕੇ, ਪਰ ਉਹਦੀਆਂ ਗੱਲਾਂ ਕਰਨ ਦਾ ਢੰਗ ਦਿਲਚਸਪੀ ਬਰਕਰਾਰ ਰੱਖਦਾ ਸੀ।

ਇਹਨਾਂ ਕਹਾਣੀਆਂ ਨੂੰ ਪੜ੍ਹ ਕੇ ਗੁਰਦਿਆਲ ਸਿੰਘ ਦੀ ਚੇਤਨ ਬੁੱਧੀ ਵੀ ਪਛਾਣੀ ਜਾਂਦੀ ਹੈ। ਉਹ ਸਾਡੀ ਵਿੱਦਿਆ ਪ੍ਰਣਾਲੀ, ਸਮਕਾਲੀ ਸਕੂਲਾਂ ਦੀ ਖਸਤਾ ਹਾਲਤ ਅਤੇ ਭਵਿੱਖ ਦੇ ਹੋਣਹਾਰ ਉੱਤਰਾਧਿਕਾਰੀਆਂ ਦੀਆਂ ਮਜ਼ਬੂਰੀਆਂ ਨੂੰ ਬੜੇ ਸੋਹਣੇ ਢੰਗ ਨਾਲ ਸਾਡੇ ਸਾਹਮਣੇ ਲਿਆਂਦਾ ਹੈ। ਇਹਨਾਂ ਕਹਾਣੀਆਂ ਵਿੱਚ ਸਮਕਾਲੀ ਪੇਂਡੂ ਸਕੂਲਾਂ ਦੀ ਖਸਤਾ ਹਾਲਤ ਸਾਫ ਸਾਡੇ ਸਾਹਮਣੇ ਆ ਜਾਂਦੀ ਹੈ। ਇੱਕ ਸਕੂਲ ਦਾ ਨਕਸ਼ਾ ਦੇਖੋ: ਛੱਤ ਦੀਆਂ ਕਿੰਨੀਆਂ ਸਾਰੀਆਂ ਕੜੀਆਂ ਟੁੰਡੀਆਂ ਬਾਹਾਂ ਵਾਂਗੂ ਹੇਠ ਲਮਕ ਰਹੀਆਂ ਹਨ, ਸ਼ਤੀਰਾਂ ਵਿੱਚ ਖੱਡਾ ਕਰਕੇ ਚਿੜੀਆਂ ਨੇ ਆਹਲਣੇ ਪਾ ਲਏ ਨੇ ਤੇ ਉਹਨਾਂ ਤੋਂ ਸਾਰਾ ਦਿਨ ਸਿਰਾਂ ਤੇ ਤੀਲੇ, ਬਿੱਠਾਂ ਆਂਡੇ ਤੇ ਮਿੱਟੀ ਦੀਆਂ ਡਲੀਆਂ ਡਿਗਦੀਆਂ ਰਹਿੰਦੀਆਂ ਹਨ ਭੈਣ ਜੀ ਰੋਜ ਕਿੰਨ੍ਹਾ-ਕਿੰਨ੍ਹਾ ਚਿਰ ਪਾਣੀ ਛਿੜਕੋਂਦੇ ਨੇ ਪਰ ਦੂਜੀ ਘੰਟੀ ਪਿੱਛੋਂ ਹੀ ਰੇਤ ਉੱਡ-ਉੱਡ ਸਿਰ ਨੂੰ ਚੜ੍ਹਨ ਲਗਦੀ ਹੈ ਆਦਿ-ਆਦਿ। ਇਹ ਕਹਾਣੀਆਂ ਸਾਡੀ ਸਿੱਖਿਆ-ਪ੍ਰਣਾਲੀ, ਅਧਿਆਪਕਾਂ ਅਤੇ ਵਿਦਿਆਰਥੀਆਂ ਦੀਆਂ ਮਜ਼ਬੂਰੀਆਂ ਤੋਂ ਵੀ ਸਾਨੂੰ ਵਾਕਫ ਕਰਾਉਂਦੀਆਂ ਹਨ।

ਬਕਲਮਖੁਦ ਦੀ ਮਕਬੂਲੀਅਤ ਨੇ ਇਕ ਰਾਖਵਾਂ ਪਾਠਕ ਵਰਗ ਪ੍ਰਦਾਨ ਕੀਤਾ। ਇਹ ਰਚਨਾਵਾਂ ਸਮਕਾਲੀ ਸਮਾਜਿਕ ਯਥਾਰਥ ਦੀ ਭਰਪੂਰ ਪੇਸ਼ਕਾਰੀ ਕਰ ਰਹੀਆਂ ਸਨ।

ਨਵਤੇਜ ਸਿੰਘ - ਕਹਾਣੀ ਸੰਗ੍ਰਹਿ ਬਕਲਮਖੁਦ ਬਾਰੇ

'ਗੁਰਦਿਆਲ ਸਿੰਘ ਦੀਆਂ ਬੜੀਆਂ ਕਹਾਣੀਆਂ ਮੈਂ ਧਿਆਨ ਨਾਲ ਪੜ੍ਹੀਆਂ ਹਨ, ਹੁਣ ਤੱਕ ਉਸ ਦੀਆਂ ਚਾਰ ਕਹਾਣੀਆਂ ਮੈਂ ਪ੍ਰੀਤਲੜੀ ਵਿਚ ਛਾਪ ਵੀ ਚੁਕਿਆ ਹਾਂ। ਉਹਨੂੰ ਮੈਂ ਬੜਾ ਹੋਣਹਾਰ ਕਹਾਣੀ ਲੇਖਕ ਸਮਝਦਾ ਹਾਂ। ਉਹ ਜ਼ਿੰਦਗੀ ਦੇ ਬਹੁਤ ਨੇੜੇ ਹੋ ਕੇ ਲਿਖਦਾ ਹੈ, ਬੋਲੀ ਦੀ ਸੂਝ ਤੇ ਕਹਾਣੀ ਦੀ ਕਾਰੀਗਰੀ ਵੱਲ ਬੜਾ ਧਿਆਨ ਦੇਂਦਾ ਹੈ, ਮਿਹਨਤ ਤੇ ਸਿੱਖਣ ਦੀ ਸ਼ਕਤੀ ਉਹਦੇ

ਵਿਚ ਬੇਅੰਤ ਹੈ। ਉਹਦੀ ਹੁਣ ਤੱਕ ਦੀ ਕਿਰਤ ਤੇ ਉਹਦੇ ਇਹਨਾਂ ਗੁਣਾਂ ਨੂੰ ਅੰਗ ਕੇ ਮੈਂ ਆਖ ਸਕਦਾ ਹਾਂ ਕਿ ਭਵਿੱਖ ਵਿੱਚ ਉਹਦਾ ਨਾਂ ਸਾਡੀ ਬੋਲੀ ਦੇ ਚੰਗੇ ਕਹਾਣੀ-ਲੇਖਕਾਂ ਵਿਚ ਗਿਣਿਆ ਜਾਏਗਾ।

ਹਰ ਲੇਖਕ ਲਈ ਉਹਦੀ ਕਿਤਾਬ ਉਹਦਾ ਨਵਾਂ 'ਜਨਮ' ਹੁੰਦਾ ਹੈ। ਇਹ ਸੰਗ੍ਰਹਿ ਛਪਣ ਉਤੇ ਮੈਂ ਗੁਰਦਿਆਲ ਸਿੰਘ ਨੂੰ ਉਹਦੇ ਨਵੇਂ ਜਨਮ ਉਤੇ ਵਧਾਈ ਦੋਂਦਾ ਹਾਂ ਤੇ ਆਸ ਕਰਦਾ ਹਾਂ ਕਿ ਉਹਦੀ ਜ਼ਿੰਦਗੀ ਵਿਚ ਅਜਿਹੇ ਅਨੇਕ ਜਨਮ ਦਿਨ ਆਉਂਦੇ ਰਹਿਣਗੇ।

ਇਸ ਸੰਗ੍ਰਹਿ ਵਿਚ ਗੁਰਦਿਆਲ ਸਿੰਘ ਨੇ ਬਚਪਨ ਦੀਆਂ ਕਹਾਣੀਆਂ ਲਿਖੀਆਂ ਹਨ। ਬਚਪਨ ਦੀ ਮਹਿਮਾ ਬਾਰੇ ਜ਼ਿੰਦਗੀ ਦੀ ਅਸਲੀਅਤ ਤੋਂ ਦੂਰ, ਬੜੀਆਂ ਭਰਮ-ਗਲੇਫੀਆਂ ਰੰਗੀਨ ਕਵਿਤਾਵਾਂ ਤੇ ਕਹਾਣੀਆਂ ਤੁਸਾਂ ਪੜ੍ਹੀਆਂ ਹੋਣਗੀਆਂ। ਪਰ ਇਹਨਾਂ ਕਹਾਣੀਆਂ ਵਿਚਲਾ ਬਚਪਨ ਜ਼ਿੰਦਗੀ ਦੀ ਅਸਲੀਅਤ ਉਘਾੜਦਾ ਹੈ। ਉਹੋ ਜਿਹੇ ਬਚਪਨ ਦੀ ਮੂਰਤ ਸਾਡੇ ਸਾਹਮਣੇ ਲਿਆਂਦਾ ਹੈ ਜਿਹੋ ਜਿਹਾ ਬਚਪਨ ਸਾਡੇ ਅਜੋਕੇ ਸਮਾਜ ਵਿਚ ਬਹੁਤੇ ਬੱਚਿਆਂ ਦੇ ਭਾਗਾਂ ਵਿਚ ਹੈ। (ਇਕ ਸੁਚੱਜੇ ਚੇਤਨ ਕਲਾਕਾਰ ਵਾਂਗ ਏਸ ਸਾਰੀ ਦੁਖਦਾਈ ਤਸਵੀਰ ਥੱਲੇ ਵੀ ਬਚਪਨ ਦੀ ਕਵਿਤਾ ਦੀ ਰੂਹ ਧੜਕਦੀ ਹੈ।)

ਬਚਪਨ ਦੀ ਮੂਰਤ ਵਾਹਿੰਦਿਆਂ ਇਹ ਸੁੱਚਜਾ ਲੇਖਕ ਨਿਰਦਈ ਤੇ ਕਾਲੇ ਰੰਗਾਂ ਦੀ ਵਰਤੋਂ ਤੋਂ ਝਕਦਾ ਨਹੀਂ, ਕਿਉਂਕਿ ਅੱਜ ਦੀ ਅਸਲੀਅਤ ਨੂੰ ਇਹੋ ਰੰਗ ਚਿਤਰ ਸਕਦੇ ਹਨ। ਪਰ ਸੁਝਵਾਨ ਕਲਾਕਾਰ ਨੇ ਇਹ ਰੰਗ ਕੁਝ ਅਜਿਹੇ ਚੱਜ ਨਾਲ ਵਰਤੇ ਹਨ ਕਿ ਇਹਨਾਂ ਨਿਰਦਈ ਕਾਲੇ ਰੰਗਾਂ ਦੇ ਵਿਚੋਂ ਵੀ ਮਨੁੱਖ ਦੇ ਬਾਲਪਨ ਦੀ ਕਵਿਤਾ ਦਾ ਚਾਨਣ ਚਮਕ ਪੈਂਦਾ ਹੈ ਤੇ ਸਾਨੂੰ ਪ੍ਰੇਰਦਾ ਹੈ: ਆਓ ਜ਼ਿੰਦਗੀ ਨੂੰ ਨਵੇਂ ਸਿਰਿਓਂ ਘੜੀਏ! ਆਓ ਜ਼ਿੰਦਗੀ ਦੇ ਮੂੰਹ ਉਤੇ ਇਹ ਨਿਰਦਈ ਕਾਲੇ ਰੰਗ ਪੁੰਝ ਸੁਟੀਏ, ਤੇ ਬਾਲਪਣ ਦੀ ਕਵਿਤਾ ਦਾ ਚਾਨਣ ਆਪਣੇ ਵਤਨ ਦੇ ਬਚਿਆਂ ਨੂੰ ਵਿਰਸੇ ਵਿਚ ਦੇ ਜਾਈਏ। -ਨਵਤੇਜ ਸਿੰਘ (1959)⁵

ਬਾਲ-ਸਾਹਿਤ ਦੇ ਖੇਤਰ ਵਿੱਚ ਬਕਲਮਖੁਦ ਨਾਵਲਿਟ ਲਿਖਣ ਦਾ ਤਜਰਬਾ ਵੀ ਉਹਨਾਂ ਕੀਤਾ ਪਰ ਸਕੂਲ ਪ੍ਰਬੰਧ ਦੀਆਂ ਖਾਮੀਆਂ ਉਜਾਗਰ ਕਰਨ ਕਰਕੇ ਸਕੂਲ ਅਧਿਆਪਕਾਂ ਨੂੰ ਪਸੰਦ ਨਹੀਂ ਆਇਆ। (ਇਹ ਲੜੀਵਾਰ ਬਾਲ ਸੰਦੇਸ਼ ਵਿੱਚ ਪ੍ਰਕਾਸ਼ਿਤ ਹੋਇਆ ਪਰ ਇਸ ਦੇ ਪ੍ਰਕਾਸ਼ਨ ਸਮੇਂ ਬਾਲ ਸੰਦੇਸ਼ ਦੀ ਪ੍ਰਕਾਸ਼ਨ ਦਰ ਘੱਟ ਗਈ)। ਬਾਦ ਵਿੱਚ ਇਹ ਜਲੰਧਰ ਦੇ ਇੱਕ ਪ੍ਰਕਾਸ਼ਕ ਨੂੰ ਛਪਣ ਲਈ ਦਿੱਤਾ ਜਿਸਦੀ ਮੌਤ ਹੋ ਜਾਣ ਕਾਰਨ ਮੂਲ ਖਰੜਾ ਗੁੰਮ ਹੋ ਗਿਆ ਤੇ ਬਾਅਦ ਵਿੱਚ ਪੁਸਤਕ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਕਦੇ ਵੀ ਪ੍ਰਕਾਸ਼ਿਤ ਨਹੀਂ ਹੋਇਆ।

ਬਕਲਮਖੁਦ ਸਬੰਧੀ ਕਹਾਣੀਕਾਰ ਸੁਖਬੀਰ ਦੇ ਦੋ ਪੱਤਰ ਬੜੇ ਮਹੱਤਵਪੂਰਨ ਹਨ:

ਪ੍ਰੀਤ ਨਗਰ
16 ਅਪ੍ਰੈਲ, 1958

ਪਿਆਰੇ ਰਾਹੀ ਜੀ,

..... ਤੁਹਾਡੇ ਪਿਛਲੇ ਬਕਲਮਖੁਦ ਬਾਰੇ ਇਕ ਦਿਲਚਸਪ ਘਟਨਾ ਸੁਣਾਂਦਾ ਹਾਂ-

ਏਥੇ ਲਾਗੇ 'ਲੋਧੋਕੀ' ਪਿੰਡ ਵਿਚ ਇਕ ਸਕੂਲ ਹੈ। ਏਥੋਂ ਇਕ ਬੀਬੀ ਓਥੇ ਪੜ੍ਹਾਉਣ ਜਾਂਦੀ ਹੈ। ਸਕੂਲ ਦੀ ਹੈਡਮਿਸਟ੍ਰੈਸ ਇਸ ਬੀਬੀ ਤੋਂ ਬੜੇ ਚਾਅ ਨਾਲ ਬਾਲ ਸੰਦੇਸ਼ ਲੈ ਕੇ ਪੜ੍ਹਿਆ ਕਰਦੀ ਸੀ- ਖਾਸ ਕਰ ਬਕਲਮਖੁਦ। ਜਦ ਪਿਛਲੇ ਮਹੀਨੇ ਇਹ ਬੀਬੀ ਬਾਲ ਸੰਦੇਸ਼ ਲੈ ਕੇ ਸਕੂਲ ਗਈ ਤਾਂ ਹੈਡਮਿਸਟ੍ਰੈਸ ਨੇ ਬੜੇ ਚਾਅ ਨਾਲ ਉਸ ਤੋਂ ਪਰਚਾ ਲਿਆ ਤੇ ਆਪਣੇ ਆਫਿਸ ਵਿਚ ਜਾ ਕੇ ਪੜ੍ਹਨ ਲੱਗੀ। ਪਰ ਪੜ੍ਹਨ ਮਗਰੋਂ ਇਸ ਵਾਰ ਉਹ ਖੁਸ਼ ਨਹੀਂ ਸੀ, ਸਗੋਂ ਮੂੰਹ ਉਡਿਆ ਹੋਇਆ ਸੀ ਕਿਉਂਕਿ ਉਸ ਵਿਚ ਜਿਸ ਟੀਚਰ ਦਾ ਤੁਸੀਂ ਜ਼ਿਕਰ ਕੀਤਾ ਹੈ (ਜਿਸ ਦੇ ਕਿ ਨਿਆਣੇ ਮੇਜ਼ ਤੇ ਪੇਸ਼ਾਬ ਆਦਿ ਕਰ ਦਿੰਦੇ ਹਨ) ਉਹ ਉਸ ਨਾਲ ਮਿਲਦੀ ਜੁਲਦੀ ਸੀ ਤੇ ਉਸ ਨੂੰ ਸ਼ਾਇਦ ਸ਼ੱਕ ਹੋਇਆ ਹੋਵੇ ਕਿ ਏਥੋਂ ਦੀ ਬੀਬੀ ਨੇ ਹੀ ਉਸ ਦੀਆਂ ਗੱਲਾਂ ਦੱਸ ਕੇ ਇਹ 'ਬਕਲਮਖੁਦ' ਲਿਖਵਾਇਆ ਹੈ.....

ਤੁਹਾਡਾ,
ਸੁਖਬੀਰ
ਬੰਬਈ
01 ਜਨਵਰੀ, 1959

ਪਿਆਰੇ ਗੁਰਦਿਆਲ ਸਿੰਘ ਜੀ,

ਤੁਹਾਡੀ ਕਿਤਾਬ ਦੇ ਛਪਣ ਦੀ ਖੁਸ਼ੀ ਹੈ।

'ਬਕਲਮਖੁਦ' ਲਿਖ ਕੇ ਗੁਰਦਿਆਲ ਸਿੰਘ ਇਕ ਨਵੀਂ ਸ਼ੈਲੀ ਨਾਲ ਪੰਜਾਬੀ ਸਾਹਿਤ ਵਿੱਚ ਪ੍ਰਵੇਸ਼ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਇਸ ਸ਼ੈਲੀ ਵਿੱਚ ਉਸ ਦਾ ਆਪਣਾ ਨਿਜਤਵ ਝਾਕਦਾ ਹੈ। ਬੱਚਿਆਂ ਦੀ ਪੱਧਰ ਤੇ ਖਲੋ ਕੇ ਤੇ ਫੇਰ ਬੱਚਿਆਂ ਦੀ ਜ਼ਬਾਨ ਵਿੱਚ ਪੂਰੀ ਸਮਾਨ ਚੇਤਨਤਾ ਨਾਲ ਵੱਡੀਆਂ ਗੱਲਾਂ ਕਹਿ ਜਾਣ ਦਾ ਹੁਨਰ ਗੁਰਦਿਆਲ ਸਿੰਘ ਦੀ ਕਲਮ ਦਾ ਕਰਿਸ਼ਮਾ ਹੈ। ਇਹਨਾਂ ਰਚਨਾਵਾਂ ਵਿੱਚ ਬਚਪਨ ਦੇ

ਮੁਰਝਾਏ ਹੋਏ ਫੁੱਲਾਂ ਨੂੰ ਬੜੇ ਯਥਾਰਥਕ ਨੁਕਤੇ ਤੋਂ ਪੇਸ਼ ਕੀਤਾ ਗਿਆ ਹੈ। ਏਸੇ ਲਈ ਇਸ ਬਿਆਨ ਵਿੱਚ ਇਕ ਮਾਸੂਮਤਾ ਵੀ ਹੈ ਤੇ ਦਰਦ ਦੀ ਧਾਰ ਵੀ ਹੈ, ਇਕ ਖਰਵਾਪਨ ਵੀ ਹੈ ਤੇ ਕਵਿਤਾ ਦੀ ਰੋਅ ਵੀ ਹੈ। ਇਹ ਬਿਆਨ ਦਿਲ ਨੂੰ ਛੋਂਹਦਾ ਹੈ। ਬਕਲਮਖੁਦ ਨੂੰ ਪੜ੍ਹ ਕੇ ਬੱਚੇ ਗੁਰਦਿਆਲ ਸਿੰਘ ਨੂੰ ਪਿਆਰ ਕਰਨਗੇ ਤੇ ਉਸ ਦੇ ਰਿਣੀ ਹੋਣਗੇ ਕਿ ਉਸ ਨੇ ਉਹਨਾਂ ਦੀ ਆਵਾਜ਼ ਨੂੰ ਸਾਹਿਤ ਵਿੱਚ ਥਾਂ ਦਵਾਈ ਹੈ।’

ਤੁਹਾਡਾ,
ਸੁਖਬੀਰ

ਜੀਵਨੀ ਮੂਲਕ ਘਟਨਾਵਾਂ ਦੇ ਰੂਪ ਵਿਚ ਜੁੜੀਆਂ ਇਹ ਕ੍ਰਮ-ਬੱਧ ਕੜੀਆਂ ਕਦੇ ਕਿਸੇ ਪਾਤਰਾਂ ਦੇ ਦੁੱਖਾਂ ਨੂੰ ਬਿਆਨ ਕਰਦੀਆਂ ਹਨ, ਕਦੇ ਕਿਸੇ ਦੀ ਬੇਵੱਸੀ ਅਤੇ ਲਾਚਾਰੀ ਦੀ ਮਾਨਸਿਕ ਅਤੇ ਸਰੀਰਕ ਅਵਸਥਾ ਨੂੰ ਪਾਠਕ ਅੱਗੇ ਰੱਖਦੀਆਂ ਹਨ ਅਤੇ ਕਦੇ ਕਿਸੇ ਦੀਆਂ ਹਸ਼ੋਣੀਆਂ ਅਤੇ ਲੋਟਪੋਟ ਕਰ ਦੇਣ ਵਾਲੀਆਂ ਵਚਿੱਤਰ ਅਤੇ ਬੇਢਬੀਆਂ ਹਰਕਤਾਂ ਦਾ ਦਸਤਾਵੇਜ਼ ਸਿੱਧ ਹੁੰਦੀਆਂ ਹਨ। ਕੋਈ ਪਾਤਰ ਆਪਣੇ ਬਚਪਨ ਦੇ ਦੁਖਾਂਤ ਦੀ ਕੋਈ ਘਟਨਾ ਨੂੰ ਆਪਣੀ ਠੋਠ ਮਲਵਈ ਉਪ-ਭਾਸ਼ਾ ਵਿਚ ਅਭਿਵਿਅਕਤ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਇੰਝ ਹਰ ਪਾਤਰ ਆਪਣੇ ਨਾਲ ਬੀਤੀਆਂ ਘਟਨਾਵਾਂ ਨੂੰ ਆਪਣੇ ਮੂੰਹੋਂ ਇਉਂ ਲੜੀਬੱਧ ਰੂਪ ਵਿਚ ਸੁਣਾਉਂਦਾ ਹੈ ਕਿ ਪਾਠਕ ਉਸ ਨਾਲ ਇਕਮਿੱਕ ਹੋ ਕੇ ਪੁਰਾ ਲੁਤਫ ਲੈਣ ਲੱਗਦੇ ਹਨ। ਉਹ ਇਉਂ ਮਹਿਸੂਸ ਕਰਦੇ ਹਨ ਜਿਵੇਂ ਲੇਖਕ ਖੁਦ ਹੀ ਉਹਨਾਂ ਨੂੰ ਆਪਣੇ ਨਾਲ ਬੀਤੀਆਂ ਸੁਣਾ ਰਿਹਾ ਹੋਵੇ। ਪਰੀ-ਅੰਸ਼ਾਂ ਦੀਆਂ ਛੋਹ ਵਾਲੀਆਂ ਇਹ ਰਚਨਾਵਾਂ ਬਾਲ ਪਾਠਕਾਂ ਨੂੰ ਅਨੂਠੇ ਵਾਯੂ-ਮੰਡਲ ਵਿਚ ਲੈ ਜਾਂਦੀਆਂ ਹਨ।

ਸੰਖੇਪ ਵਿਚ ਗੁਰਦਿਆਲ ਸਿੰਘ ਪ੍ਰਬੁੱਧ ਬਾਲ ਸਾਹਿਤ ਲੇਖਕ ਹੋਣ ਕਾਰਨ ਬਾਲਾਂ ਦੀਆਂ ਸਮੱਸਿਆਵਾਂ ਨੂੰ ਡੂੰਘੀ ਤਰ੍ਹਾਂ ਸੋਚਣ-ਸਮਝਣ ਦੇ ਸਮਰੱਥ ਹੈ। ਉਹ ਜਾਣਦਾ ਹੈ ਕਿ ਉਪਯੋਗੀ ਸਾਹਿਤ ਉਹੀ ਹੈ ਜੋ ਬੱਚਿਆਂ ਦੀ ਮਾਨਸਿਕਤਾ ਨੂੰ ਤ੍ਰਿਪਤ ਕਰਕੇ ਉਹਨਾਂ ਨੂੰ ਉਂਗਲ ਫੜ ਕੇ ਨਾਲ ਤੋਰਦਾ ਹੈ। ਉਹ ਸਮਾਜ ਵਿਚ ਫੈਲੀਆਂ ਕੁਰੀਤੀਆਂ ਦਾ ਖੰਡਨ ਵੀ ਕਰਦਾ ਹੈ, ਸਮਾਜਕ ਕੁਪਬੰਧ ਅਤੇ ਨਿਜ਼ਾਮ ਤੇ ਟਕੋਰਾਂ ਵੀ ਲਾਉਂਦਾ ਹੈ ਅਤੇ ਸਮਾਜਿਕ, ਆਰਥਿਕ, ਮਾਨਸਿਕ ਤੇ ਰਾਜਨੀਤਕ ਸਮੱਸਿਆਵਾਂ ਨੂੰ ਗੰਭੀਰ ਪ੍ਰਸ਼ਨਾਂ ਦੇ ਰੂਪ ਵਿਚ ਸਾਡੇ ਸਮਾਜ ਅੱਗੇ ਰੱਖਦਾ ਹੋਇਆ ਪੇਂਡੂ ਜੀਵਨ ਦੀਆਂ ਨਰੋਈਆਂ ਝਾਕੀਆਂ ਦੇ ਦਰਸ਼ਨ ਕਰਵਾ ਜਾਂਦਾ ਹੈ। ਇਹ ਭਾਵੇਂ ਬੱਚਿਆਂ ਦੀਆਂ ਕਹਾਣੀਆਂ ਹਨ, ਜਿਨ੍ਹਾਂ ਵਿੱਚ ਬੱਚੇ ਹੀ ਆਪਣੀ ਜਬਾਨੀ ਆਪਣੀਆਂ ਮੁਸ਼ਕਲਾਂ, ਆਪਣੇ ਗਿਲੇ ਤੇ ਸਮਾਜ ਵੱਲੋਂ ਆਪ ਨਾਲ ਹੋ ਰਹੀ ਬੇਇਨਸਾਫੀ ਲਈ ਰੋਸ ਪ੍ਰਗਟ ਕਰਦੇ ਹਨ। ਪਰ ਇਹਨਾਂ ਦੇ ਵਿਸ਼ੇ ਗੰਭੀਰ ਹਨ ਕਹਾਣੀਆਂ ‘ਆਪਣੇ ਹੀ ਰੰਗ’ ਤੇ ‘ਰਮਜ’ ਵਾਲੀਆਂ ਵੱਖਰੀ ਭਾਂਤ ਦੀਆਂ ਕਹਾਣੀਆਂ ਹਨ।

ਬਾਲ-ਨਾਵਲਿਟ ਟੁੱਕ ਖੋਹ ਲਏ ਕਾਵਾਂ (1961)⁶ ਦੀਆਂ ਘਟਨਾਵਾਂ ਤੇ ਪਾਤਰ ਵੀ ਸਾਡੇ ਰੋਜ਼ਾਨਾ ਜੀਵਨ ਵਿਚੋਂ ਹੀ ਹਨ ਅਤੇ ਇਉਂ ਇਸ ਨਾਵਲਿਟ ਦਾ ਅਹਿਮ ਪਹਿਲੂ, ਇਸਦੀ ਸਮਾਜਿਕਤਾ ਹੈ। ਬਾਲ ਸਾਹਿਤ ਨੂੰ ਪਰੀ-ਕਥਾ ਦੇ ਅਲੌਕਿਕ ਸੰਸਾਰ ਦੀ ਥਾਂ ਜੀਵਨ ਯਥਾਰਥ ਵਿੱਚੋਂ ਉਭਰਦਾ ਦਿਖਾ ਕੇ ਸਿਰਜਣਾ ਗੁਰਦਿਆਲ ਸਿੰਘ ਦੀ ਨਿਵੇਕਲੀ ਪਹਿਲ ਸੀ। ਪਰੀ-ਕਥਾ ਦੇ ਮੱਧ-ਕਾਲੀ ਸੁਖਾਂਤ ਅੰਤ ਦੇ ਅਨੁਭਵ ਦੀ ਥਾਂ ਇਹ ਪਹਿਲੀ ਵਾਰ ਸੀ ਕਿ ਦੁਖਾਂਤ ਅੰਤ ਵਾਲੀਆਂ ਗਹਿਰੇ ਮਾਰਮਿਕ ਅਨੁਭਵ ਨਾਲ ਓਤ-ਪੋਤ ਰਚਨਾਵਾਂ ਬਾਲ ਸਾਹਿਤ ਵਜੋਂ ਪ੍ਰਵਾਨਿਤ ਹੋਈਆਂ। ਇਸਦੇ ਦੁਖਾਂਤ ਅੰਤ ਬਾਰੇ ਚਰਚਾ ਵੀ ਹੋਈ ਪਰ ਇਹ ਗੁਰਦਿਆਲ ਸਿੰਘ ਦੀ ਪ੍ਰਾਪਤੀ ਸੀ ਕਿ ਇਹ ਸਾਹਿਤ ਨਾ ਸਿਰਫ ਪ੍ਰਵਾਨ ਹੋਇਆ ਸਗੋਂ ਨਵੀਂ ਪਰੰਪਰਾ ਦਾ ਆਰੰਭ ਵੀ ਬਣਿਆ। ‘ਟੁੱਕ ਖੋਹ ਲਏ ਕਾਵਾਂ’ ਨਾਵਲ ਵਿਚ ਲੇਖਕ ਨੇ ਪਰਿਵਾਰਿਕ ਰਿਸ਼ਤਿਆਂ ਦੀ ਗੰਢ ਨੂੰ ਪੀਛਿਆਂ ਕੀਤਾ ਹੈ ਅਤੇ ਬਰੀਕੀ ਨਾਲ ਬਾਲ-ਮਨਾਂ ਨੂੰ ਫਰੋਲਿਆ ਹੈ। ਝਿੜਕਾਂ ਦਿੰਦੀਆਂ, ਮਾਰਦੀਆਂ-ਕੁਟਦੀਆਂ ਮਾਵਾਂ ਭਾਵੇਂ ਬੱਚਿਆਂ ਨੂੰ ਚੰਗੀਆਂ ਨਹੀਂ ਲਗਦੀਆਂ ਤੇ ਕਈ ਵਾਰ ਬੱਚੇ ਐਸੀ ਮਾਂ ਦੇ ਨਾ ਹੋਣ ਦੀ ਕਾਮਨਾ ਵੀ ਕਰਦੇ ਹਨ, ਪਰ ਮਾਂ ਦੀ ਛਾਂ ਕਿੰਨੀ ਠੰਡੀ ਅਤੇ ਸੁਰੱਖਿਅਤ ਹੁੰਦੀ ਹੈ, ਇਸ ਦੀ ਸਮਝ ਉਦੋਂ ਹੀ ਆਉਂਦੀ ਹੈ ਜਦੋਂ ਬਿੱਲੂ ਤੇ ਪਿੱਲੀ ਦੀ ਮਾਂ ਅਚਾਨਕ ਕਿਧਰੇ ਚਲੀ ਗਈ ਅਤੇ ਪਿਛੋਂ ਦੂਜੇ ਦਿਨ ਹੀ ਤਾਈ ਦੀ ਘੂਰੀ ਤੇ ਤਾਹਨਿਆਂ ਦੇ ਉਹ ਸ਼ਿਕਾਰ ਹੁੰਦੇ ਹਨ। ਭਾਸ਼ਾ ਅਤੇ ਦ੍ਰਿਸ਼ ਚਿਤਰਨ ਰਾਹੀਂ ਛੋਟੇ ਅਤੇ ਵੱਡੇ ਬੱਚਿਆਂ ਲਈ ਮਾਹੌਲ ਸਿਰਜ ਸਕਣ ਦੀ ਕਲਾ ਤੇ ਸੂਝ ਭਰੀਆਂ ਅਜਿਹੀਆਂ ਰਚਨਾਵਾਂ ਪੰਜਾਬੀ ਬਾਲ-ਸਾਹਿਤ ਲਈ ਮੀਲ ਪੱਥਰ ਸਾਬਿਤ ਹੋਈਆਂ।

ਉਦੋਂ ਤੋਂ ਲੈ ਕੇ ਹੁਣ ਤੱਕ ਗੁਰਦਿਆਲ ਸਿੰਘ ਨੇ ਅਨੇਕਾਂ ਮਨੋਰੰਜਕ ਤੇ ਕਾਮਯਾਬ ਬਾਲ ਕਹਾਣੀਆਂ, ਇਕਾਂਗੀ, ਲੇਖ ਲਿਖ ਕੇ ਆਪਣੇ-ਆਪ ਨੂੰ ਬਾਲ-ਸਾਹਿਤ ਲੇਖਕ ਵਜੋਂ ਸਥਾਪਿਤ ਕੀਤਾ। ‘ਖੱਟੇ-ਮਿੱਠੇ ਲੋਕ’, ‘ਤਿੰਨ ਕਦਮ ਧਰਤੀ’, ‘ਸੂਰਜ ਦਾ ਟਿੱਕਾ’, ‘ਸੱਚ ਦੇ ਖੋਜੀ’, ‘ਸੰਤੂ ਗੱਪੀ’, ‘ਹੰਸਾਂ ਦੀ ਜੋੜੀ’, ‘ਪੀਰੂ ਦੀ ਸਾਰੰਗੀ’, ‘ਬਾਬੇ ਰਤਨੇ ਦੀ ਚਿੱਠੀ’, ‘ਰੱਬ ਦੇ ਬੰਦੇ’, ‘ਆਓ ਨਾਟਕ ਖੇਡੀਏ’, ‘ਸੁਪਨਿਆਂ ਦਾ ਪਰੀ ਦੇਸ਼’ ਆਦਿ ਉਸ ਦੀਆਂ ਬਾਲ-ਸਾਹਿਤ ਨੂੰ ਭੇਟ ਕੀਤੀਆਂ ਚੋਣਵੀਆਂ ਪੁਸਤਕਾਂ ਹਨ।

‘ਪਹੁ-ਫੁਟਾਲੇ’ ਤੋਂ ਪਹਿਲਾਂ ਬਾਲ-ਸਾਹਿਤ ਤੇ ਖੇਤਰ ਵਿਚ ਇਕ ਹੋਰ ਮਹੱਤਵਪੂਰਨ ਉਪਰਾਲਾ ਹੈ। ਪੰਜਾਬ ਸਕੂਲ ਸਿੱਖਿਆ ਬੋਰਡ ਵੱਲੋਂ ਇਹ ਲਗਾਤਾਰ ਨੌਵੀਂ-ਦਸਵੀਂ ਦੇ ਪਾਠ-ਕ੍ਰਮ ਦਾ ਹਿੱਸਾ ਬਣਿਆ ਆ ਰਿਹਾ ਹੈ। ਗੁਰਦਿਆਲ ਸਿੰਘ ਅਨੁਸਾਰ, ਜਵਾਨੀ

ਵੱਲ ਵੱਧਦੇ ਬਚਪਨ ਦੀ ਅਵਸਥਾ ਸਭ ਤੋਂ ਵੱਧ ਖਤਰਿਆਂ ਭਰੀ ਵੀ ਹੁੰਦੀ ਹੈ। ਇਹਦੇ ਲਈ ਬੜੇ ਸੁਚੇਤ ਤੇ ਸਾਵੇਂ ਯਤਨ ਜ਼ਰੂਰੀ ਹੁੰਦੇ ਹਨ, ਨਹੀਂ ਤਾਂ ਤਿਲੁਕ ਕੇ ਚਕਨਾ-ਚੂਰ ਹੋਣ ਦਾ ਵੀ ਡਰ ਹੁੰਦਾ ਹੈ। ਪਰ ਸਭ ਤੋਂ ਵੱਧ ਨਿਰਾਸ਼ ਸਥਿਤੀ ਇਹ ਹੈ ਕਿ ਇਸ ਉਮਰ ਦੇ ਮੁੰਡੇ/ਕੁੜੀਆਂ ਵੱਲ ਮਾਪਿਆਂ ਤੋਂ ਲੈ ਕੇ ਸਮਾਜ ਦੇ ਜ਼ਿੰਮੇਵਾਰ ਸਿਆਣਿਆਂ ਤੱਕ ਸਾਰਿਆਂ ਨੇ ਹੀ ਬੇਧਿਆਨੀ ਕੀਤੀ ਹੋਈ ਹੈ। ਅਸਲ ਵਿੱਚ ਅਜਿਹੇ ਖਿਆਲ ਹੀ ਨਾਵਲ ਪਹੁ ਫੁਟਾਲੇ ਤੋਂ ਪਹਿਲਾਂ ਦੀ ਰਚਨਾ ਦਾ ਬੀਜ ਬਣੇ।

ਇਤਿਹਾਸਕ ਪ੍ਰਸੰਗਾਂ ਨੂੰ ਆਧਾਰ ਬਣਾ ਕੇ ਤਿੰਨ ਭਾਗਾਂ ਵਿੱਚ ਵਿਉਂਤਣ ਮਗਰੋਂ ਲਿਖੇ ਗਏ ਇਸ ਨਾਵਲ ਦੇ ਪਾਤਰ ਇਤਿਹਾਸਕ ਪਰਿਸਥਿਤੀਆਂ ਵਿੱਚੋਂ ਅਨੁਭਵ ਗ੍ਰਹਿਣ ਕਰਕੇ, ਸਮਾਜਕ-ਯਥਾਰਥ ਤੇ ਵਿਅਕਤੀ ਦੇ ਸੰਬੰਧਾਂ ਦਾ ਬਹੁਪੱਖੀ ਤੇ ਬਹੁਰੰਗੀ ਚਿੱਤਰ ਉਘਾੜਦੇ ਹਨ। ਲੇਖਕ ਅਨੁਸਾਰ ਇਹ ਨਾਵਲ ਸੋਚ-ਸਮਝ ਕੇ ਵਿਸ਼ੇਸ਼ ਸ਼ੈਲੀ ਵਿੱਚ ਜੁਆਨ ਹੋ ਰਹੇ ਮੁੰਡੇ/ਕੁੜੀਆਂ (ਕਿਸ਼ੋਰਾਂ) ਲਈ ਲਿਖਿਆ ਹੈ, ਪਰ ਪੜ੍ਹਣ ਦਾ ਅਧਿਕਾਰ ਹਰ ਉਮਰ ਦੇ ਪਾਠਕਾਂ ਨੂੰ ਹੈ। ਜਿਵੇਂ ਕਈ ਵਾਰ ਪੱਕੀ ਉਮਰ ਦੇ ਲੋਕਾਂ ਨੂੰ ਵੀ ਮੁੰਡੇ/ਕੁੜੀਆਂ 'ਬਣ' ਕੇ ਸੁਆਦ ਆਉਂਦਾ ਹੈ ਅਜਿਹਾ ਸੁਆਦ ਹੀ, ਸ਼ਾਇਦ ਇਸ ਨਾਵਲ ਨੂੰ ਪੜ੍ਹਦਿਆਂ ਪ੍ਰੌੜ ਉਮਰ ਦੇ ਪਾਠਕਾਂ ਨੂੰ ਆ ਸਕੇ।

ਸੰਖੇਪ ਵਿੱਚ ਗੁਰਦਿਆਲ ਸਿੰਘ ਦੀ ਬਾਲ ਗਲਪ-ਰਚਨਾ ਦੀ ਭਾਸ਼ਾ, ਬੋਲੀ ਅਤੇ ਪੇਸ਼ਕਾਰੀ ਦਾ ਨਿਭਾਉ ਬੜਾ ਸਿੱਧਾ ਸਾਦਾ ਪਰੰਤੂ ਸਰਲ ਅਤੇ ਆਕਰਸ਼ਕ ਹੁੰਦਾ ਹੈ। ਉਸ ਵੱਲੋਂ ਬਾਲ ਸਾਹਿਤ ਵਿਚ ਵਰਤੇ ਗਏ ਭਰਪੂਰ ਅਥਾਣ-ਮੁਹਾਵਰੇ ਉਸ ਦੀ ਅਮੀਰ ਅਤੇ ਸਮਰੱਥ ਸ਼ਬਦਾਵਲੀ ਦੇ ਸੂਚਕ ਹਨ। ਗੁਰਦਿਆਲ ਸਿੰਘ ਅਸਲ ਵਿਚ ਪੇਂਡੂ ਖਿੱਤੇ ਦਾ ਵਿਸ਼ਵਕੋਸ਼ ਹੈ। ਮਾਲਵੇ ਦੇ ਖਿੱਤੇ ਨੂੰ ਪੇਸ਼ ਕਰਦੇ ਇਸ ਬਾਲ ਸਾਹਿਤ ਲੇਖਕ ਦਾ ਅੰਦਾਜ਼-ਏ-ਬਿਆਂ ਛੋਟੀ ਉਮਰ ਦੇ ਬਾਲਾਂ ਨੂੰ ਹੀ ਨਹੀਂ ਸਗੋਂ ਵਡੇਰੀ ਉਮਰ ਦੇ ਬੱਚਿਆਂ ਅਤੇ ਸਿਆਣਿਆਂ ਨੂੰ ਵੀ ਖਿੱਚਦਾ ਹੈ। ਜਜ਼ਬਿਆਂ ਨੂੰ ਪ੍ਰਗਟਾਉਣ ਬਾਰੇ ਉਸ ਦਾ ਦ੍ਰਿਸ਼ਟੀਕੋਣ ਅਤੇ ਪ੍ਰਤੀਕਰਮ ਵਿਸ਼ੇਸ਼ ਕਿਸਮ ਦਾ ਹੈ। ਉਸ ਦੀ ਵਰਣਨਾਤਮਕ ਸ਼ੈਲੀ, ਸਥਾਨਕ ਰੰਗਣ ਨਾਲ ਭਰਪੂਰ ਵਾਰਤਾਲਾਪ, ਪਾਤਰਾਂ ਦੀ ਉਮਰ ਅਤੇ ਪਹਿਰਾਵੇ ਜਾਂ ਸਮਾਜਕ ਪਿਛੋਕੜ ਅਨੁਸਾਰ ਘੜੀ ਸ਼ਬਦਾਵਲੀ, ਛੋਟੇ ਅਤੇ ਚੁਸਤ ਵਾਕ ਆਦਿ ਉਸ ਦੇ ਬਾਲ ਸਾਹਿਤ ਨੂੰ ਪੜ੍ਹਨ ਯੋਗ ਬਣਾ ਦਿੰਦੇ ਹਨ। ਪੇਂਡੂ ਰਹਿਤਲ ਨਾਲ ਸੰਬੰਧਤ ਅਨੇਕ ਸ਼ਬਦ ਬਾਲ ਸਾਹਿਤ ਦੇ ਮਾਧਿਅਮ ਰਾਹੀਂ ਹੀ ਸਮੁੱਚੇ ਪਿੰਡ ਜਾਂ ਦਿਸ਼ ਦੇ ਸੰਕਲਪ ਨੂੰ ਸਾਕਾਰ ਕਰ ਦਿੰਦੇ ਹਨ। ਉਸ ਦੀ ਬੋਲੀ ਵਿਚ ਥਾਂ-ਥਾਂ ਵਰਤੀ ਗਈ ਪੇਂਡੂ ਸ਼ਬਦਾਵਲੀ ਔਖੀ ਜਾਂ ਭਾਰੂ ਨਹੀਂ। ਬੋਲੀ ਦੀ ਸੁਖੈਨਤਾ, ਸਰਲਤਾ ਅਤੇ ਸੰਖੇਪਤਾ ਨੂੰ ਉਹ ਬਾਲ-ਸਾਹਿਤ ਦਾ ਮੀਰੀ ਗੁਣ ਬਣਾ ਲੈਂਦਾ ਹੈ।

ਇਸ ਤਰ੍ਹਾਂ ਆਪਣੇ ਸਾਹਿਤਕ ਸਫਰ ਦੇ ਪਹਿਲੇ ਦਹਾਕੇ (1957-66) ਵਿਚ ਹੀ ਗੁਰਦਿਆਲ ਸਿੰਘ ਪੰਜਾਬੀ ਅਤੇ ਹਿੰਦੀ ਸਾਹਿਤ ਜਗਤ ਵਿੱਚ ਸਿਰਫ ਖੁਦ ਸਥਾਪਿਤ ਹੀ ਨਹੀਂ ਹੋਇਆ ਸਗੋਂ ਵਿਸ਼ੇ, ਵਿਧਾ ਅਤੇ ਵਿਚਾਰਧਾਰਕ ਤੌਰ ਤੇ ਨਵੇਂ ਪ੍ਰਤਿਮਾਨ ਸਥਾਪਤ ਕਰ ਚੁੱਕਾ ਸੀ। 1959 ਵਿਚ ਬਕਲਮਖੁਦ ਰਾਹੀਂ ਰੇਖਾ-ਚਿੱਤਰ ਪਰਕ ਸਵੈ-ਕਥਨੀ ਕਹਾਣੀ ਅਤੇ ਇਕ ਪਾਤਰੀ ਬਿਰਤਾਂਤਕ ਜੁਗਤ ਅਪਣਾ ਕੇ, 'ਟੁੱਕ ਖੋਰ ਲਏ ਕਾਵਾਂ' (1961) ਵਿਚ ਬਾਲ ਨਾਵਲਿਟ ਰਾਹੀਂ ਬਾਲ ਸਾਹਿਤ ਨੂੰ ਪਰੀ ਕਥਾ ਦੇ ਅਹਿਲੋਕਿਕ ਸੰਸਾਰ ਦੀ ਥਾਂ ਸਮਾਜ ਦੇ ਕਠੋਰ ਯਥਾਰਥ ਦੇ ਦੀਦਾਰ ਕਰਵਾ ਕੇ ਬਾਲ-ਸਾਹਿਤਕਾਰ ਵਜੋਂ ਸਥਾਪਿਤ ਹੋਏ। ਇਸ ਖੋਜ-ਪੱਤਰ ਵਿੱਚ ਆਏ ਹਵਾਲੇ ਅਤੇ ਉਨ੍ਹਾਂ ਵਿਚ ਪੇਸ਼ ਅਣਗੌਲੇ ਤੱਥਾਂ ਅਤੇ ਪੱਖ ਨੂੰ ਧਿਆਨ ਨਾਲ ਵਿਚਾਰਿਆਂ ਗੁਰਦਿਆਲ ਸਿੰਘ ਦੇ ਬਾਲ-ਸਾਹਿਤ ਬਾਰੇ ਮੁੜ ਅਧਿਐਨ, ਵਿਸ਼ਲੇਸ਼ਣ ਅਤੇ ਚਿੰਤਨ ਦੀ ਜ਼ਰੂਰਤ ਮਹਿਸੂਸ ਹੁੰਦੀ ਹੈ।

ਹਵਾਲੇ ਅਤੇ ਟਿੱਪਣੀਆਂ:

1. ਹੋਰ ਵਿਸਤਾਰ ਲਈ ਦੇਖੋ : ਡਾ. ਤਰਸੇਮ ਸ਼ਰਮਾ, ਗੁਰਦਿਆਲ ਸਿੰਘ ਸੰਦਰਭ ਕੋਸ਼, ਪਬਲੀਕੇਸ਼ਨ ਬਿਊਰੋ, ਪੰਜਾਬੀ ਯੂਨੀਵਰਸਿਟੀ, ਪਟਿਆਲਾ, 2014
2. ਪੰਜਾਬੀ ਸਾਹਿਤ ਸਭਾ, ਬਰਨਾਲਾ, 1959
3. ਸਰਬਾਂਗੀ ਪ੍ਰਤਿਭਾ : ਗੁਰਦਿਆਲ ਸਿੰਘ (ਸੰਪਾ. ਡਾ. ਤਰਸੇਮ ਸ਼ਰਮਾ), ਪਬਲੀਕੇਸ਼ਨ ਬਿਊਰੋ, ਪੰਜਾਬ ਯੂਨੀਵਰਸਿਟੀ, ਚੰਡੀਗੜ੍ਹ, 2014, ਪੰਨਾ-143
4. ਉਗੀ, ਪੰਨਾ-146-147
5. ਮੁੱਖਬੰਦ, ਨਵਤੇਜ ਸਿੰਘ, ਬਕਲਮਖੁਦ, ਪੰਜਾਬੀ ਸਾਹਿਤ ਸਭਾ, ਬਰਨਾਲਾ, 1959
6. ਲੋਕ ਆਵਾਜ਼ ਪ੍ਰਕਾਸ਼ਨ, ਜਲੰਧਰ, 1961

ਸੁਖਵਿੰਦਰ ਅੰਮ੍ਰਿਤ ਦਾ ਕਾਵਿ ਸੰਸਾਰ (ਮਾਨਵੀ ਰਿਸ਼ਤਿਆਂ ਦੇ ਸੰਦਰਭ ਵਿੱਚ)

ਬਿਮਲੇਸ਼ ਕੁਮਾਰ ਗੁਪਤਾ*

ਸੁਖਵਿੰਦਰ ਅੰਮ੍ਰਿਤ ਦਾ ਨਾਂ ਪੰਜਾਬੀ ਕਾਵਿ ਵਿੱਚ ਖ਼ਾਸ ਤੌਰ 'ਤੇ ਗ਼ਜ਼ਲ ਦੇ ਖੇਤਰ ਵਿੱਚ ਬਹੁਤ ਤੇਜ਼ੀ ਨਾਲ ਧਰੂ ਤਾਰੇ ਵਾਂਗ ਚਮਕਿਆ ਹੈ। ਉਸਦੀ ਸ਼ਾਇਰੀ ਔਰਤ ਦੇ ਮੁਹੱਬਤੀ ਅਨੁਭਵ ਅਤੇ ਮਾਨਵੀ ਰਿਸ਼ਤਿਆਂ ਨਾਲ ਗਹਿਰੀ ਤਰ੍ਹਾਂ ਜੁੜੀ ਹੋਈ ਹੈ। ਸੁਖਵਿੰਦਰ ਅੰਮ੍ਰਿਤ ਦਾ ਜਨਮ 11 ਦਸੰਬਰ, 1963 ਈ. ਨੂੰ ਮਾਤਾ ਅਮਰਜੀਤ ਕੌਰ, ਪਿਤਾ ਗੁਰਨਾਮ ਸਿੰਘ ਦੇ ਘਰ ਪਿੰਡ ਸਦਰਪੁਰਾ, ਜ਼ਿਲ੍ਹਾ ਲੁਧਿਆਣਾ ਵਿਖੇ ਹੋਇਆ। ਉਹ ਮਾਪਿਆਂ ਦੀ ਜੇਠੀ ਧੀ ਹੈ। ਉਸ ਦੀਆਂ ਚਾਰ ਭੈਣਾਂ ਤੇ ਇੱਕ ਭਰਾ ਹੈ। ਘਰ ਦਾ ਵਿਹੜਾ ਧੀਆਂ ਨਾਲ ਭਰਿਆ ਪਿਆ ਸੀ। ਉਸ ਘਰ ਵਿੱਚ ਧੀਆਂ ਨੂੰ ਪੜ੍ਹਾਉਣਾ ਜ਼ਰੂਰੀ ਨਹੀਂ ਸੀ ਸਮਝਿਆ ਜਾਂਦਾ। ਉਸ ਨੂੰ ਬਚਪਨ ਤੋਂ ਹੀ ਕਵਿਤਾ, ਚਿੱਤਰਕਾਰੀ ਅਤੇ ਸੰਗੀਤ ਨਾਲ ਇਸ਼ਕ ਸੀ। ਉਸਦੇ ਮਾਪੇ ਉਸਦੀਆਂ ਸਾਹਿਤਕ ਰੁਚੀਆਂ ਦੇ ਵਿਰੁੱਧ ਸਨ। ਉਸ ਦੀ ਮਾਂ ਚਿੱਤਰ ਰਹਿਣ ਲੱਗੀ, ਜਿਸ ਬਾਰੇ ਸੁਖਵਿੰਦਰ ਅੰਮ੍ਰਿਤ ਆਪ ਲਿਖਦੀ ਹੈ

ਜਦੋਂ ਸਾਧਾਰਨ ਸੋਚ ਅਤੇ ਦੋ ਵਕਤ ਦੀ ਰੋਟੀ ਦੇ ਜੁਗਾੜ ਵਿੱਚ ਰੁਝੇ ਕਬੀਲਦਾਰ ਮਾਪਿਆਂ ਦੀ ਕੋਈ ਔਲੂੜ ਉਮਰ ਦੀ ਧੀ ਗੀਤ ਲਿਖਣ ਅਤੇ ਗਾਉਣ ਵਰਗੀਆਂ ਗੀਤਾਂ ਪਾਲਣ ਲੱਗ ਪਵੇ ਤਾਂ ਪਿਤਾ ਪੁਰਖੀ ਪਰੰਪਰਾ ਦੀਆਂ ਕੰਧਾਂ ਕੰਬ ਉੱਠਦੀਆਂ ਹਨ ਤੇ ਘਰ ਦੇ ਨੇਮ ਭੰਗ ਹੋਣ ਦਾ ਖ਼ਤਰਾ ਭਾਸਣ ਲੱਗ ਪੈਂਦਾ ਹੈ। ਨਾਲ ਹੀ ਪੁਰਸ਼ ਪ੍ਰਧਾਨ ਸਮਾਜ ਵਿੱਚ ਕੁੜੀਆਂ ਲਈ ਕਲਾ ਦੇ ਦੁਸ਼ਵਾਰੀਆਂ ਭਰੇ ਰਾਹਾਂ ਬਾਰੇ ਸੋਚ ਕੇ ਉਹ ਤ੍ਰਿਹਿ ਜਾਂਦੇ ਹਨ। ਇਸ ਤਰ੍ਹਾਂ ਸਾਧਾਰਨ ਮਾਪੇ ਧੀਆਂ ਦੀਆਂ ਅਜਿਹੀਆਂ ਸੱਧਰਾਂ ਨੂੰ ਦਬਾਉਣ ਵਿੱਚ ਹੀ ਭਲਾਈ ਸਮਝਦੇ ਹਨ।¹

ਸੁਖਵਿੰਦਰ ਅੰਮ੍ਰਿਤ ਦੀ ਕਵਿਤਾ ਦਾ ਉਸਦੇ ਜੀਵਨ ਨਾਲ ਡੂੰਘਾ ਸੰਬੰਧ ਹੈ। ਉਸਦੇ ਨਿੱਜੀ ਅਨੁਭਵ ਅਤੇ ਸਮੁੱਚੇ ਸਮਾਜਿਕ ਜੀਵਨ ਯਥਾਰਥ ਨੇ ਉਸਦੀ ਸੂਝ ਦਾ ਵਿਕਾਸ ਕੀਤਾ। ਉਹ ਜ਼ਿੰਦਗੀ ਵਿੱਚ ਵਾਪਰ ਰਹੀਆਂ ਘਟਨਾਵਾਂ ਦੇ ਪਿੱਛੇ ਕਾਰਜਸ਼ੀਲ ਤੱਤਾਂ ਅਤੇ ਕਾਰਨਾਂ ਨੂੰ ਪਛਾਣਦੀ ਹੈ ਅਤੇ ਨਾਲ ਹੀ ਉਹ ਇਸ ਸਮੁੱਚੇ ਅਨੁਭਵ ਨੂੰ ਕਵਿਤਾ ਵਿੱਚ ਬਹੁਤ ਵਿਸ਼ਾਲ ਅਰਥਾਂ ਵਿੱਚ ਬਿਆਨਦੀ ਹੈ। ਹੁਣ ਤੱਕ ਦੀ ਬਹੁਤੀ ਗ਼ਜ਼ਲ ਮਰਦਾਂ ਵੱਲੋਂ ਹੀ ਲਿਖੀ ਗਈ ਹੈ। ਉਸਦਾ ਕਾਵਿ ਅਹਿਸਾਸ ਕੁੱਝ ਅਜਿਹਾ ਹੈ ਕਿ ਉਸ ਵਿੱਚ ਮੀਰਾ ਵਰਗਾ ਸਮਰਪਣ ਹੈ, ਪਰ ਉਹ ਅੱਜ ਦੀ ਮੀਰਾ ਹੈ। ਇਸ ਲਈ ਉਸ ਵਿੱਚ ਮੜਕ ਵੀ ਹੈ, ਨੱਖਰਾ ਵੀ ਤੇ ਮਾਣ ਵੀ। ਉਹ ਕਹਿੰਦੀ ਹੈ:

ਤੇਰੇ ਦਿਲ ਨੂੰ ਤਾਂਘ ਸੀ ਜੇ ਵਸਲ ਦੀ
ਜਾਗ ਜਾਂਦਾ ਚੂੜੀਆਂ ਦੇ ਸ਼ੋਰ ਤੇ।²

ਜ਼ਿੰਦਗੀ ਦੀਆਂ ਦੁਸ਼ਵਾਰੀਆਂ ਦਾ ਸਾਹਮਣਾ ਕਰਦਿਆਂ ਉਸਨੂੰ ਔਰਤ-ਮਰਦ ਦੇ ਅਸਾਵੇਂ ਰਿਸ਼ਤਿਆਂ ਬਾਰੇ ਵੀ ਚਾਨਣ ਹੋਇਆ। ਇਹਨਾਂ ਅਸਾਵੇਂ ਰਿਸ਼ਤਿਆਂ ਵਿੱਚ ਮਰਦ ਹਮੇਸ਼ਾਂ ਹਾਵੀ ਰਿਹਾ ਤੇ ਔਰਤਾਂ ਹਮੇਸ਼ਾਂ ਦਬੀਆਂ ਰਹੀਆਂ। ਉਸਨੂੰ ਕਦੇ ਵੀ ਬਰਾਬਰੀ ਦਾ ਦਰਜਾ ਨਹੀਂ ਦਿੱਤਾ ਗਿਆ। ਸੁਖਵਿੰਦਰ ਅੰਮ੍ਰਿਤ ਇਹ ਨਾ-ਬਰਾਬਰੀ ਪਿਆਰ ਸੰਬੰਧਾਂ ਵਿੱਚ ਵੀ ਮਹਿਸੂਸ ਕਰਦੀ ਹੈ। ਇਸੇ ਲਈ ਉਹ ਲਿਖਦੀ ਹੈ:

ਮੈਂ ਤਾਂ ਉਲਝੀ ਤੰਦ ਸੀ ਰੇਸ਼ਮ ਤਾਣੀ ਦੀ
ਬਣ ਜਾਂਦੀ ਪੋਸ਼ਾਕ ਕਿਵੇਂ ਫਿਰ ਹਾਣੀ ਦੀ
ਐਵੇਂ ਝੂਠਾ ਹੋਜ਼ ਵਿਖਾਵੇਂ ਕਿਉਂ ਬੀਬਾ
ਕਿੱਕਰ ਕਦ ਹੈ ਅੰਬ ਬਰੋਬਰ ਜਾਣੀ ਦੀ।³

ਸੁਖਵਿੰਦਰ ਅੰਮ੍ਰਿਤ ਦੀਆਂ ਰਚਨਾਵਾਂ ਵਿੱਚ ਔਰਤ ਸਮਾਜਿਕ ਬੰਧਨਾਂ ਵਿੱਚ ਬੱਝੀ ਹੋਈ, ਮਾਨਵੀ ਰਿਸ਼ਤਿਆਂ ਦੇ ਸੰਸਾਰ ਵਿੱਚ ਵਿਚਰਦੀ ਹੋਈ, ਇਹਨਾਂ ਰਿਸ਼ਤਿਆਂ ਦੇ ਆਂਤਰਿਕ ਅਤੇ ਬਾਹਰੀ ਸੱਚ ਨੂੰ ਪੇਸ਼ ਕਰਦੀ ਹੈ। ਕਿਤੇ ਉਹ ਪ੍ਰੇਮਿਕਾ ਦੇ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਪ੍ਰੇਮ ਸੰਬੰਧਾਂ ਵਿੱਚ ਬੱਝੀ ਹੋਈ, ਕਿਤੇ ਪਤਨੀ ਦੇ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਕਿਤੇ ਮਾਂ ਦੇ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਮਮਤਾ ਦੀਆਂ ਜੰਜੀਰਾਂ ਵਿੱਚ ਜੱਕੜੀ ਹੋਈ ਅਤੇ

*ਐਸੋਸੀਏਟ ਪ੍ਰੋਫੈਸਰ, ਮੁਖੀ ਪੰਜਾਬੀ ਵਿਭਾਗ, ਕਮਲਾ ਲੋਹਟੀਆ ਐਸ. ਡੀ. ਕਾਲਜ, ਲੁਧਿਆਣਾ

ਕਿਤੇ ਧੀ ਦੇ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਆਪਣੀ ਹੋਂਦ ਤੇ ਸਲਾਮਤੀ ਲਈ ਸਿਸਕਦੀ ਦਿਖਾਈ ਦਿੰਦੀ ਹੈ। ਦੁੱਖ ਭੋਗਦੀ ਮਾਂ ਨੂੰ ਦੇਖ ਕੇ ਕਵਿੱਤਰੀ ਦੀ ਕਾਵਿ-ਆਤਮਾ ਉਸ ਦੁੱਖ ਉੱਤੇ ਕਵਿਤਾ ਬਣਾਉਂਦੀ ਹੈ। ਉਹ ਲਿਖਦੀ ਹੈ:

ਯਾਦ ਆ ਰਹੀ ਹੈ
ਸ਼ਰਾਬੀ ਪਿਉ ਦੇ ਲਲਕਾਰਿਆਂ ਤੋਂ ਸਹਿਮੀ
ਮਲੂਕ ਜਿਹੀ ਮਾਂ...
ਮਾਂ ਦੀ ਕਬੀਲਦਾਰੀ ਤੇ ਚਿੰਤਾ
ਹੋਰ ਉੱਚੀਆਂ ਹੋਣ ਲੱਗੀਆਂ
ਪਿਉ ਦੀਆਂ ਬੜਕਾਂ
ਵਿਹੜੇ ਵਿੱਚ ਫਿਰਦੀਆਂ
ਅਣਸੱਦੀਆਂ ਪ੍ਰਾਹੁਣੀਆਂ ਵਰਗੀਆਂ
ਧੀਆਂ ਨੂੰ ਦੇਖ ਦੇਖ
ਹੌਲੀ ਹੌਲੀ
ਕੁਮਲਾਉਣ ਲੱਗੀ ਮਾਂ ਦੀ ਮਮਤਾ।^੬

ਜੇ ਅਸੀਂ ਕਿਸੇ ਵੀ ਮਾਨਵੀ ਰਿਸ਼ਤੇ ਨੂੰ ਸਮਝਣਾ ਹੋਵੇ ਤਾਂ ਅਸੀਂ ਉਸ ਨੂੰ ਵੱਖ-ਵੱਖ ਸਥਿਤੀਆਂ ਦੇ ਅੰਤਰਗਤ ਹੀ ਸਮਝ ਸਕਦੇ ਹਾਂ। ਉਹ ਆਪਣੀਆਂ ਰਚਨਾਵਾਂ ਵਿੱਚ ਪ੍ਰੇਮੀ-ਪ੍ਰੇਮਿਕਾ ਦੇ ਰਿਸ਼ਤੇ ਦੀ ਪੇਸ਼ਕਾਰੀ ਸਮੇਂ ਅਜਿਹੀਆਂ ਸਥਿਤੀਆਂ ਦੀ ਸਿਰਜਣਾ ਕਰਦੀ ਹੈ, ਜਦੋਂ ਪ੍ਰੇਮ ਸੰਬੰਧ ਕਵਿਤਾ ਦੀ ਨਾਇਕਾ ਨੂੰ ਸੁਖਦ, ਆਨੰਦਦਾਇਕ ਪ੍ਰਤੀਤ ਹੁੰਦੇ ਹਨ। ਇਸ਼ਕ ਜਾਂ ਪ੍ਰੇਮ ਦਾ ਇਹ ਜਜ਼ਬਾ ਦੋਹਾਂ ਧਿਰਾਂ ਨੂੰ ਇੱਕੋ ਜਿਹਾ ਪ੍ਰਭਾਵਿਤ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਇਹ ਰਿਸ਼ਤਾ ਰੂਹ ਤੋਂ ਜਿਸਮ ਤੱਕ ਫੈਲਿਆ ਹੋਇਆ ਹੈ। ਪ੍ਰੇਮਿਕਾ ਦੀ ਪ੍ਰੇਮੀ ਪ੍ਰਤੀ ਸਮਰਪਣ ਦੀ ਸਥਿਤੀ ਨੂੰ ਇੰਝ ਬਿਆਨਦੀ ਹੈ:

ਤੂੰ ਜਿਵੇਂ ਖਿੜਦਾ ਏ ਹਰ ਮੌਸਮ 'ਚ ਮੇਰੇ ਵਾਸਤੇ
ਉਮਰ ਭਰ ਬਰਸਾਂਗੀ ਮੈਂ ਵੀ ਇਉਂ ਹੀ ਤੇਰੇ ਵਾਸਤੇ।^੭

ਸੁਖਵਿੰਦਰ ਅੰਮ੍ਰਿਤ ਦਾ ਅਸਲ ਮਨੋਰਥ ਔਰਤ ਦੀ ਸਮਾਜਿਕ ਸਥਿਤੀ ਅਤੇ ਮਰਦਾਵੀਂ ਸਮਾਜਿਕ ਸਥਿਤੀ ਕਾਰਨ ਪੈਦਾ ਹੋਏ ਮਾਨਵੀ ਰਿਸ਼ਤਿਆਂ ਵਿਚਾਲੇ ਦਵੰਦਾਂ ਨੂੰ ਪੇਸ਼ ਕਰਨਾ ਹੈ। ਉਸ ਦੀਆਂ ਰਚਨਾਵਾਂ ਵਿੱਚ ਜਿੱਥੇ ਇੱਕ ਔਰਤ ਪ੍ਰੇਮਿਕਾ ਦੇ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਭਾਵ ਵਿਅਕਤ ਕਰਦੀ ਹੈ, ਉੱਥੇ ਉਹ ਧੀ ਤੇ ਮਾਂ ਦੇ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਵੀ ਭਾਵ ਵਿਅਕਤ ਕਰਦੀ ਹੈ। ਬਦਲ ਰਹੀਆਂ ਪ੍ਰਸਥਿਤੀਆਂ ਵਿੱਚ ਔਰਤ ਮਾਂ ਦੇ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਤਰਸ ਦੀ ਪਾਤਰ ਨਜ਼ਰ ਆਉਂਦੀ ਹੈ। ਇਸ ਦੇ ਨਾਲ ਹੀ ਉੱਥੇ ਮਾਨਵੀ ਰਿਸ਼ਤਿਆਂ ਵਿੱਚ ਦਿਨ ਪ੍ਰਤੀ ਦਿਨ ਆ ਰਹੇ ਨਿਘਾਰ ਨੂੰ ਵੀ ਪੇਸ਼ ਕਰਦੀ ਹੈ:

“ਤੂੰ ਮੇਰੀ ਛਾਂ 'ਚ ਬਹਿ ਕੇ ਆਖਿਆ ਸੀ ਇਸ ਤਰ੍ਹਾਂ ਇੱਕ ਦਿਨ ਮੈਂ ਤੇਰੇ ਪੱਤੇ-ਪੱਤੇ ਦਾ ਉਤਾਰੂ ਕਰਜ਼ ਮਾਂ ਇੱਕ ਦਿਨ ਉਹ ਮੇਰੀ ਰੁੱਤ ਦੇ ਜਾਏ, ਜਦੋਂ ਖਿੜਨ 'ਤੇ ਆਏ ਤਾਂ ਮੈਨੂੰ ਦੇ ਗਏ ਸੌਗਾਤ ਵਿੱਚ ਬੈਸਾਖੀਆਂ ਇੱਕ ਦਿਨ।”^੮

ਬਦਲ ਰਹੇ ਸਮੇਂ ਨੂੰ ਪੇਸ਼ ਕਰਦੀ ‘ਸਬਕ’ ਕਵਿਤਾ ਵਿੱਚ ਸੁਖਵਿੰਦਰ ਅੰਮ੍ਰਿਤ ਨੇ ਪਿੰਡ ਦੇ ਇੱਕ ਆਮ ਪਰਿਵਾਰ ਵਿੱਚ ਪਲਦੀ ਧੀ ਦੀ ਤਸਵੀਰ ਨੂੰ ਚਿਤਰਿਆ ਹੈ। ਇਸ ਕਵਿਤਾ ਵਿੱਚ ਪੇਂਡੂ ਪਰਿਵਾਰ ਵਿੱਚ ਪਲੀ ਧੀ ਸਹੁਰੇ ਘਰ ਜਾ ਕੇ ਧੀ ਦੀ ਮਾਂ ਬਣਨ ਤੋਂ ਬਾਅਦ ਆਪਣੀ ਧੀ ਨੂੰ ਸੁਤੰਤਰਤਾ ਦਾ ਸਬਕ ਸਿਖਾਉਂਦੀ ਹੈ:-

ਮੇਰੀ ਨੰਨ੍ਹੀ ਬੱਚੀ
ਤੇਰੀ ਮਲੂਕ ਗੱਲ 'ਤੇ ਉੱਭਰੀ ਹੋਈ
ਆਪਣੇ ਕਠੋਰ ਹੱਥ ਦੀ ਲਾਸ ਵੇਖ ਕੇ
ਮੈਂ ਬਹੁਤ ਸ਼ਰਮਸਾਰ ਹਾਂ
ਮਰਦ ਮਾਇਨੇ ਹਕੂਮਤ
ਔਰਤ ਮਾਇਨੇ ਬੇਬਸੀ।^੯

ਸੁਖਵਿੰਦਰ ਅੰਮ੍ਰਿਤ ਆਪਣੀ ਕਵਿਤਾ ਵਿੱਚ ਔਰਤ ਦੇ ਵਡੱਪਣ ਨੂੰ ਵੀ ਪੇਸ਼ ਕਰਦੀ ਹੈ। ਇੱਕ ਮਾਂ ਵੱਲੋਂ ਆਪਣੀ ਧੀ ਨੂੰ ਸਮਝਾਉਂਦਿਆਂ ਨਸੀਹਤ ਦਿੱਤੀ ਜਾਂਦੀ ਹੈ ਕਿ ਮਾਂ ਦਾ ਦਿਲ ਕਿੰਨਾ ਵੱਡਾ ਹੁੰਦਾ ਹੈ। ਇੱਕ ਮਾਂ ਦੇ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਔਰਤ ਦੀ ਮਾਨਵੀ ਰਿਸ਼ਤਿਆਂ ਵਿਚਲੀ ਸਥਿਤੀ ਨੂੰ ਕਵਿੱਤਰੀ ਨੇ ਬਹੁਤ ਵਧੀਆ ਢੰਗ ਨਾਲ ਪੇਸ਼ ਕੀਤਾ ਹੈ:

ਨਾ ਲੋਗੀ ਮੁੱਲ ਮੰਗਦੀ ਹੈ ਨਾ ਮਮਤਾ ਕਰਜ਼ ਹੁੰਦੀ ਹੈ
ਸਮਝ ਜਾਏਂਗੀ ਧੀਏ ! ਜਦ ਬਣੇਗੀ ਖੁਦ ਤੂੰ ਮਾਂ ਇੱਕ ਦਿਨ ।⁸

ਸੁਖਵਿੰਦਰ ਅੰਮ੍ਰਿਤ ਖੁਦ ਆਖਦੀ ਹੈ, “ਕਿਸੇ ਨੇ ਕਿਹਾ ਕਿ ਇਨਸਾਨੀ ਰਿਸ਼ਤਿਆਂ ਦਾ ਹੀ ਤਾਣਾ ਪੇਟਾ ਹੈ, ਜਿੰਨੇ ਇਨਸਾਨੀ ਰਿਸ਼ਤੇ ਖੂਬਸੂਰਤ ਹੋਣਗੇ, ਉੱਨਾ ਹੀ ਇਨਸਾਨੀ ਸਮਾਜ ਖੂਬਸੂਰਤ ਹੋਵੇਗਾ। ਪਿਆਰ ਦਾ ਰਿਸ਼ਤਾ ਇੱਕ ਆਦਰਸ਼ਕ ਰਿਸ਼ਤਾ ਹੈ। ਇਹ ਰਿਸ਼ਤਾ ਖੁਦਗਰਜ਼ੀਆਂ ਤੋਂ ਉੱਚਾ ਸਥਾਨ ਰੱਖਦਾ ਹੈ ਤੇ ਹਰ ਇਨਸਾਨ ਇਹੋ ਜਿਹੇ ਪਿਆਰ ਲਈ ਤਾਂਘਦਾ ਹੈ। ਭਾਵੇਂ ਇਹ ਤਾਂਘ ਬਹੁਤੀ ਵਾਰੀ ਇੱਕ ਮਿਰਗ ਤ੍ਰਿਸ਼ਨਾ ਬਣ ਕੇ ਹੀ ਰਹਿ ਜਾਂਦੀ ਹੈ, ਪਰ ਆਦਰਸ਼ਾਂ ਲਈ ਤਾਂਘ, ਇੱਕ ਮਨੁੱਖੀ ਫਿਤਰਤ ਅਤੇ ਸੁਪਨਾ ਹੈ। ਮੇਰੀ ਸ਼ਾਇਰੀ ਵੀ ਪਿਆਰ ਦੀ ਹਕੀਕਤ ਅਤੇ ਇਸ ਆਦਰਸ਼ਕ ਰਿਸ਼ਤੇ ਨਾਲ ਗਹਿਰੀ ਤਰ੍ਹਾਂ ਜੁੜੀ ਹੋਈ ਹੈ। ਪਿਆਰ ਵਿੱਚ ਬੱਝਿਆ ਸਮਾਜ ਮੇਰਾ ਆਦਰਸ਼ ਹੈ।”⁹

ਸੁਖਵਿੰਦਰ ਅੰਮ੍ਰਿਤ ਨੇ ਜਿਸ ਅਹਿਸਾਸ ਤੇ ਸ਼ਿੱਦਤ ਨਾਲ ਪਿਆਰ ਨੂੰ ਪੇਸ਼ ਕੀਤਾ ਹੈ, ਉਹ ਸ਼ਾਇਦ ਹੀ ਕਿਸੇ ਹੋਰ ਦੇ ਹਿੱਸੇ ਆਇਆ ਹੋਵੇ। ਉਸ ਦੇ ਹਰ ਸ਼ਬਦ ਵਿੱਚ ਮੌਲਿਕਤਾ ਹੈ, ਉਸ ਦੇ ਸੀਨੇ 'ਚ ਉੱਠਿਆ ਹੋਕਾ ਸਮੁੰਦਰ ਵਿੱਚ ਉੱਠੇ ਉਛਾਲ ਤੋਂ ਕਿਸੇ ਤਰ੍ਹਾਂ ਵੀ ਘੱਟ ਨਹੀਂ। ਉਸ ਦੇ ਰੋਮ-ਰੋਮ 'ਚ ਵਿਸਮਾਦ ਹੈ ਤੇ ਚਿਹਰੇ 'ਤੇ ਸੱਚੇ ਪਿਆਰ ਦੇ ਨਕਸ਼ ਉੱਭਰੇ ਪ੍ਰਤੀਤ ਹੁੰਦੇ ਹਨ। ਉਹ ਲਿਖਦੀ ਹੈ:

ਜਦ ਵੀ ਮੈਂ ਆਪਣੇ ਇਸ਼ਕ ਦਾ ਕੋਈ ਵਾਕਿਆ ਲਿਖਾਂ
ਖੁਦ ਨੂੰ ਖੁਦਾਈ, ਇਸ਼ਕ ਨੂੰ ਆਪਣਾ ਖੁਦਾ ਲਿਖਾਂ
ਫੁਲਾਂ ਤੇ ਤਿਲੀਆਂ ਦੀ ਇੱਕ ਲੰਮੀ ਕਥਾ ਲਿਖਾਂ
ਕੁਦਰਤ ਨੂੰ ਸੁੱਚੇ ਇਸ਼ਕ ਦਾ ਹੀ ਸਿਲਸਿਲਾ ਲਿਖਾਂ
ਰੱਬ ਮੇਰੇ ਕਲਾਮ ਨੂੰ ਤੌਫੀਕ ਦੇ ਕਿ ਮੈਂ
ਸਭ ਦੀਵਿਆਂ ਦੀ ਓਟ ਜ਼ਖ਼ਮਾਂ ਦੀ ਦਵਾ ਲਿਖਾਂ ।¹⁰

ਸੁਖਵਿੰਦਰ ਅੰਮ੍ਰਿਤ ਕਈ ਵਾਰ ਪਿਆਰ ਸੰਬੰਧਾਂ ਦੀ ਪੇਸ਼ਕਾਰੀ ਸਮੇਂ ਬੜੇ ਹੀ ਕਲਾਤਮਿਕ ਢੰਗ ਨਾਲ ਦੋ ਵਿਰੋਧੀ ਸਥਿਤੀਆਂ ਦੀ ਸਿਰਜਣਾ ਕਰਦੀ ਹੋਈ, ਇਹਨਾਂ ਦੇ ਅੰਦਰੂਨੀ ਸੱਚ ਨੂੰ ਬਿਆਨ ਕਰਦੀ ਹੈ। ਉਸ ਦੀ ਕਾਵਿਕ ਨਾਇਕਾ ਦੇ ਮਨ ਵਿੱਚ ਪਹਿਲਾਂ ਅਥਾਹ ਪਿਆਰ ਤੇ ਵਫ਼ਾ ਹੈ। ਦੂਜੀ ਸਥਿਤੀ ਵਿੱਚ ਪ੍ਰੇਮੀ ਨੂੰ ਪ੍ਰੇਮਿਕਾ ਦੇ ਪ੍ਰੇਮ ਵਿੱਚ ਅਨੰਦ ਨਹੀਂ ਆਉਂਦਾ ਅਤੇ ਉਹ ਬੇਚੈਨ ਹੈ। ਇਹਨਾਂ ਸ਼ੇਅਰਾਂ ਵਿੱਚ ਗਜ਼ਲਕਾਰਾਂ ਨੇ ਜਿੱਥੇ ਔਰਤ ਦੀ ਵਫ਼ਾ ਨੂੰ ਪੇਸ਼ ਕੀਤਾ ਹੈ, ਉੱਥੇ ਪ੍ਰੇਮੀ ਦੀ ਅੰਦਰਲੀ ਭਟਕਣਾ ਨੂੰ ਵੀ ਪ੍ਰਗਟ ਕੀਤਾ ਹੈ:

ਚੁੰਮ ਚੁੰਮ ਕੇ ਪੈਰ ਤੇਰੇ ਇੱਕ ਲਹਿਰ ਪੁੱਛ ਰਹੀ ਹੈ
ਤੇਰੀ ਪਿਆਸ ਦੀ ਕਥਾ ਵਿੱਚ ਮੇਰਾ ਨਾਮ ਕਿਉਂ ਨਹੀਂ ਆਉਂਦਾ
ਕਿੱਥੇ ਤੂੰ ਤਪ ਰਿਹਾ ਹੈਂ ਕਿੱਥੇ ਤੂੰ ਖਪ ਰਿਹਾ ਹੈ
ਹੁਣ ਮੇਰੀ ਛਾਂ 'ਚ ਤੈਨੂੰ ਆਰਾਮ ਕਿਉਂ ਨਹੀਂ ਆਉਂਦਾ ।¹¹

ਸੁਖਵਿੰਦਰ ਅੰਮ੍ਰਿਤ ਦੀਆਂ ਰਚਨਾਵਾਂ ਵਿੱਚ ਕਈ ਥਾਂ ਇਤਿਹਾਸਕ, ਮਿਥਿਹਾਸਕ ਅਤੇ ਲੋਕਧਾਰਾਈ ਹਵਾਲੇ ਮਿਲਦੇ ਹਨ। ਇਹਨਾਂ ਹਵਾਲਿਆਂ ਦੀ ਵਰਤੋਂ ਉਹ ਆਦਰਸ਼ ਮਾਨਵੀ ਰਿਸ਼ਤਿਆਂ ਨੂੰ ਪੇਸ਼ ਕਰਨ ਲਈ ਕਰਦੀ ਹੈ। ‘ਸੁੰਦਰਾਂ’ ਅਤੇ ‘ਪੂਰਨ’ ਪੰਜਾਬ ਦੀ ਲੋਕ ਕਥਾ ਵਿੱਚੋਂ ਪਾਤਰ ਲੈ ਕੇ ਉਹ ਪ੍ਰੇਮੀ-ਪ੍ਰੇਮਿਕਾ ਦੇ ਪ੍ਰੇਮ ਸੰਬੰਧਾਂ ਨੂੰ ਲੋਕਧਾਰਾਈ ਹਵਾਲਿਆਂ ਰਾਹੀਂ ਪੇਸ਼ ਕਰਦੀ ਹੈ:

ਮੈਂ ਸੁੰਦਰਾਂ ਦੀ ਮੁਹੱਬਤ ਹਾਂ ਤੂੰ ਪੂਰਨ ਦਾ ਸੁਹੱਪਣ ਹੈ
ਤੇਰੇ ਪਹਿਲੂ 'ਚ ਮੇਰੀ ਤੜਪ ਨੂੰ ਆਰਾਮ ਆਉਂਦਾ ਹੈ ।¹²

ਮਾਨਵੀ ਰਿਸ਼ਤਿਆਂ ਵਿੱਚ ਆ ਚੁੱਕੀ ਨੈਤਿਕ ਗਿਰਾਵਟ ਦੀ ਪੇਸ਼ਕਾਰੀ ਲਈ ਸੁਖਵਿੰਦਰ ਅੰਮ੍ਰਿਤ ਪਿਉ-ਪੁੱਤ ਦੇ ਰਿਸ਼ਤੇ ਵਿਚਲੇ ਦਵੰਦ ਨੂੰ ਪੇਸ਼ ਕਰਦੀ ਹੈ। ਪੁੱਤ ਦੀ ਪੂੰਜੀਵਾਦੀ ਮਾਨਸਿਕਤਾ ਦੱਸਦੀ ਹੈ ਕਿ ਉਹ ਚਾਹੁੰਦਾ ਹੈ ਕਿ ਉਹ ਕਿਸੇ ਰਾਜੇ ਜਾਂ ਅਮੀਰ ਬਾਪ ਦਾ ਪੁੱਤਰ ਹੁੰਦਾ:

ਕਿਹਾ ਪੁੱਤਰ ਨੇ ਇੱਕ ਦਿਨ ਕਾਸ਼ ! ਮੈਂ ਰਾਜੇ ਦਾ ਪੁੱਤ ਹੁੰਦਾ
ਪਿਤਾ ਹੱਸਿਆ, ਬਹੁਤ ਹੱਸਿਆ ਤੇ ਫਿਰ ਪਥਰਾ ਗਿਆ ਆਖਰ ।¹³

ਸੁਖਵਿੰਦਰ ਅੰਮ੍ਰਿਤ ਨੇ ਆਪਣੀ ਕਵਿਤਾ ਵਿੱਚ ਪੁਰਸ਼ ਪ੍ਰਧਾਨ ਸਮਾਜ ਵਿੱਚ ਔਰਤ ਦੀ ਲਾਚਾਰ ਅਤੇ ਬੇਬਸੀ ਵਾਲੀ ਸਥਿਤੀ ਨੂੰ ਵੱਖਰੇ ਹੀ ਕਟਾਖਸ਼ੀ ਅੰਦਾਜ਼ ਵਿੱਚ ਪੇਸ਼ ਕੀਤਾ ਹੈ। ਇੱਥੋਂ ਤੱਕ ਕਿ ਨਾਥਾਂ-ਜੋਗੀਆਂ ਅਤੇ ਬਹੁਤ ਸਾਰੇ ਕਿੱਸਾਕਾਰਾਂ ਨੇ ਔਰਤ ਨੂੰ ਰੱਜ

ਕੇ ਭੰਡਿਆ ਹੈ। ਇਸ ਤੋਂ ਬਿਨਾਂ ਮਰਦ ਵੱਲੋਂ ਹਮੇਸ਼ਾਂ ਹੀ ਔਰਤ ਨੂੰ ਦੋਸ਼ੀ ਠਹਿਰਾਇਆ ਗਿਆ ਹੈ। ਹਾਲਾਤ ਕਿਹੋ ਜਿਹੇ ਵੀ ਹੋਣ ਬਸ ਇਲਜ਼ਾਮ ਔਰਤ ਸਿਰ ਲਾ ਦਿੱਤਾ ਜਾਂਦਾ ਹੈ। ਕਵਿੱਤਰੀ ਨੇ ਪ੍ਰੀਤ ਕਥਾਵਾਂ 'ਚੋਂ, ਲੋਕ ਗਾਥਾਵਾਂ ਤੇ ਇਤਿਹਾਸ-ਮਿਥਿਹਾਸ ਵਿੱਚੋਂ ਕਈ ਉਦਾਹਰਣਾਂ ਲੈ ਕੇ ਔਰਤ ਨੂੰ ਇਨਸਾਫ਼ ਦਿਵਾਉਣ ਦੀ ਕੋਸ਼ਿਸ਼ ਕੀਤੀ ਹੈ। ਉਹ ਸਥਾਪਿਤ ਕਦਰਾਂ-ਕੀਮਤਾਂ ਵਿਰੁੱਧ ਆਵਾਜ਼ ਉਠਾਉਣ ਦੇ ਨਾਲ-ਨਾਲ ਬਦਲ ਰਹੇ ਮਾਨਵੀ ਰਿਸ਼ਤਿਆਂ ਵਿੱਚ ਸਦੀਆਂ ਤੋਂ ਔਰਤ ਦੇ ਸਿਰ 'ਤੇ ਲੱਗੇ ਬੇਵਫ਼ਾਈ ਦੇ ਕਲੰਕ ਤੋਂ ਮੁਕਤ ਕਰਾਉਂਦੀ ਹੈ।

ਝਨਾਂ ਦੇ ਨੀਰ ਦੀ ਹਰ ਲਹਿਰ ਅੱਜ ਵੀ ਤੜਪ ਕੇ ਆਖੇ
ਮੁਹੱਬਤ ਵਿੱਚ ਕੋਈ ਸੋਹਣੀ ਕਦੇ ਬੁਜ਼ਦਿਲ ਨਹੀਂ ਹੁੰਦੀ
ਚਿਰਾਗਾਂ ਦੇ ਬੁੱਝਣ ਦਾ ਹੋਰ ਕਾਰਨ ਵੀ ਤਾਂ ਹੋ ਸਕਦੈ
ਕਿ ਇਸ ਸਾਜਿਸ਼ 'ਚ ਹਰ ਵਾਰੀ ਹਵਾ ਸ਼ਾਮਿਲ ਨਹੀਂ ਹੁੰਦੀ।¹⁴

ਸੁਖਵਿੰਦਰ ਅੰਮ੍ਰਿਤ ਮਾਨਵੀ ਰਿਸ਼ਤਿਆਂ ਦੀ ਪੇਸ਼ਕਾਰੀ ਸਮੇਂ ਪ੍ਰਕਿਰਤੀ ਦਾ ਮਾਨਵੀਕਰਨ ਕਰਦੀ ਹੈ। ਉਹ ਨਾਇਕਾ ਦੇ ਪ੍ਰੇਮੀ ਨਾਲ ਸੰਬੰਧਾਂ ਦੀ ਸ਼ਿੱਦਤ ਨੂੰ ਪ੍ਰਗਟ ਕਰਨ ਲਈ ਪ੍ਰਕਿਰਤੀ ਦਾ ਮਾਨਵੀਕਰਨ ਕਰਦੀ ਹੈ। ਕਾਵਿ ਨਾਇਕ ਦੀ ਪ੍ਰੇਮੀ ਲਈ ਚਾਹਤ, ਬਿਹਬਲਤਾ ਤੇ ਪ੍ਰੇਮੀ ਲਈ ਉਸਦੀ ਤੜਪ ਨੂੰ ਇੰਝ ਪੇਸ਼ ਕਰਦੀ ਹੈ:

ਮੌਤ ਕੀ ਹੈ ਤੇ ਕੀ ਜ਼ਿੰਦਗੀ ਹੈ
ਤੂੰ ਨਹੀਂ ਤਾਂ ਇਹ ਦੁਨੀਆਂ ਵੀ ਕੀ ਹੈ
ਹੋਠ ਜਿਸ ਨੂੰ ਆਪਣੇ ਛੁਹਾਏ
ਉਹ ਨਦੀ ਬਾਵਰੀ ਹੋ ਗਈ ਹੈ।¹⁵

ਡਾ. ਰਤਨ ਸਿੰਘ ਜੱਗੀ ਮਾਨਵੀਕਰਨ ਨੂੰ ਪਰਿਭਾਸ਼ਿਤ ਕਰਦੇ ਹੋਏ ਲਿਖਦੇ ਹਨ:

“ਜੇ ਮਾਨਵ, ਮਨੁੱਖ ਜਾਂ ਪੁਰਸ਼ ਨਾ ਹੋਵੇ ਉਸ ਵਿੱਚ ਮਾਨਵ, ਮਨੁੱਖ ਜਾਂ ਪੁਰਸ਼ ਦੇ ਗੁਣ, ਕਿਰਿਆ ਆਦਿ ਨੂੰ ਵੇਖਣ ਤੇ ਪ੍ਰਗਟ ਕਰਨ ਦੀ ਪ੍ਰਕਿਰਿਆ ਨੂੰ ਮਾਨਵੀਕਰਨ, ਮਨੁੱਖੀਕਰਨ ਜਾਂ ਪੁਰਸ਼ੀਕਰਨ ਆਖਿਆ ਜਾਂਦਾ ਹੈ।”¹⁶

ਸੁਖਵਿੰਦਰ ਅੰਮ੍ਰਿਤ ਚਿੰਨ੍ਹਾਂ ਤੇ ਪ੍ਰਤੀਕਾਂ ਦੀ ਵਰਤੋਂ ਕਰਨ ਵਿੱਚ ਉਸਤਾਦ ਸ਼ਾਇਰਾ ਹੈ। ਮਰਦ ਦੇ ਮਰਦਾਉਪੁਣੇ 'ਤੇ ਕਰਾਰੀ ਚੋਟ ਕਰਦੀ ਹੋਈ, ਜਦੋਂ ਸਮਾਜ ਅੱਗੇ ਉਸਦਾ ਚਿਹਰਾ ਨੰਗਾ ਕਰਦੀ ਹੈ ਤੇ ਜਦੋਂ ਉਹ ਆਪਣੇ ਆਪ ਨੂੰ ਸਮਾਜ ਦੇ ਅੱਗੇ ਪੇਸ਼ ਕਰਦੀ ਹੈ ਤਾਂ ਉਸਦੇ ਹੱਥ ਸਮਾਜ ਦੀ ਸਖ਼ਤੀ, ਤਲਖੀ ਤੇ ਨਿਰਾਸ਼ਾ ਹੀ ਪੈਂਦੀ ਹੈ। ਕਵਿੱਤਰੀ ਨੂੰ ਆਪ ਜ਼ਿੰਦਗੀ ਦੇ ਤਲਖ ਤਜ਼ਰਬਿਆਂ ਨਾਲ ਦੋ-ਚਾਰ ਹੋਣਾ ਪਿਆ। ਉਹ ਮਾਨਵੀ ਰਿਸ਼ਤਿਆਂ ਦੇ ਬਾਹਰੀ ਸੱਚ ਨੂੰ ਪ੍ਰਗਟ ਕਰਨ ਲਈ ਪ੍ਰਾਕ੍ਰਿਤੀ ਦਾ ਮਾਨਵੀਕਰਨ ਕਰਦੀ ਹੈ:

ਕਿਸੇ ਵੀ ਬਿਰਖ ਦੇ ਸਾਹਵੇਂ ਜਦੋਂ ਝੋਲੀ ਫੈਲਾਈ ਮੈਂ,
ਉਦਾਸੇ ਫੁੱਲ, ਪੀਲੇ ਪੱਤੇ, ਧੁਖਦੀ ਮਹਿਕ ਪਾਈ ਮੈਂ।¹⁷

ਆਪਣੇ ਸਬਰ ਤੇ ਸਿਦਕ ਦੀ ਵਿਆਖਿਆ ਕਰਦੀ ਸੁਖਵਿੰਦਰ ਅੰਮ੍ਰਿਤ ਦੀ ਸ਼ਾਇਰੀ ਇਹ ਗੱਲ ਕਬੂਲ ਕਰਦੀ ਹੈ ਕਿ ਜਦੋਂ ਔਰਤ ਦੇ ਸਬਰ ਦਾ ਪਿਆਲਾ ਭਰ ਗਿਆ ਤਾਂ ਮਜ਼ਬੂਰਨ ਉਸ ਨੂੰ ਸਥਾਪਿਤ ਕਦਰਾਂ-ਕੀਮਤਾਂ ਵਿਰੁੱਧ ਆਪਣੇ ਮਾਨਵੀ ਹੱਕਾਂ ਲਈ ਆਵਾਜ਼ ਬੁਲੰਦ ਕਰ ਲਈ ਤਾਂ ਉਹ ਸਾਰੇ ਬੰਧਨਾਂ ਤੋਂ ਆਜ਼ਾਦ ਹੋ ਜਾਏਗੀ। ਉਹ ਪ੍ਰਾਕ੍ਰਿਤੀ ਦੇ ਮਾਨਵੀਕਰਨ ਰਾਹੀਂ ਮਾਨਵੀ ਰਿਸ਼ਤਿਆਂ ਪ੍ਰਤੀ ਆਪਣੇ ਭਾਵਾਂ ਨੂੰ ਅਭਿਵਿਅਕਤ ਕਰਦੀ ਹੈ:-

ਸਬਰ ਮੇਰੇ ਦੀ ਜਦ ਇੰਤਿਹਾ ਹੋ ਗਈ
ਤੋੜ ਕੇ ਬੇੜੀਆਂ ਮੈਂ ਰਿਹਾ ਹੋ ਗਈ
ਉਹ ਸਮੁੰਦਰ ਸੀ ਜਦ ਮੈਂ ਨਦੀ ਬਣ ਤੁਰੀ
ਉਹ ਗਗਨ ਹੋ ਗਿਆ ਮੈਂ ਘਟਾ ਹੋ ਗਈ।¹⁸

ਕਵਿੱਤਰੀ ਆਪਣੀ ਕਾਵਿ-ਰਚਨਾ ਵਿੱਚ ਪ੍ਰੇਮੀ-ਪ੍ਰੇਮਿਕਾ ਤੋਂ ਇਲਾਵਾ ਹੋਰ ਰਿਸ਼ਤਿਆਂ ਦੀ ਪੇਸ਼ਕਾਰੀ ਵੀ ਕਰਦੀ ਹੈ। ਇਹਨਾਂ ਦੂਜੇ ਮਾਨਵੀ ਰਿਸ਼ਤਿਆਂ ਅਤੇ ਇਹਨਾਂ ਦੇ ਦਵੰਦ ਨੂੰ ਪੇਸ਼ ਕਰਨ ਲਈ ਉਹ ਪ੍ਰਾਕ੍ਰਿਤੀ ਦਾ ਮਾਨਵੀਕਰਨ ਕਰਦੀ ਹੈ। ਮਾਂ-ਬਾਪ ਤੇ ਔਲਾਦ ਦੇ ਇਸ ਪਦਾਰਥਵਾਦੀ ਯੁੱਗ ਵਿੱਚ ਬਣ ਚੁੱਕੇ ਸਵਾਰਥੀ ਸੰਬੰਧਾਂ ਨੂੰ ਪ੍ਰਗਟ ਕਰਦੇ ਸਮੇਂ ਉਹ ਪ੍ਰਕਿਰਤੀ ਦਾ ਮਾਨਵੀਕਰਨ

ਬਾਖੂਬੀ ਕਰਦੀ ਹੋਈ, ਅੱਲਾਦ ਦੁਆਰਾ ਬੁਢਾਪੇ ਦੀ ਅਵਸਥਾ ਵਿੱਚ ਬਾਪ ਨੂੰ ਇਕੱਲਾ ਛੱਡ ਜਾਣ ਦੀ ਦੁਖਦਾਈ ਸਥਿਤੀ ਨੂੰ ਦਰਸਾਉਂਦੀ ਹੈ:

ਪਰਿੰਦੇ ਉੱਡ ਹੀ ਜਾਂਦੇ ਨੇ ਖਿਜਾ ਦੀ ਰੁੱਤ ਜਦ ਆਉਂਦੀ
ਤੇ ਛੱਡ ਜਾਂਦੇ ਨੇ ਰੋਹੀਆਂ ਵਿੱਚ ਇਕੱਲਾ ਸਿਸਕਦਾ ਰੁੱਖੜਾ।¹⁹

ਸੁਖਵਿੰਦਰ ਦੀ ਸ਼ਾਇਰੀ ਵਿੱਚ ਮਾਨਵੀ ਮੋਹ, ਲੋਕ ਦਰਦ ਦੇ ਨਾਲ-ਨਾਲ ਇਸ਼ਕ ਸੰਵੇਦਨਾ ਵੀ ਹੈ। ਪੰਜਾਬ ਦੇ ਕਾਲੇ ਦਿਨਾਂ ਦਾ ਦਰਦ ਉਸਨੇ ਆਪਣੀ ਸ਼ਾਇਰੀ ਵਿੱਚ ਬਾਖੂਬੀ ਬਿਆਨ ਕੀਤਾ ਹੈ। ਮਾਨਸਿਕ, ਸਰੀਰਕ ਤੇ ਸਮਾਜਿਕ ਸੰਤਾਪ ਭੋਗ ਰਹੇ ਲੋਕਾਂ ਦੇ ਦਰਦ ਦੀ ਵਿਥਿਆ ਅਖ਼ਬਾਰਾਂ ਵਿੱਚ ਪੜ੍ਹ ਕੇ ਉਸਦਾ ਕੋਮਲ ਮਨ ਵਲੂੰਧਰਿਆ ਗਿਆ। ਉਹ ਲਿਖਦੀ ਹੈ:

ਮੋਹ ਦੀ ਮਹਿਕ ਨ ਆਈ ਇੱਕ ਵੀ ਅੱਖਰ 'ਚੋਂ
ਵੇਖੀ ਹੈ ਮੈਂ ਸੁਰਖੀ ਸਭ ਅਖ਼ਬਾਰਾਂ ਦੀ।²⁰

ਕਵਿੱਤਰੀ ਮਾਨਵੀ ਸੰਬੰਧਾਂ ਨੂੰ ਪ੍ਰਗਟ ਕਰਨ ਲਈ ਕਈ ਤਰ੍ਹਾਂ ਦੇ ਪ੍ਰਤੀਕਾਂ ਦੀ ਵਰਤੋਂ ਕਰਦੀ ਹੈ। ਜਿੱਥੇ ਉਹ ਨਾਰੀ ਭਾਵਾਂ ਨੂੰ ਅਭੀਵਿਅਕਤ ਕਰਨ ਵਾਲੇ ਪ੍ਰਤੀਕ ਟਾਹਣੀ, ਚੁੰਨੀ, ਛੁਰੀ, ਮਛਲੀ, ਪੈਂਟ, ਨਦੀ, ਤਲਵਾਰ, ਪੱਤੀਆਂ, ਬੰਸਰੀ, ਤਿਤਲੀ, ਹਵਾ, ਕਲੀ, ਵੰਝਲੀ, ਚੂੜੀਆਂ, ਚਿੜੀਆਂ ਆਦਿ ਵਰਤੇ, ਉੱਥੇ ਔਰਤ-ਮਰਦ ਦੇ ਰਿਸ਼ਤੇ ਨੂੰ ਪੇਸ਼ ਕਰਦੀ ਹੋਈ ਨਵੇਂ ਵਿਰੋਧੀ ਜਾਂ ਪੂਰਕ ਪ੍ਰਤੀਕ ਚੁੰਨੀ-ਦਸਤਾਰ, ਫੁੱਲ-ਖਾਰ, ਕਿੱਕਰ-ਅੰਬ, ਥਲ-ਨਦੀ, ਸਮੁੰਦਰ-ਪਿਆਸ, ਛੁਰੀ-ਢਾਲ, ਛਾਵਾਂ-ਤਪਣ, ਝਾਂਜਰ-ਬੇੜੀ, ਜ਼ਹਿਰ-ਦਵਾ, ਪਤਝੜ-ਪੱਤਾ ਹਰਾ, ਅਗਨੀ-ਝੀਲ, ਹਨੇਰਾ-ਸਵੇਰ, ਫੁੱਲ-ਕੰਡਾ, ਸਹਿਰਾ-ਬੂਟਾ ਸਰੂ ਦਾ, ਡਾਲ-ਫੁੱਲ ਆਦਿ ਬਾਖੂਬੀ ਵਰਤਦੀ ਹੈ। ਉਹ ਕਈ ਥਾਈਂ ਮਾਨਵੀ ਰਿਸ਼ਤਿਆਂ ਦੀ ਪੇਸ਼ਕਾਰੀ ਪ੍ਰਤੀਕਮਈ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਕਰਦੀ ਹੈ। ਪ੍ਰੇਮੀ-ਪ੍ਰੇਮਿਕਾ ਦੇ ਰਾਹ ਵਿੱਚ ਆਉਣ ਵਾਲੀਆਂ ਰੁਕਾਵਟਾਂ ਨੂੰ ਪ੍ਰਤੀਕਾਤਮਿਕ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਪੇਸ਼ ਕਰਦੀ ਹੈ:

ਨਜ਼ਰ ਦੀ ਹੱਦ ਤੱਕ ਫੈਲਿਆ ਹੋਇਆ ਕੋਈ ਸਹਿਰਾ
ਤੇ ਵਿੱਚ ਬੂਟਾ ਸਰੂ ਦਾ ਸੁਹਣਿਆ! ਲਹਿਰਾ ਰਿਹਾ ਸੀ ਤੂੰ।²¹
ਐ ਥਲ ਦੇ ਮੁਸਾਫ਼ਿਰ ਤੂੰ ਬਿਹਬਲ ਨਾ ਹੋਵੀਂ
ਨਦੀਂ ਹਾਂ ਮੁਹੱਬਤ ਦੀ ਰਾਹਾਂ ਵਿੱਚ ਤੇਰੇ।²²

ਬਦਲ ਰਹੇ ਸਮਾਜਿਕ ਸਰੋਕਾਰਾਂ ਦੇ ਸੰਦਰਭ ਵਿੱਚ ਆ ਰਹੀ ਸਮਾਜਿਕ ਤਬਦੀਲੀ ਕਾਰਨ ਪੈਸੇ ਦੀ ਦੌੜ ਵਿੱਚ ਮਨੁੱਖੀ ਰਿਸ਼ਤਿਆਂ ਵਿੱਚ ਵੀ ਤਰੇੜਾਂ ਪੈ ਗਈਆਂ ਹਨ। ਇਨਸਾਨਾਂ ਵਿੱਚ ਇਨਸਾਨੀਅਤ ਵਾਲੀ ਕੋਈ ਗੱਲ ਨਹੀਂ ਰਹੀ, ਉਨ੍ਹਾਂ ਵਿੱਚੋਂ ਇਨਸਾਨੀਅਤ ਖੰਭ ਲਾ ਕੇ ਉੱਡ ਗਈ, ਬੰਦਾ ਬੰਦੇ ਦਾ ਦੁਸ਼ਮਣ ਬਣ ਗਿਆ ਹੈ। ਇਨਸਾਨੀਅਤ ਦੇ ਦਰਦ ਨੂੰ ਉਹ ਇੰਝ ਬਿਆਨ ਕਰਦੀ ਹੈ:

ਰਿਸ਼ਤਿਆਂ ਵਿੱਚ ਜ਼ਹਿਰ ਜਦ ਤੋਂ ਫੈਲਿਆ
ਆਪਣੇ ਹੀ ਜਾਪਦੇ ਨੇ ਅਜਨਬੀ।²³

ਅਜੋਕੇ ਮਨੁੱਖ ਵਿੱਚ ਨਿੱਜਤਾ ਇੰਨੀ ਭਾਰੂ ਹੈ ਕਿ ਉਹ ਆਪਣੇ ਸਵਾਰਥ ਲਈ ਦੂਜਿਆਂ ਨੂੰ ਦੁੱਖ ਦੇਣੋਂ ਝਿਜਕਦਾ ਨਹੀਂ। ਜ਼ਿੰਦਗੀ ਵਿੱਚ ਪਸਰੇ ਉਪਭੋਗਵਾਦ ਨੇ ਮਨੁੱਖ ਨੂੰ ਤਮਾਮ ਕੀਮਤਾਂ ਤੋਂ ਦੂਰ ਹੀ ਨਹੀਂ ਕੀਤਾ, ਸਗੋਂ ਉਸ ਨੂੰ ਇੱਕ 'ਵਸਤੂ' ਵਿੱਚ ਤਬਦੀਲ ਕਰ ਦਿੱਤਾ ਹੈ। ਆਧੁਨਿਕ ਸਮੇਂ ਵਿੱਚ ਵਾਪਰੀਆਂ ਇਨ੍ਹਾਂ ਤਬਦੀਲੀਆਂ ਨੇ ਮਨੁੱਖੀ ਚੇਤਨਾ ਅਤੇ ਚਿੰਤਨ ਨੂੰ ਵੀ ਪ੍ਰਭਾਵਿਤ ਕੀਤਾ ਹੈ। ਸੁਖਵਿੰਦਰ ਅੰਮ੍ਰਿਤ ਨੇ ਆਪਣੀਆਂ ਰਚਨਾਵਾਂ ਵਿੱਚ ਜਿੱਥੇ ਇਹਨਾਂ ਤਬਦੀਲੀਆਂ ਦਾ ਜ਼ਿਕਰ ਕੀਤਾ ਹੈ, ਉੱਥੇ ਅਜਿਹੀ ਸਥਿਤੀ ਪੈਦਾ ਹੋਣ ਦੇ ਕਾਰਨਾਂ 'ਤੇ ਵੀ ਰੋਸ਼ਨੀ ਪਾਈ ਹੈ:

ਨਾ ਕਿਸੇ ਰਿਸ਼ਤੇ ਦੀ ਗਨੀ ਨਾ ਕਿਸੇ ਜਜ਼ਬੇ ਦੀ ਛਾਂ,
ਆ ਗਿਆ ਹੈ ਜ਼ਿੰਦਗੀ ਦਾ ਕਾਰਵਾਂ ਕੈਸੀ ਕੁਥਾਂ।²⁴

ਸਮਾਜਿਕ ਵਾਤਾਵਰਣ ਵਿੱਚ ਵਾਪਰ ਰਹੇ ਅਣਮਨੁੱਖੀ ਵਰਤਾਰਿਆਂ ਤੋਂ ਸੁਚੇਤ ਸੁਖਵਿੰਦਰ ਅੰਮ੍ਰਿਤ ਨਾ ਸਿਰਫ਼ ਸਾਰੇ ਵਾਤਾਵਰਣ ਨੂੰ ਵਾਚਦੀ ਹੈ, ਸਗੋਂ ਉਸ ਤੋਂ ਨਿਕਲਣ ਵਾਲੇ ਭਿਆਨਕ ਸਿੱਟਿਆਂ ਤੋਂ ਵਾਕਫ਼ ਹੈ। ਪਦਾਰਥਵਾਦੀ ਯੁੱਗ ਵਿੱਚ ਜਿੱਥੇ ਮਾਨਵੀ ਰਿਸ਼ਤਿਆਂ ਦਾ ਘਾਣ ਹੋ ਰਿਹਾ ਹੈ, ਉੱਥੇ ਮਨੁੱਖ ਪ੍ਰਾਕ੍ਰਿਤੀ ਦਾ ਖ਼ਾਤਮਾ ਕਰਨ 'ਤੇ ਤੁਲਿਆ ਹੋਇਆ ਹੈ। ਜਿਸ ਦੇ ਸਿੱਟੇ ਬੜੇ

ਭਿਆਨਕ ਹੋਣਗੇ। ਇਸਦਾ ਖਾਮਿਆਜ਼ਾ ਆਉਣ ਵਾਲੀਆਂ ਪੀੜ੍ਹੀਆਂ ਨੂੰ ਭੁਗਤਣਾ ਪਵੇਗਾ। ਜਿਸ ਬਾਰੇ ਸੁਚੇਤ ਕਰਦੀ ਉਹ ਕਹਿੰਦੀ ਹੈ:

ਜ਼ਹਿਰ ਜੋ ਹੈ ਪੌਣ ਦੇ ਵਿੱਚ ਘੁਲ ਰਿਹਾ
ਹੌਲੀ ਹੌਲੀ ਆਂਦਰਾਂ ਤੱਕ ਪਹੁੰਚਣਾ¹²⁵

ਸੁਖਵਿੰਦਰ ਅੰਮ੍ਰਿਤ ਨੇ ਮਾਨਵੀ ਰਿਸ਼ਤਿਆਂ ਨੂੰ ਅਤੇ ਇਹਨਾਂ ਰਿਸ਼ਤਿਆਂ ਕਾਰਨ ਪੈਦਾ ਹੋਏ ਤਣਾਓ ਨੂੰ ਬੜੇ ਸਹਿਜਮਈ ਅਤੇ ਸੁਹਜਮਈ ਢੰਗ ਨਾਲ ਬਿਆਨ ਕੀਤਾ ਹੈ। ਉਸ ਕੋਲ ਸ਼ਬਦਾਵਲੀ ਦਾ ਅਥਾਹ ਭੰਡਾਰ ਹੈ। ਇਹਨਾਂ ਸ਼ਬਦਾਂ ਦੀ ਯੋਗ ਵਰਤੋਂ ਕਰਨ ਦੀ ਜਾਂਚ ਵੀ ਹੈ। ਉਸਦੇ ਕਾਵਿ ਦੀ ਖੂਬੀ ਹੈ ਕਿ ਰੂਹ ਤੋਂ ਲਿਖਦੀ ਹੈ, ਉਸ ਦੀਆਂ ਰਚਨਾਵਾਂ ਵਿੱਚੋਂ ਉਸਦੀ ਸੁੱਚੀ ਆਤਮਾ ਦੇ ਦੀਦਾਰ ਹੁੰਦੇ ਹਨ। ਉਸਨੇ ਗਿਣਾਤਮਿਕ ਤੇ ਗੁਣਾਤਮਿਕ ਪੱਖ ਤੋਂ ਵੱਡਮੁਲੀ ਰਚਨਾ ਕੀਤੀ ਹੈ। ਪਦਮ ਸ਼੍ਰੀ ਸੁਰਜੀਤ ਪਾਤਰ ਦੇ ਸਾਥ ਅਤੇ ਰਹਿਨੁਮਾਈ ਨੇ ਉਸਦੀ ਸ਼ਾਇਰੀ ਨੂੰ ਹੋਰ ਨਿਖਾਰਿਆ। ਗੱਲ ਕਹਿਣ ਦੇ ਵੱਖਰੇ ਅੰਦਾਜ਼ ਨੇ ਹੀ ਉਸਨੂੰ ਬਾਕੀਆਂ ਨਾਲੋਂ ਨਿਖੇੜ ਕੇ ਇੱਕ ਮਕਬੂਲ ਗ਼ਜ਼ਲਕਾਰਾ ਬਣਾ ਦਿੱਤਾ ਹੈ।

ਹਵਾਲੇ ਅਤੇ ਟਿੱਪਣੀਆਂ:

1. ਸੁਖਵਿੰਦਰ ਅੰਮ੍ਰਿਤ, “ਮੇਰਾ ਕੁਝ ਵੀ ਬਣਨ ਦਾ ਰਸਤਾ ਸ਼ਾਇਰੀ ਦੇ ਦਰ ਤੋਂ ਸ਼ੁਰੂ ਹੁੰਦਾ ਹੈ”, ਕਾਵਿ ਲੋਕ (ਅੰਕ 30, ਅਪ੍ਰੈਲ-ਜੂਨ 2007, ਪੰਨਾ 4-5)
2. ਉਹੀ, ਸੂਰਜ ਦੀ ਦਹਿਲੀਜ਼, ਪੰਨਾ 54
3. ਉਹੀ, ਪੰਨਾ 20
4. ਉਹੀ, ਕਣੀਆਂ, ਪੰਨਾ 21
5. ਉਹੀ, ਹਜ਼ਾਰ ਰੰਗਾਂ ਦੀ ਲਾਟ, ਪੰਨਾ 40
6. ਉਹੀ, ਪੰਨਾ 11
7. ਉਹੀ, ਕਣੀਆਂ, ਪੰਨਾ 32
8. ਉਹੀ, ਹਜ਼ਾਰ ਰੰਗਾਂ ਦੀ ਲਾਟ, ਪੰਨਾ 11
9. ਉਹੀ, ਪਤਝੜ ਵਿੱਚ ਪੁੰਗਰਦੇ ਪੱਤੇ, ਪੰਨਾ 11
10. ਉਹੀ, ਪੰਨਾ 44
11. ਉਹੀ, ਹਜ਼ਾਰ ਰੰਗਾਂ ਦੀ ਲਾਟ, ਪੰਨਾ 15
12. ਉਹੀ, ਪੰਨਾ 69
13. ਉਹੀ, ਪੰਨਾ 14
14. ਉਹੀ, ਪੰਨਾ 28
15. ਉਹੀ, ਪੰਨਾ 33
16. ਡਾ. ਰਤਨ ਸਿੰਘ ਜੱਗੀ (ਸੰਪਾਦਕ), ਸਾਹਿਤ ਕੋਸ਼ ਪਾਰਿਭਾਸ਼ਿਕ ਸ਼ਬਦਾਵਲੀ (2001), ਪੰਨਾ 669
17. ਸੁਖਵਿੰਦਰ ਅੰਮ੍ਰਿਤ, ਚਿਰਾਗਾਂ ਦੀ ਡਾਰ, ਪੰਨਾ 31
18. ਉਹੀ, ਪੰਨਾ 51
19. ਉਹੀ, ਹਜ਼ਾਰ ਰੰਗਾਂ ਦੀ ਲਾਟ, ਪੰਨਾ 63
20. ਉਹੀ, ਚਿਰਾਗਾਂ ਦੀ ਡਾਰ, ਪੰਨਾ 59
21. ਉਹੀ, ਹਜ਼ਾਰ ਰੰਗਾਂ ਦੀ ਲਾਟ, ਪੰਨਾ 9
22. ਉਹੀ, ਚਿਰਾਗਾਂ ਦੀ ਡਾਰ, ਪੰਨਾ 28
23. ਉਹੀ, ਪੰਨਾ 45
24. ਉਹੀ, ਹਜ਼ਾਰ ਰੰਗਾਂ ਦੀ ਲਾਟ ਪੰਨਾ 73
25. ਉਹੀ, ਚਿਰਾਗਾਂ ਦੀ ਡਾਰ, ਪੰਨਾ 49

ਪੰਜਾਬੀ ਸਾਹਿਤ: ਔਰਤ ਦਾ ਬਿੰਬ

ਡਾ. ਸੁਖਜੀਤ ਸਿੰਘ*

ਸਾਹਿਤ ਕਿਸੇ ਵੀ ਸਮਾਜ ਦਾ ਸ਼ੀਸ਼ਾ ਹੁੰਦਾ ਹੈ। ਸਮਾਜ ਵਿੱਚ ਵਾਪਰਦੇ ਹਰ ਵਰਤਾਰੇ, ਸਮਾਜ ਵਿਚਲੀ ਵਿਚਾਰਧਾਰਾ ਅਤੇ ਮਨੁੱਖ ਦੀ ਸਮਾਜਿਕ ਹੋਂਦ ਨੂੰ ਸਾਹਿਤ ਹੀ ਪੇਸ਼ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਕਿਸੇ ਵੀ ਕੌਮ ਦਾ ਸੱਭਿਆਚਾਰ, ਉਸ ਦੀਆਂ ਮਾਨਵੀ ਕਦਰਾਂ ਕੀਮਤਾਂ ਅਤੇ ਉਸ ਸਮਾਜ ਵਿੱਚ ਔਰਤ ਅਤੇ ਮਰਦ ਦਾ ਸਥਾਨ, ਉਸ ਦੀਆਂ ਸਾਹਿਤਕ ਵੰਨਗੀਆਂ ਵਿੱਚ ਹੀ ਸੰਭਾਲਿਆ ਹੁੰਦਾ ਹੈ। ਜੇ ਅਸੀਂ ਕਿਸੇ ਕੌਮ ਦੇ ਸੱਭਿਆਚਾਰ, ਉਸਦੇ ਸਮਾਜਿਕ ਤਾਣੇ-ਬਾਣੇ ਦੀ ਪਛਾਣ ਕਰਨੀ ਹੋਵੇ ਤਾਂ ਉਸਦੀਆਂ ਕਵਿਤਾਵਾਂ, ਨਾਟਕ, ਨਾਵਲਾਂ, ਨਿਬੰਧਾਂ ਗੱਲ ਕੀ ਉਸਦੀ ਕਿਸੇ ਵੀ ਸਾਹਿਤਕ ਸਿਨਫ ਵਿੱਚੋਂ ਉਸ ਸਮਾਜ ਦੇ ਸੱਭਿਆਚਾਰ ਦੇ ਸਮਾਜਿਕ ਢਾਂਚੇ ਦੇ ਪਛਾਣ ਚਿੰਨ ਨਜ਼ਰ ਆ ਜਾਣਗੇ। ਚਾਹੇ ਸਾਹਿਤ ਦਾ ਮਨੋਰਥ ਸੁਹਜ-ਸੁਆਦ ਦੀ ਪੂਰਤੀ ਹੈ ਪਰ ਆਪਣੇ ਮਕਸਦ ਨੂੰ ਪੂਰਾ ਕਰਦਾ ਹੋਇਆ ਸਾਹਿਤ ਸਮਾਜ ਦੇ ਮੁਹਾਂਦਰੇ ਦੀ ਪੇਸ਼ਕਾਰੀ ਵੀ ਕਰਦਾ ਹੈ।

ਮਨੁੱਖੀ ਸਮਾਜ ਵਿੱਚ ਔਰਤ ਅਤੇ ਮਰਦ ਦੋ ਬਰਾਬਰ ਦੀਆਂ ਇਕਾਈਆਂ ਹਨ ਅਤੇ ਜੈਵਿਕ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਇਹਨਾਂ ਵਿੱਚ ਕੋਈ ਅਜਿਹਾ ਫਰਕ ਨਹੀਂ ਜੋ ਇੱਕ ਨੂੰ ਦੂਜੇ ਤੋਂ ਚੰਗੇਰਾ ਸਾਬਿਤ ਕਰਦਾ ਹੋਵੇ ਪਰੰਤੂ ਫਿਰ ਵੀ ਔਰਤ ਨੂੰ ਪੁਰਾਤਨ ਸਮੇਂ ਤੋਂ ਲੈ ਕੇ ਅੱਜ ਦੇ ਆਧੁਨਿਕ ਯੁੱਗ ਤੱਕ ਹਮੇਸ਼ਾ ਸੰਤਾਪ ਭੋਗਣਾ ਪਿਆ ਹੈ। ਔਰਤ ਦੀ ਤ੍ਰਾਸਦਿਕ ਹੋਣੀ ਯੁੱਗਾਂ-ਯੁੱਗਾਂ ਤੋਂ ਬਦਸਤੂਰ ਬਰਕਰਾਰ ਹੈ। ਇਸੇ ਸੰਦਰਭ ਵਿੱਚ ਦਲੀਪ ਕੌਰ ਟਿਵਾਣਾ ਕਹਿੰਦੀ ਹੈ, “ਅਸਲ ਵਿੱਚ ਕਿਸੇ ਵੀ ਸਮੇਂ ਦਾ ਬੰਦਾ ਕਿਸੇ ਵੀ ਯੁੱਗ ਦਾ ਹੋ ਸਕਦਾ ਹੈ। ਸਤਯੁੱਗ, ਤ੍ਰੇਤਾ, ਦੁਆਪਰ ਲੰਘ ਚੁੱਕੇ ਵਕਤਾਂ ਦੇ ਨਾਮ ਨਹੀਂ, ਤੁਹਾਡੇ ਅੰਦਰ ਜਿਉਂਦੀਆਂ ਬਿਰਤੀਆਂ ਦੇ ਆਧਾਰ ਦੇ ਨਾਮ ਹਨ। ਸਤਯੁੱਗ ਅੱਜ ਵੀ ਹੈ, ਕਲਯੁੱਗ ਹਜ਼ਾਰਾਂ ਸਾਲ ਪਹਿਲਾਂ ਵੀ ਸੀ। ਗੱਲ ਹੁੰਦੀ ਹੈ ਕਿ ਬੰਦਾ ਕਿਸ ਯੁੱਗ ਵਿੱਚ ਜੀਉਂ ਰਿਹਾ ਹੈ।”¹ ਚਾਹੇ ਜਿੰਨੇ ਵੀ ਯੁੱਗ ਬਦਲੇ ਹੋਣ ਪਰ ਔਰਤ ਦੀ ਸਥਿਤੀ ਨਹੀਂ ਬਦਲੀ, ਬਦਲਾਵ ਆਇਆ ਹੈ ਤਾਂ ਔਰਤ 'ਤੇ ਹੁੰਦੇ ਅੱਤਿਆਚਾਰ ਦੇ ਢੰਗ ਵਿੱਚ। ਕਦੇ ਔਰਤ ਨੂੰ ਆਪਣੇ ਆਪ ਨੂੰ ਚਰਿਤਰਵਾਨ ਸਾਬਿਤ ਕਰਨ ਲਈ ਅਗਨੀ ਪ੍ਰੀਖਿਆ ਦੇਣੀ ਪੈਂਦੀ ਤੇ ਫਿਰ ਅਗਨੀ ਪ੍ਰੀਖਿਆ ਲੈਣ ਵਾਲਾ ਚਾਹੇ ਪੁਰਸ਼ੋਤਮ ਰਾਮ ਹੀ ਕਿਉਂ ਨਾ ਹੋਵੇ, ਕਦੇ ਉਸਨੂੰ ਦਾਜ ਦੀ ਅੱਗ ਵਿੱਚ ਸੜਨਾ ਪੈਂਦਾ ਹੈ ਤੇ ਕਦੇ ਉਸਨੂੰ ਪਰਾਏਪਣ ਦੇ ਅਹਿਸਾਸ ਨੂੰ ਆਪਣੇ ਪਿੰਡ 'ਤੇ ਹੰਢਾਉਣਾ ਪੈਂਦਾ ਹੈ। ਔਰਤ ਜੰਮਣ ਤੋਂ ਲੈ ਕੇ ਮਰਨ ਤੱਕ ਪਰਾਈ ਹੀ ਰਹਿੰਦੀ ਹੈ। ਉਹ ਜੰਮਦੀ ਵੀ ਪਰਾਈ, ਜਵਾਨ ਹੋਈ ਵੀ। ਪੈਕੇ ਘਰ ਵਿੱਚ ਵੀ ਪਰਾਈ ਤੇ ਸਹੁਰੇ ਘਰ ਵਿੱਚ ਵੀ। ਸੰਸਾਰ ਦੀ ਜਣਨੀ ਨੂੰ ਸਾਰੀ ਉਮਰ ਆਪਣਾ ਘਰ ਤੱਕ ਨਸੀਬ ਨਹੀਂ ਹੁੰਦਾ। ਔਰਤ ਮਰਦ ਨੂੰ ਜਨਮ ਦਿੰਦੀ ਹੈ ਤੇ ਉਸਦੀ ਕੁੱਖ ਵਿੱਚੋਂ ਜਨਮ ਲੈ ਕੇ ਮਰਦ, ਔਰਤ ਦੀ ਹੋਂਦ ਨੂੰ ਭੁਲਾ ਕੇ ਆਪਣੇ ਆਪ ਨੂੰ ਵੱਡਾ ਸਮਝਦਾ ਹੈ ਤੇ ਔਰਤ ਇਹ ਸਭ ਕੁਝ ਸਹਿੰਦੀ ਹੋਈ ਆਪਣੇ ਆਪ ਨੂੰ ਮਰਦ ਤੋਂ ਨੀਵਾਂ ਮੰਨ ਕੇ ਵੀ ਖੁਸ਼ ਰਹਿੰਦੀ ਹੈ।

ਸਾਹਿਤਕ ਕਿਰਤਾਂ ਵਿੱਚ ਔਰਤ ਦੀ ਇਸ ਕਿਸਮ ਦੀ ਸਥਿਤੀ ਦਾ ਬਖਾਨ ਬਾਬੂਬੀ ਮਿਲਦਾ ਹੈ। ਔਰਤ ਦੀ ਸਥਿਤੀ ਬਾਰੇ 19ਵੀਂ ਸਦੀ ਦੀ ਕਵਿਤਰੀ ਕ੍ਰਿਸਟੀਨਾ ਰੋਜ਼ੈਟੀ (Christina Rossetti) ਨੇ ਆਪਣੀ ਕਵਿਤਾ ਵਿੱਚ ਲਿਖਿਆ ਹੈ:

"I wish and I wish I were a man"

“ਮੇਰੀ ਇੱਛਾ ਸੀ ਕਿ ਮੈਂ ਮਰਦ ਹੁੰਦੀ”

ਔਰਤ ਦੀ ਮਾੜੀ ਸਥਿਤੀ ਦੀ ਇਸ ਤੋਂ ਵੱਡੀ ਮਿਸਾਲ ਕੀ ਹੋ ਸਕਦੀ ਹੈ ਕਿ ਉਹ ਔਰਤ ਰੂਪੀ ਜਾਮੇਂ ਤੋਂ ਮੁਕਤੀ ਚਾਹੁੰਦੀ ਹੈ ਅਤੇ ਮਰਦ ਹੋਣਾ ਸੋਚਦੀ ਹੈ।

ਪੰਜਾਬੀ ਸਾਹਿਤ ਦੇ ਸੰਦਰਭ ਵਿੱਚ ‘ਕਵਿਤਾ ਅਤੇ ਗਲਪ’ ਇਹਨਾਂ ਦੋਹਾਂ ਰੂਪਾਂ ਦੇ ਮੁੱਢ ਤੋਂ ਸਿਖਰ ਤੱਕ ਔਰਤ ਦੀ ਹੋਣੀ ਅਤੇ ਇਸਦੇ ਬਦਲਦੇ ਮੁੱਲਾਂ ਦਾ ਵਰਣਨ, ਸਾਹਿਤਕ ਕਿਰਤਾਂ ਵਿੱਚ ਉੱਭਰਵੇਂ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਵਿਖਾਈ ਦਿੰਦਾ ਹੈ। ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਦਾ ਮੁੱਢ ਨਾਥਾਂ ਜੋਗੀਆਂ ਦੀਆਂ ਰਚਨਾਵਾਂ ਤੋਂ ਬੱਝਦਾ ਹੈ। ਇਹ ਕੰਨ ਪਾਏ ਜੋਗੀ ਤੇ ਨਾਥ ਅੱਠਵੀਂ, ਨੌਵੀਂ ਤੇ ਦਸਵੀਂ ਸਦੀ ਵਿੱਚ ਉੱਤਰ-ਪੱਛਮੀ ਭਾਰਤ ਵਿੱਚ ਵਿਚਰਦੇ ਹਨ। ਇਹਨਾਂ ਨਾਥਾਂ ਦੀਆਂ ਰਚਨਾਵਾਂ ਤੋਂ ਪਤਾ ਲਗਦਾ ਹੈ ਕਿ ਉਸ ਸਮੇਂ ਔਰਤ ਨੂੰ ਖੁੱਲ ਕੇ ਨਿੰਦਾ ਦਾ ਸ਼ਿਕਾਰ ਹੋਣਾ ਪੈਂਦਾ ਸੀ। ਜੋਗ ਮਤ ਦਾ ਸਭ ਤੋਂ ਸਤਿਕਾਰਿਆ ਜਾਣ ਵਾਲਾ ‘ਗੋਰਖ ਨਾਥ’ ਇਸਤਰੀ ਨੂੰ ਆਯਾਸ਼ੀ ਦਾ ਮੂਲ ਕਾਰਨ ਮੰਨ ਕੇ ਲੋਕਾਂ ਨੂੰ ਉਸ ਦੀ ਸੰਗਤ ਤੋਂ ਵਰਜਦਾ ਹੈ।

*ਸਹਾਇਕ ਪ੍ਰੋਫੈਸਰ, ਪੰਜਾਬ ਯੂਨੀਵਰਸਿਟੀ ਕੰਸਟੀਚਿਊਟਿਓਟ ਕਾਲਜ, ਸਿਖਵਾਲਾ

ਦਾਮਿ ਕਾਢਿ ਬਾਘਨਿ ਲੈ ਆਇਆ, ਮਾਉ ਕਹੇ ਮੇਰਾ ਪੂਤ ਬੇਆਹਿਆ,
ਗੀਲੀ ਲਕੜੀ ਕਉ ਘੁਨ ਲਾਇਆ, ਤਿਨ ਡਾਲ ਮੂਲ ਸਣਿ ਖਾਇਆ।

ਗੋਰਖ ਨਾਥ ਔਰਤ ਨੂੰ 'ਬਾਘਨਿ' ਦੇ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਚਿਤਵਦਾ ਹੈ। ਜੋਗ ਮਤ ਬਹੁਤ ਹੱਦ ਤੱਕ ਬੁੱਧ ਮਤ ਤੋਂ ਪ੍ਰਭਾਵਿਤ ਸੀ, ਇਸ ਲਈ ਉਹਨਾਂ ਨੇ ਇਸਤਰੀ ਦਾ ਤਿਆਗ ਕੀਤਾ।

ਇਸ ਤੋਂ ਅਗਲਾ ਪੜਾਅ ਸੂਫੀ ਮਤ ਦਾ ਸੀ। ਸੂਫੀ ਮਤ ਦੇ ਸਿਰਮੌਰ ਕਵੀ ਬਾਬਾ ਫਰੀਦ ਜੀ ਔਰਤ ਦੇ ਹੁਸਨ ਤੇ ਉਸਦੀਆਂ ਅਦਾਵਾਂ ਨੂੰ ਵਿਕਾਰਾਂ ਦੇ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਵੇਖਦੇ ਹਨ ਤੇ ਉਹ ਮੰਨਦੇ ਹਨ ਕਿ ਇਹਨਾਂ ਵਿਕਾਰਾਂ ਕਾਰਨ ਹੀ ਔਰਤ ਨੂੰ ਰੱਬ ਦੀ ਪ੍ਰਾਪਤੀ ਨਹੀਂ ਹੁੰਦੀ:

ਨਾਤੀ ਧੋਤੀ ਸੰਬਹੀ ਸੁਤੀ ਆਇ ਨਚਿੰਦੁ ॥

ਫਰੀਦਾ ਰਹੀ ਸੁ ਬੇੜੀ ਹਿੰਡ ਦੀ ਗਈ ਕਬੂਰੀ ਗੰਧੁ ॥

ਉਹ ਔਰਤ ਦੇ ਹਾਰ-ਸ਼ਿਗਾਰ ਤੇ ਉਸਦੇ ਸੁਹੱਪਣ ਨੂੰ ਚੰਗਾ ਨਹੀਂ ਸਮਝਦੇ। ਅਸਲ ਵਿੱਚ ਇਹ ਸਥਿਤੀ ਉਸ ਵਕਤ ਦੇ ਸਾਰੇ ਸਾਹਿਤ ਦੀ ਹੈ। ਸੂਫੀ ਮਤ ਦੇ ਅਚੇਤ ਵਿੱਚ ਔਰਤ ਦਾ ਸਥਾਨ ਮਰਦ ਤੋਂ ਨੀਵਾਂ ਹੀ ਰਿਹਾ। ਔਰਤ ਦੇ ਦਰਦ ਦਾ ਬਖਾਨ ਬੁੱਲੇ ਸ਼ਾਹ ਇੰਝ ਕਰਦਾ ਹੈ:

ਮਾਏ ਨੀ ਮੈਂ ਕੀਹਨੂੰ ਆਖਾਂ।

ਦਰਦ ਵਿਛੋੜੇ ਦਾ ਹਾਲ ॥

ਸੂਫੀ ਸਾਹਿਤ ਵਿੱਚ ਔਰਤ ਦੀ ਦਸ਼ਾ ਦੀ ਪੇਸ਼ਕਾਰੀ ਸਿੱਧੇ ਨਹੀਂ ਬਲਕਿ ਅਸਿੱਧੇ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਪੇਸ਼ ਹੁੰਦੀ ਹੈ। ਜੀਵ ਨੂੰ ਇਸਤਰੀ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਪੇਸ਼ ਕਰਕੇ ਉਸਦੇ ਰੱਬ ਤੋਂ ਵਿਛੋੜੇ ਦੀ ਗੱਲ ਕੀਤੀ ਗਈ ਹੈ। ਇਸ ਤਰ੍ਹਾਂ ਸੂਫੀ ਸਾਹਿਤ ਵਿੱਚ ਪ੍ਰਤੀਕ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਔਰਤ ਦੀ ਨਿੱਘਰ ਰਹੀ ਹਾਲਤ ਦੀ ਪੇਸ਼ਕਾਰੀ ਹੁੰਦੀ ਹੈ।

ਸੂਫੀਮਤ ਤੋਂ ਅਗਲਾ ਪੜਾਅ ਗੁਰਮਤਿ ਦਾ ਸੀ। ਇਸ ਕਾਲ ਨੂੰ ਭਾਰਤੀ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤੀ ਦਾ ਸੁਨਿਹਰੀ ਕਾਲ ਕਿਹਾ ਗਿਆ ਹੈ। ਸ਼੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਜੀ ਤੋਂ ਲੈ ਕੇ ਸ਼੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗੋਬਿੰਦ ਸਿੰਘ ਜੀ ਤੱਕ ਸਭ ਨੇ ਆਪਣੀਆਂ ਰਚਨਾਵਾਂ ਵਿੱਚ ਔਰਤ ਦੀ ਪਛਾਣ ਨੂੰ ਮਹੱਤਤਾ ਦਿੱਤੀ ਹੈ। ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਜੀ ਨੇ ਔਰਤ ਨੂੰ ਜਗਤ ਦੀ ਜਣਨੀ ਮੰਨਿਆ ਹੈ ਤੇ ਉਹਨਾਂ ਨੇ ਔਰਤ ਦੀ ਨਿੰਦਾ ਦਾ ਵਿਰੋਧ ਕਰਦੇ ਹੋਏ ਕਿਹਾ ਹੈ:

ਭੰਡਿ ਜੰਮੀਐ ਭੰਡਿ ਨਿੰਮੀਐ ਭੰਡਿ ਮੰਗਣੁ ਵੀਆਹੁ ॥

ਭੰਡਹੁ ਹੋਵੈ ਦੋਸਤੀ ਭੰਡਹੁ ਚਲੈ ਰਾਹੁ ॥

ਭੰਡੁ ਮੁਆ ਭੰਡੁ ਭਾਲੀਐ ਭੰਡਿ ਹੋਵੈ ਬੰਧਾਨੁ ॥

ਸੋ ਕਿਉਂ ਮੰਦਾ ਆਖੀਐ ਜਿਤੁ ਜੰਮਹਿ ਰਾਜਾਨ ॥

ਗੁਰੂ ਗੋਬਿੰਦ ਸਿੰਘ ਜੀ ਚੰਡੀ ਦੀ ਵਾਰ ਦੀ ਰਚਨਾ ਕਰਕੇ ਔਰਤ ਦੇ ਸਰਵਸ਼ਕਤੀਸ਼ਾਲੀ ਰੂਪ ਦੀ ਸਿਰਜਣਾ ਕਰਦੇ ਹਨ। ਗੁਰੂ ਸਾਹਿਬ ਨੇ ਚੰਡੀ ਦੇ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਔਰਤ ਦੇ ਉਸ ਰੂਪ ਦੀ ਪੇਸ਼ਕਾਰੀ ਕੀਤੀ ਹੈ ਜਿਸ ਤੇ ਤਹਿਤ ਉਹ ਸੰਸਾਰ ਵਿੱਚੋਂ ਪਾਪ ਦਾ ਅੰਤ ਕਰਦੀ ਹੈ। ਜਦੋਂ ਰਾਖਸ਼ਾ ਨੇ ਸਾਰੇ ਦੇਵਤਿਆਂ 'ਤੇ ਜਿੱਤ ਪ੍ਰਾਪਤ ਕਰ ਲਈ ਤਾਂ ਔਰਤ ਚੰਡੀ ਦਾ ਰੂਪ ਧਾਰ ਕੇ ਇਹਨਾਂ ਦੈਤਾਂ ਦਾ ਵੱਧ ਕਰਦੀ ਹੈ। ਇਹ ਔਰਤ ਦਾ ਉਹ ਰੂਪ ਸੀ ਜਿਸਨੂੰ ਕਿ ਔਰਤ ਨੇ ਹਮੇਸ਼ਾ ਆਪਣੇ ਅੰਦਰ ਦਬਾ ਕੇ ਰੱਖਿਆ। ਭਾਰਤੀ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤੀ ਵਿੱਚ ਨਿਮਰਤਾ, ਸਹਿਣਸ਼ੀਲਤਾ, ਸਾਦਗੀ, ਸਹਿਜਤਾ ਉਹ ਗੁਣ ਹਨ ਜਿੰਨਾਂ ਨੂੰ ਔਰਤ ਨਾਲ ਜੋੜ ਦਿੱਤਾ ਗਿਆ ਤੇ ਇਹਨਾਂ ਗੁਣਾਂ ਦੀ ਵਜ੍ਹਾ ਕਰਕੇ ਹੀ ਔਰਤ ਨੂੰ ਮਰਦ ਦੇ ਜ਼ੁਲਮਾਂ ਦਾ ਸ਼ਿਕਾਰ ਵੀ ਹੋਣਾ ਪਿਆ ਪਰੰਤੂ ਚੰਡੀ ਦੀ ਵਾਰ ਵਿੱਚ ਔਰਤ ਦੇ ਉਸ ਪਹਿਲੂ ਨੂੰ ਪੇਸ਼ ਕੀਤਾ ਗਿਆ ਜੋ ਹਮੇਸ਼ਾ ਅਣਦਿਸਦਾ ਰਿਹਾ। ਔਰਤ ਜੋ ਜ਼ੁਲਮ ਸਹਿ ਸਕਦੀ ਏ ਤਾਂ ਜ਼ੁਲਮ ਦਾ ਮੁਕਾਬਲਾ ਵੀ ਕਰ ਸਕਦੀ ਹੈ ਪਰੰਤੂ ਗੁਰੂ ਗੋਬਿੰਦ ਸਿੰਘ ਨੇ ਵੀ ਔਰਤ ਦੇ ਇਸ ਰੂਪ ਦੀ ਪ੍ਰਸਤੁਤੀ ਪ੍ਰਾਭੋਤਿਕ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਕੀਤੀ ਨਾ ਕਿ ਭੌਤਿਕ ਰੂਪ ਵਿੱਚ। ਮਿੱਥ ਦੇ ਆਧਾਰ 'ਤੇ ਔਰਤ ਨੂੰ ਦੇਵੀ ਦਾ ਦਰਜਾ ਦੇ ਦਿੱਤਾ ਗਿਆ ਪਰੰਤੂ ਸਮਾਜ ਵਿੱਚ ਸਾਧਾਰਣ ਔਰਤ ਦੀ ਹੋਣੀ ਉਵੇਂ ਦੀ ਉਵੇਂ ਹੀ ਬਰਕਰਾਰ ਰਹੀ। ਜਿਥੇ ਗੁਰੂ ਗੋਬਿੰਦ ਸਿੰਘ ਨੇ ਪ੍ਰਾਭੋਤਿਕ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਔਰਤ ਨੂੰ ਚੰਡੀ ਦਾ ਦਰਜਾ ਦਿੱਤਾ ਉਥੇ ਹੀ ਸ਼ਾਹ ਮੁਹੰਮਦ ਆਪਣੀ ਰਚਨਾ 'ਜੰਗਨਾਮਾ ਸਿੰਘਾਂ ਤੇ ਫਿਰੰਗੀਆਂ' ਵਿੱਚ ਔਰਤ ਨੂੰ ਧੋਖੇਬਾਜ਼ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਪੇਸ਼ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਸ਼ਾਹ ਮੁਹੰਮਦ ਇੱਕ ਉੱਚਤਮ ਕਿਰਤ ਦੀ ਰਚਨਾ ਕਰਦਾ ਹੋਇਆ ਸਿੰਘਾਂ ਤੇ ਫਿਰੰਗੀਆਂ ਦੀ ਜੰਗ ਦਾ ਹਾਲ ਵਿਖਾਉਂਦਾ ਹੈ, ਪਰੰਤੂ ਉਹ ਇਸ ਜੰਗ ਵਿੱਚ ਸਿੰਘਾਂ ਦੀ ਹਾਰ ਦਾ ਘੜਾ ਰਾਣੀ ਜਿੰਦਾ ਦੇ ਸਿਰ ਭੰਨ ਦਿੰਦਾ ਹੈ ਤੇ ਇਸ ਤੋਂ ਵੀ ਅੱਗੇ ਉਹ ਸਾਰੀ ਔਰਤ ਜਾਤ ਨੂੰ ਧੋਖੇਬਾਜ਼ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਪੇਸ਼ ਕਰਦਾ ਹੈ:

ਹੁੰਦੇ ਆਏ ਨੇ ਰੰਨਾਂ ਦੇ ਧੁਰੇਂ ਕਾਰੇ
ਮਕਰ ਇਹਨਾਂ ਦੇ ਕੋਈ ਅੱਜ ਦੇ ਨੀ।

ਜਦੋਂ ਅਸੀਂ ਕਿੱਸਾ ਸਾਹਿਤ ਦੀ ਗੱਲ ਕਰਦੇ ਹਾਂ ਤਾਂ ਕਿੱਸਾ ਸਾਹਿਤ ਦੀ ਇੱਕ ਖਾਸੀਅਤ ਰਹੀ ਹੈ ਕਿ ਬਹੁਤਿਆਂ ਕਿੱਸਿਆਂ ਦੇ ਨਾਮ ਔਰਤ ਦੇ ਨਾਮ ਤੋਂ ਸ਼ੁਰੂ ਹੁੰਦੇ ਹਨ ਜਿਵੇਂ ‘ਹੀਰ ਰਾਂਝਾ’, ‘ਸੋਹਣੀ ਮਹੀਵਾਲ’, ‘ਸੱਸੀ ਪੁਨੂੰ’। ਇਸਤੋਂ ਇਹ ਭੁਲੇਖਾ ਪੈਂਦਾ ਹੈ ਕਿ ਕਿੱਸਾ ਕਾਵਿ ਵਿੱਚ ਔਰਤ ਦੀ ਵਡਿੱਤਣ ਨੂੰ ਪੇਸ਼ ਕੀਤਾ ਗਿਆ ਹੋਵੇਗਾ ਤੇ ਇਸ ਤੱਥ ਵਿੱਚ ਕੁਝ ਹੱਦ ਤੱਕ ਸਚਾਈ ਵੀ ਹੈ। ਵਾਰਿਸ ਹੀਰ ਦੀ ਰਚਨਾ ਕਰਦਾ ਹੋਇਆ ਉਸਦੀ ਖੂਬਸੂਰਤੀ ਤੇ ਉਸਦੀ ਬਹਾਦਰੀ ਦੀ ਤਾਰੀਫ਼ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਪੀਲੂ ਮਿਰਜ਼ਾ ਸਾਹਿਬਾ ਦੇ ਕਿੱਸੇ ਦੀ ਰਚਨਾ ਕਰਦਾ ਹੋਇਆ ਹੀਰ ਦਾ ਖੂਬਸੂਰਤੀ ਦਾ ਅਜਿਹਾ ਵਰਣਨ ਕਰਦਾ ਹੈ ਕਿ ਉਸਦੀ ਖੂਬਸੂਰਤੀ ਵੇਖ ਕੇ ਸਭ ਨੂੰ ਆਪੋ ਆਪਣੇ ਕੰਮ ਭੁਲ ਜਾਂਦੇ ਹਨ ਪਰੰਤੂ ਫਿਰ ਵੀ ਮੱਧਕਾਲੀ ਕਿੱਸਾਕਾਰਾਂ ਦੇ ਅਚੇਤਨ ਵਿੱਚ ਕਿਤੇ ਨਾ ਕਿਤੇ ਹੀਣ ਭਾਵਨਾ ਛੁਪੀ ਰਹਿਣੀ ਹੈ। ਇਹੀ ਕਾਰਨ ਹੈ ਕਿ ਚਾਹੇ ਵਾਰਿਸ ਆਪਣੇ ਕਿੱਸੇ ਵਿੱਚ ਹੀਰ ਨੂੰ ਨਾਇਕ ਦਾ ਦਰਜਾ ਦਿੰਦਾ ਹੈ ਫਿਰ ਵੀ ਉਹ ਔਰਤ ਤੇ ਬੇਭਰੋਸਗੀ ਪ੍ਰਗਟ ਕਰਦਾ ਹੋਇਆ ਕਹਿੰਦਾ ਹੈ:

ਵਾਰਿਸ ਰੰਨ ਫਕੀਰ ਤਲਵਾਰ ਘੋੜਾ
ਚਾਰੇ ਥੱਕ ਇਹ ਕਿਸੇ ਦੇ ਯਾਰ ਨਾਹੀ—
ਪੀਲੂ ਆਪਣੇ ਕਿਸੇ ਮਿਰਜ਼ਾ ਸਾਹਿਬਾਂ ਵਿੱਚ ਕਹਿੰਦਾ ਹੈ:
ਭੱਠ ਰੰਨਾਂ ਦੀ ਦੋਸਤੀ ਖੁਰੀ ਜਿੰਨਾਂ ਦੀ ਮੱਤ
ਹੱਸ-ਹੱਸ ਲਾਉਂਦੀਆਂ ਯਾਰੀਆਂ, ਰੋ-ਰੋ ਦਿੰਦੀਆਂ ਦੱਸ

ਮੱਧਕਾਲੀ ਸਾਹਿਤ ਵਿੱਚ ਔਰਤ ਤੇ ਬੇਭਰੋਸਗੀ ਦਾ ਅਮਲ ਜਾਰੀ ਰਿਹਾ। ਉਸਦਾ ਸੰਸਾਰ ਘਰ ਦੀ ਚਾਰ ਦੀਵਾਰੀ ਸੀ ਤੇ ਮਰਦ ਦੀ ਨਜ਼ਰ ਵਿੱਚ ਉਸਦਾ ਦਰਜਾ ਨੀਵਾਂ ਸੀ। ਇਹੀ ਵਜ਼ ਰਹੀ ਕਿ ਮੱਧਕਾਲੀ ਸਾਹਿਤ ਵਿੱਚ ਔਰਤ ਆਪਣੀ ਪਛਾਣ ਲਈ ਜੁਝਦੀ ਰਹੀ।

ਜਗੀਰਦਾਰੀ ਤੋਂ ਪੂੰਜੀਵਾਦੀ ਪ੍ਰਬੰਧ ਦੇ ਪਰਿਵਰਤਨ ਕਾਲ ਵਿੱਚ ਔਰਤ ਦੀ ਸਥਿਤੀ/ਚੇਤਨਾ ਵਿੱਚ ਇੱਕ ਵਿਸ਼ੇਸ਼ ਤਬਦੀਲੀ ਦ੍ਰਿਸ਼ਟੀਗੋਚਰ ਹੁੰਦੀ ਹੈ। ਇਸੇ ਹੀ ਸਮੇਂ ਵਿੱਚ ਔਰਤ ਆਪਣੇ ਆਪ ਨੂੰ ਇੱਕ ਸਮਾਜਿਕ ਵਰਗ ਵਜੋਂ ਪਛਾਣਨਾ ਸ਼ੁਰੂ ਕਰਦੀ ਹੈ।

ਆਧੁਨਿਕ ਸਾਹਿਤ ਦਾ ਆਰੰਭ ਭਾਈ ਵੀਰ ਸਿੰਘ ਤੋਂ ਹੁੰਦਾ ਹੈ। ਭਾਈ ਵੀਰ ਸਿੰਘ ਆਪਣੀਆਂ ਕਵਿਤਾਵਾਂ ਵਿੱਚ ਕੁਦਰਤ ਦਾ ਮਾਨਵੀਕਰਣ ਕਰਦਾ ਹੋਇਆ ਔਰਤ ਅਤੇ ਮਰਦ ਦੇ ਰਿਸ਼ਤੇ ਨੂੰ ਇੱਕ-ਦੂਜੇ ਦੇ ਪੂਰਕ ਦੇ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਪੇਸ਼ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਆਪਣੀ ਕਵਿਤਾ ‘ਕੋਲੇ ਦੇ ਗਲ ਲੱਗੀ ਵੇਲ’ ਵਿੱਚ ਚਿੰਨਾਤਮਕ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਉਹ ਔਰਤ ਅਤੇ ਮਰਦ ਦੇ ਆਪਸੀ ਸੰਬੰਧਾਂ ਦੀ ਪਛਾਣ ਕਰਵਾਉਂਦਾ ਹੈ।

ਕਵਿਤਾ ਦਾ ਅਗਲਾ ਦੌਰ ਪ੍ਰਗਤੀਵਾਦੀ ਕਵਿਤਾ ਦਾ ਸੀ। ਇਹ ਅਜਿਹਾ ਦੌਰ ਸੀ, ਜਿਸ ਵਿੱਚ ਸੁਚੇਤ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਸਮਾਜ ਵਿਚਲੇ ਦੱਬੇ-ਕੁਚਲੇ ਤੇ ਪਛੜੇ ਵਰਗਾਂ ਦੇ ਉਥਾਨ ਦੀ ਕੋਸ਼ਿਸ਼ ਕੀਤੀ ਗਈ ਕਿਉਂਕਿ ਔਰਤ ਹਮੇਸ਼ਾ ਮਰਦ ਦੇ ਮੁਕਾਬਲੇ ਪਛੜੇ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਰਹੀ, ਇਹ ਵਜ੍ਹਾ ਸੀ ਕਿ ਇਸ ਦੌਰ ਵਿੱਚ ਔਰਤ ਦੀ ਹੋਣੀ ਦੇ ਸੱਚ ਨੂੰ ਪੇਸ਼ ਕੀਤਾ ਗਿਆ। ਅੰਮ੍ਰਿਤਾ ਪ੍ਰੀਤਮ ਤੇ ਮੋਹਨ ਸਿੰਘ ਇਸ ਦੌਰ ਦੇ ਦੋ ਪ੍ਰਮੁੱਖ ਕਵੀ ਸਨ। ਮੋਹਨ ਸਿੰਘ ਜਦੋਂ ਔਰਤ ਨੂੰ ਜਾਇਦਾਦ ਦੇ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਪੇਸ਼ ਕਰਦਾ ਹੈ ਤਾਂ ਉਹ ਸਮਾਜਿਕ ਕਦਰਾਂ ਕੀਮਤਾਂ ਤੇ ਇੱਕ ਵਿਅੰਗ ਕਰਦਾ ਹੈ ਕਿ ਕਿਵੇਂ ਮਾਨਵੀ ਸਮਾਜ ਔਰਤ ਨੂੰ ਸਿਰਫ਼ ਇੱਕ ਵਸਤ ਵਜੋਂ ਵੇਖਦਾ ਹੈ।

ਬੁਹੇ ਦੇ ਵਿੱਚ ਚੁਪ ਖੜੀ ਸੀ ਜਾਇਦਾਦ
ਕੋਲ ਮਾਲਕ ਉਸਦਾ
ਸਾਹਣੇ ਆਸ਼ਕ ਉਸਦਾ

ਸੋ ਸਮਾਜ ਵਿੱਚ ਔਰਤ ਦਾ ਸਥਾਨ ਸਿਰਫ਼ ਜਾਇਦਾਦ ਵਾਲਾ ਸੀ ਤੇ ਇਹ ਵੀ ਮਰਦ ਜਾਤ ਨੇ ਨਿਰਧਾਰਤ ਕਰਨਾ ਸੀ ਕਿ ਇਸ ਔਰਤ ਰੂਪੀ ਜਾਇਦਾਦ ਤੇ ਕਿਸਦਾ ਹੱਕ ਹੈ। ਜਦੋਂ ਅੰਮ੍ਰਿਤਾ ਪ੍ਰੀਤਮ ਆਪਣੀ ਕਵਿਤਾ ‘ਅੰਨਦਾਤਾ’ ਵਿੱਚ ਔਰਤ ਨੂੰ ਸਿਰਫ਼ ਇੱਕ ਭੋਗਣ ਦੀ ਵਸਤ ਵਾਂਗ ਪੇਸ਼ ਕਰਦੀ ਹੈ ਤਾਂ ਉਹ ਮਾਨਵੀ ਸਮਾਜ ਤੇ ਕਰਾਰੀ ਚੋਟ ਮਾਰਦੀ ਹੈ।

ਅੰਨਦਾਤਾ
ਮੈਂ ਚੰਮ ਦੀ ਗੁੱਡੀ ਖੇਡ ਲੈ ਖਿਡਾ ਲੈ
ਲਹੂ ਦਾ ਪਿਆਲਾ ਪੀ ਲੈ ਪਿਲਾ ਲੈ
ਤੇਰੇ ਸਾਹਵੇਂ ਖੜੀ ਹਾਂ

ਇਹ ਵਰਤਣ ਦੀ ਸ਼ੈ, ਜਿਵੇਂ ਚਾਹੇ ਵਰਤ ਲੈ।

ਔਰਤ ਦੇ ਦਰਦ ਨੂੰ ਅਮ੍ਰਿਤਾ ਪ੍ਰੀਤਮ ਨੇ ਆਪਣੀ ਕਵਿਤਾ 'ਅੱਜ ਆਖਾਂ ਵਾਰਿਸ ਸ਼ਾਹ ਨੂੰ' ਵਿੱਚ ਵੀ ਪੇਸ਼ ਕੀਤਾ ਹੈ। ਇਸ ਕਵਿਤਾ ਰਾਹੀਂ ਜੋ ਇੱਕ ਹੋਰ ਪਹਿਲੂ ਨਿਕਲ ਕੇ ਸਾਹਮਣੇ ਆਉਂਦਾ ਹੈ, ਉਹ ਇਹ ਕਿ ਜਦੋਂ ਵੀ ਸਮਾਜ ਦੇ ਕਿਸੇ ਖਿੱਤੇ ਵਿੱਚ ਕੋਈ ਉਥਲ-ਪੁਥਲ ਹੋਈ ਹੈ ਤਾਂ ਇਸਦੀ ਕੀਮਤ ਹਮੇਸ਼ਾ ਔਰਤ ਨੂੰ ਚੁਕਾਉਣੀ ਪਈ ਹੈ। ਫਿਰ ਚਾਹੇ ਉਹ ਭਾਰਤ ਦੀ ਗੁਲਾਮੀ ਹੋਵੇ, ਦੇਸ਼ ਦਾ ਬਟਵਾਰਾ ਜਾਂ ਫਿਰ 1984 ਦਾ ਕਤਲੇਆਮ। ਹਰ ਤਰ੍ਹਾਂ ਦੀ ਅਰਾਜਕਤਾ ਦਾ ਸੰਤਾਪ ਔਰਤ ਨੂੰ ਹੀ ਭੋਗਣਾ ਪਿਆ ਹੈ। ਦੇਸ਼ ਦੇ ਬਟਵਾਰੇ ਵੇਲੇ ਦੇ ਹਾਲਾਤਾਂ ਵਿੱਚ ਔਰਤ 'ਤੇ ਹੋਏ ਜ਼ੁਲਮ ਨੂੰ ਅਮ੍ਰਿਤਾ ਪ੍ਰੀਤਮ ਆਪਣੇ ਸ਼ਬਦਾਂ ਵਿੱਚ ਬਿਆਨਦੀ ਹੈ:

ਅੱਜ ਆਖਾਂ ਵਾਰਿਸ ਸ਼ਾਹ ਨੂੰ, ਕਿਤੋਂ ਕਬਰਾਂ ਵਿੱਚੋਂ ਬੋਲ,
ਤੇ ਅੱਜ ਕਿਤਾਬੇ ਇਸ਼ਕ ਦਾ, ਕੋਈ ਅਗਲਾ ਵਰਕਾ ਫੋਲ।
ਇੱਕ ਰੋਈ ਸੀ ਧੀ ਪੰਜਾਬ ਦੀ ਤੂੰ ਲਿਖ-ਲਿਖ ਮਾਰੇ ਵੈਣ,
ਅੱਜ ਲੱਖਾਂ ਧੀਆਂ ਰੋਂਦੀਆਂ, ਤੈਨੂੰ ਵਾਰਿਸ ਸ਼ਾਹ ਨੂੰ ਕਹਿਣ।

ਦੂਜੇ ਪਾਸੇ ਸ਼ਿਵ ਕੁਮਾਰ ਬਟਾਲਵੀ ਆਧੁਨਿਕ ਸਮੇਂ ਵਿੱਚ ਔਰਤ ਨੂੰ ਆਪਣੀਆਂ ਇਛਾਵਾਂ ਦੀ ਪੂਰਤੀ ਲਈ ਆਪਣੀ ਆਵਾਜ਼ ਬੁਲੰਦ ਕਰਦਾ ਹੋਇਆ ਵਿਖਾਉਂਦਾ ਹੈ। ਜਦ ਉਹ ਪਰੰਪਰਾਗਤ ਸ਼ੈਲੀ ਤੋਂ ਹਟਕੇ ਲੂਣਾਂ ਦੇ ਅਜਿਹੇ ਰੂਪ ਦੀ ਪ੍ਰਸਤੁਤੀ ਕਰਦਾ ਹੈ, ਜਿਸ ਵਿੱਚ ਔਰਤ ਦੇ ਉਸ ਪੱਖ ਨੂੰ ਪੇਸ਼ ਕੀਤਾ ਗਿਆ ਹੈ ਜਿਸ ਵਿੱਚ ਉਸਦੀ ਮਾਨਸਿਕਤਾ ਦਾ ਨਿਭਾਅ ਹੁੰਦਾ ਹੈ। ਉਹ ਔਰਤ ਨੂੰ ਮਰਦ ਦੇ ਮੁਕਾਬਲੇ ਵਿੱਚ ਖੜੀ ਕਰਕੇ ਪੇਸ਼ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਲੂਣਾਂ ਵਿੱਚ ਉਹ ਪ੍ਰਸਥਿਤੀਆਂ ਨੂੰ ਨਹੀਂ ਬਲਕਿ ਔਰਤ ਦੀ ਮਾਨਸਿਕ ਸਥਿਤੀ ਨੂੰ ਪ੍ਰਮੁੱਖਤਾ ਦਿੰਦਾ ਹੈ:

ਧਰਮੀ ਬਾਬਲ ਪਾਪ ਕਮਾਇਆ
ਲੜ ਲਾਇਆ ਸਾਡੇ ਫੁਲ ਕਮਲਾਇਆ
ਜਿਸ ਦਾ ਇੱਛਰਾਂ ਰੂਪ ਹੰਢਾਇਆ
ਮੈਂ ਪੂਰਣ ਦੀ ਮਾਂ ਪੂਰਣ ਦੇ ਗਾਣ ਦੀ।

ਜਿਥੇ ਸ਼ਿਵ ਕੁਮਾਰ ਲੂਣਾਂ ਦੇ ਪਾਤਰ ਰਾਹੀਂ ਔਰਤ ਦੀ ਬੁਲੰਦ ਆਵਾਜ਼ ਨੂੰ ਪੇਸ਼ ਕਰਦਾ ਹੈ, ਉਥੇ ਹੀ ਹਰਿਭਜਨ ਸਿੰਘ ਔਰਤ ਨੂੰ ਉਸ ਧੌਲ ਦੇ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਪੇਸ਼ ਕਰਦਾ ਹੈ, ਜਿਸ ਦੇ ਮੋਢਿਆਂ 'ਤੇ ਸਾਰੀ ਸ਼੍ਰੀਸ਼ਟੀ ਦਾ ਭਾਰ ਹੈ। ਉਹ ਕਹਿੰਦਾ ਹੈ:

ਧਰਤੀ ਦੇ ਹੇਠਾਂ ਪਹਿਲਾਂ ਧੌਲ ਸੀ
ਧਰਮ ਸੀ, ਹੁਣ ਮੇਰੀ ਧੀ ਹੈ

ਧੀ ਦੇ ਇਸੇ ਸੰਤਾਪ ਦੀ ਗੱਲ ਸੁਰਜੀਤ ਪਾਤਰ ਆਪਣੀ ਕਵਿਤਾ ਵਿੱਚ ਕਰਦਾ ਹੈ:

ਇੱਕ ਕੈਦ ਚੋਂ ਦੂਜੀ ਕੈਦ ਚ ਪਹੁੰਚ ਗਈ ਏ।
ਕੀ ਖੱਟਿਆ ਮਹਿੰਦੀ ਲਾ ਕੇ ਵਟਣਾ ਮਲ ਕੇ।

ਇਥੇ ਸੁਰਜੀਤ ਪਾਤਰ ਔਰਤ ਦੀ ਸਾਰੀ ਉਮਰ ਦੀ ਗੁਲਾਮੀ ਦੀ ਗੱਲ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਉਹ ਧੀ ਵੀ ਗੁਲਾਮ ਸੀ, ਪਤਨੀ ਵੀ ਗੁਲਾਮ ਹੁੰਦੀ ਏ ਤੇ ਮਾਂ ਵੀ ਗੁਲਾਮ ਰਹਿੰਦੀ ਏ। ਉਹ ਆਪਣਾ ਸਥਾਨ ਬਦਲਦੀ ਹੈ ਪਰ ਉਸਦੇ ਹਾਲਾਤ ਨਹੀਂ ਬਦਲਦੇ। ਸਾਡੇ ਮਾਨਵੀ ਸਮਾਜ ਦੀਆਂ ਕਦਰਾਂ ਕੀਮਤਾਂ ਦੀ ਬਣਤਰ ਹੀ ਅਜਿਹੀ ਹੈ ਜਿਸ ਵਿੱਚ ਸਾਲਾਂ ਔਰਤਾਂ ਲਈ ਤੇ ਅਸੀਸਾਂ ਪੁੱਤਰਾਂ ਲਈ ਧੁਰੋਂ ਹੀ ਚਲਦੀਆਂ ਆਈਆਂ ਹਨ।

ਯੁੱਗ ਬਦਲਦੇ ਰਹੇ ਸਮਾਜ ਬਦਲਦੇ ਰਹੇ ਤੇ ਮਨੁੱਖੀ ਹਾਲਾਤ ਬਦਲਦੇ ਰਹੇ ਪਰੰਤੂ ਹਰ ਸਮੇਂ ਵਿੱਚ ਮਰਦ ਹਮੇਸ਼ਾ ਔਰਤ ਨੂੰ ਆਪਣੀ ਹੀ ਦ੍ਰਿਸ਼ਟੀ ਤੋਂ ਵੇਖਦਾ ਆਇਆ ਹੈ। ਸਾਡੇ ਸਮਾਜ ਵਿੱਚ ਔਰਤ ਜਾਂ ਤਾਂ ਦੇਵੀ ਹੋ ਸਕਦੀ ਹੈ ਜਾਂ ਫਿਰ ਪੜਛੀ ਹੋਈ। ਉਸਨੂੰ ਕਿਹੋ ਵੀ ਸਾਧਾਰਣ ਜੀਵਨ ਵਿੱਚ ਸ਼੍ਰੇਣਤਾ ਹਾਸਿਲ ਨਹੀਂ ਹੋਈ। ਆਧੁਨਿਕ ਯੁੱਗ ਵਿੱਚ ਔਰਤ, ਮਰਦ ਦੇ ਮੋਢੇ ਨਾਲ ਮੋਢਾ ਜੋੜ ਕੇ ਖੜਦੀ ਹੈ। ਵਿਗਿਆਨਕ ਕਾਢਾਂ, ਰਾਜਨੀਤੀ ਵਿੱਚ ਔਰਤ ਦੀ ਆਮਦ ਤੇ ਮੀਡੀਆ ਨੇ ਆਪੋ-ਆਪਣੇ ਤਰੀਕੇ ਨਾਲ ਔਰਤ ਦੀ ਪਛਾਣ ਨੂੰ ਕਾਇਮ ਕਰਨ ਦੇ ਯਤਨ ਕੀਤੇ ਹਨ ਪਰੰਤੂ ਹਾਲੇ ਵੀ ਔਰਤ ਨੂੰ ਮਨੁੱਖੀ ਸਮਾਜ ਵਿੱਚ ਉਹ ਸਥਾਨ ਪ੍ਰਾਪਤ ਨਹੀਂ ਹੋ ਸਕਿਆ ਜਿਸਦੀ ਉਹ ਹੱਕਦਾਰ ਹੈ।

ਹਵਾਲੇ ਤੇ ਟਿੱਪਣੀਆਂ:

1. ਟਿਵਾਣਾ, ਦਲੀਪ ਕੌਰ, ਪੂਛਤੇ ਹੋ ਤੋ ਸੁਨੋ, ਨਵਯੁੱਗ ਪਬਲਿਸ਼ਰਜ, ਦਿੱਲੀ, 1995

ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਬਾਣੀ: ਇੱਕ ਅਧਿਐਨ

ਡਾ. ਸੰਦੀਪ ਕੌਰ ਸੇਖੋਂ*

ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਕਾਲ ਨਾਲ ਮਾਨਵ ਜਾਤੀ ਦੇ ਇਤਿਹਾਸ ਵਿੱਚ ਇੱਕ ਨਵਾਂ ਅਧਿਆਇ ਆਰੰਭ ਹੁੰਦਾ ਹੈ।¹ ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਜੀ ਦਾ ਜਨਮ ਭਾਰਤੀ ਇਤਿਹਾਸ ਦੇ ਉਸ ਸਮੇਂ ਵਿੱਚ ਹੋਇਆ, ਜਦੋਂ ਵਿਦੇਸ਼ੀ ਤਾਕਤਾਂ ਚਾਰ ਸਦੀਆਂ ਤੋਂ ਵੱਧ ਭਾਰਤ ਉੱਤੇ ਰਾਜ ਕਰ ਰਹੀਆਂ ਸਨ। ਚਾਰੇ ਪਾਸੇ ਹਾਹਾਕਾਰ ਮੱਚੀ ਹੋਈ ਸੀ। ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਜੀ (1469 ਈ. ਤੋਂ 1539 ਈ. ਤੱਕ) ਯੁੱਗ ਪੁਰਸ਼ ਹੀ ਨਹੀਂ ਸਨ, ਸਗੋਂ ਉਨ੍ਹਾਂ ਨੇ ਆਪਣੀ ਬਾਣੀ ਵਿੱਚ ਜੀਵਨ ਦੇ ਨੈਤਿਕ ਤੇ ਧਾਰਮਿਕ ਪੱਖਾਂ ਦੀ ਉੱਚਤਾ ਨੂੰ ਬਿਆਨ ਕੀਤਾ ਹੈ। ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਜੀ ਇੱਕ ਅਜਿਹੇ ਧਾਰਮਿਕ ਆਗੂ ਹੋਏ ਹਨ, ਜਿਨ੍ਹਾਂ ਨੇ ਮਾਨਵਤਾ ਦੀ ਭਲਾਈ ਲਈ ਆਪਣੇ ਨਿੱਜੀ ਸੁੱਖਾਂ ਨੂੰ ਤਿਆਗ ਕੇ ਥਾਂ-ਥਾਂ ਭ੍ਰਮਣ ਕੀਤਾ। ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਜੀ ਬਾਣੀ ਸੰਦੇਸ਼ ਦੇ ਸੰਚਾਰ ਹਿੱਤ ਚਾਰੋਂ ਦਿਸ਼ਾਵਾਂ ਵਿੱਚ ਗਏ। ਜਿੱਥੇ ਉਨ੍ਹਾਂ ਨੇ ਵੱਖ-ਵੱਖ ਸੰਤਾਂ-ਭਗਤਾਂ ਦੀ ਬਾਣੀ ਇਕੱਤਰ ਕੀਤੀ, ਉੱਥੇ ਆਪ ਵੀ ਉਤਕ੍ਰਿਸ਼ਟ ਬਾਣੀ ਰਚੀ।

‘ਜਪੁਜੀ’ ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਜੀ ਦੀ ਸ਼ਾਹਕਾਰ ਰਚਨਾ ਮੰਨੀ ਗਈ ਹੈ। ‘ਜਪੁਜੀ’ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ ਸਾਹਿਬ ਦੀ ਮੁਢਲੀ ਤੇ ਪ੍ਰਮੁੱਖ ਬਾਣੀ ਹੈ, ਜੋ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ ਸਾਹਿਬ ਦਾ ਨਿਚੋੜ ਆਖੀ ਜਾਂਦੀ ਹੈ। ਇਸ ਵਿੱਚ ਸੱਚ ਦੀ ਪਰਿਭਾਸ਼ਾ ਦੇ ਕੇ ਸਚਿਆਰਾ ਬਣਨ ਦੇ ਸਾਧਨ ਦੱਸੇ ਗਏ ਹਨ। ਜਪੁਜੀ ਦੇ ਆਦਿ ਵਿੱਚ ਮੂਲ ਮੰਤ੍ਰ ਹੈ, “ੴ ਸਤਿਨਾਮ ਕਰਤਾ ਪੁਰਖ ਨਿਰਭਉ ਨਿਰਵੈਰ ਅਕਾਲ ਮੂਰਤਿ ਅਜੂਨੀ ਸੈਭੰ, ਗੁਰਪ੍ਰਸਾਦਿ।”²

ੴ ਦਾ ਅਰਥ ਹੈ- ਇੱਕੋ-ਇੱਕ ਪਰਮਾਤਮਾ। ਮੂਲ ਮੰਤਰ ਵਿੱਚ ਵਰਤੇ ‘ੴ’ ਦਾ ਬੜਾ ਮਹੱਤਵ ਹੈ। ਇਸ ਵਿੱਚ ਇੱਕ ਨਿਰਗੁਣ ਪਰਮਾਤਮਾ ਦੀ ਹੋਂਦ ਬਾਰੇ ਜ਼ਿਕਰ ਕਰਦਿਆਂ ਦੱਸਿਆ ਗਿਆ ਹੈ ਕਿ ਉਹ ਸਦਾ ਰਹਿਣ ਵਾਲਾ, ਡਰ ਰਹਿਤ, ਵੈਰ ਰਹਿਤ, ਅਜੂਨੀ ਭਾਵ ਜੂਨ ਰਹਿਤ ਹੈ ਅਤੇ ਸੈਭੰ ਭਾਵ ਆਪਣੇ ਆਪ ਤੋਂ ਪ੍ਰਕਾਸ਼ਮਾਨ ਹੈ। ਡਾ. ਜਯ ਰਾਮ ਮਿਸ਼ਰ ਅਨੁਸਾਰ, “ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇ ਉਪਦੇਸ਼ ਵਿੱਚ ਓਹੀ ਅਨੁਭੂਤੀ ਹੈ, ਜੋ ਹਿੰਦੂਆਂ ਦੀ ਪ੍ਰਸਥਾਨਤਰੇਈ (ਉਪਨਿਸ਼ਦ, ਬ੍ਰਹਮਸੂਤ੍ਰ) ਤੇ ਸ੍ਰੀ ਮਦ ਭਗਵਤ ਗੀਤਾ ਅਤੇ ਮੁਸਲਮਾਨਾਂ ਦੇ ਕੁਰਾਨ ਅਤੇ ਬੀਬਾਈਆਂ ਦੇ ਧਾਰਮਿਕ ਗ੍ਰੰਥ ਬਾਈਬਲ ਵਿੱਚ ਮਿਲਦੀ ਹੈ।”³

ਮੱਧਕਾਲ ਵਿੱਚ ਜਾਤ-ਪਾਤ ਸਿਖਰ 'ਤੇ ਸੀ। ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਨੇ ਪਹਿਲੀ ਵਾਰ ਸਮਾਜ ਦੇ ਨੀਵੇਂ ਵਰਗ ਅਤੇ ਦੱਬੇ-ਕੁਚਲੇ ਲੋਕਾਂ ਦੇ ਹੱਕ ਵਿੱਚ ਆਵਾਜ਼ ਉਠਾਈ। ਉਸ ਸਮੇਂ ਨੀਵੀਆਂ ਸ਼੍ਰੇਣੀਆਂ ਦੇ ਲੋਕਾਂ ਨੂੰ ਅਪਮਾਨਿਤ ਕੀਤਾ ਜਾਂਦਾ ਸੀ। ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਜੀ ਨੇ ਇਸ ਦੀ ਕਰੜੇ ਸ਼ਬਦਾਂ ਵਿੱਚ ਵਿਰੋਧਤਾ ਕੀਤੀ ਅਤੇ ਆਪਣੇ ਆਪ ਨੂੰ ਉੱਚੀ ਸ਼੍ਰੇਣੀ ਸਮਝਣ ਵਾਲੇ ਲੋਕਾਂ ਉਤੇ ਸਖ਼ਤ ਚੋਟ ਵੀ ਕੀਤੀ:

ਚਉਕੈ ਉਪਰਿ ਕਿਸੈ ਨ ਜਾਣਾ ॥

ਦੇ ਕੇ ਚਉਕਾ ਕਢੀ ਕਾਰ ॥

ਉਪਰਿ ਆਇ ਬੈਠੇ ਕੁੜਿਆਰ ॥

ਮਤ ਭਿਟੈ ਵੇ ਮਤੁ ਭਿਟੈ ॥

ਇਹ ਅੰਨੁ ਅਸਾਡਾ ਫਿਟੈ ॥⁴

ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਜੀ ਆਪ ਉਨ੍ਹਾਂ ਨੀਵੇਂ ਤੇ ਕਮਜ਼ੋਰ ਲੋਕਾਂ ਦਾ ਸਾਥ ਦੇਣ ਦੀ ਗੱਲ ਕੀਤੀ:

ਨੀਚਾ ਅੰਦਰਿ ਨੀਚ ਜਾਤਿ ਨੀਚੀ ਹੁ ਅਤਿ ਨੀਚ ॥

ਨਾਨਕ ਤਿਨ ਕੈ ਸੰਗਿ ਸਾਥਿ ਵਡਿਆ ਸਿਉ ਕਿਆ ਰੀਸ ॥

ਜਿਥੈ ਨੀਚ ਸਮਾਲੀਅਨਿ ਤਿਥੈ ਨਦਰਿ ਤੇਰੀ ਬਖਸੀਸ ॥⁵

ਆਪਣੀਆਂ ਉਦਾਸੀਆਂ ਸਮੇਂ ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਜੀ ਕਈ ਥਾਵਾਂ 'ਤੇ ਜੋਗੀਆਂ ਨੂੰ ਮਿਲੇ। ਜੋਗੀ ਘਰ-ਬਾਰ ਤਿਆਗ ਕੇ ਜੰਗਲਾਂ ਵਿੱਚ ਰਹਿੰਦੇ ਸਨ। ਗੁਰੂ ਜੀ ਨੇ ਕਈ ਵਾਰ ਇਨ੍ਹਾਂ ਨਾਲ ਗੋਸ਼ਟਾਂ ਵੀ ਕੀਤੀਆਂ। ‘ਸਿੱਧ ਗੋਸ਼ਟਿ’ ਬਾਣੀ ਵਿੱਚ ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਜੀ ਦਾ ਜੋਗੀਆਂ ਨਾਲ ਹੋਇਆ ਵਿਚਾਰ ਵਟਾਂਦਰਾ ਦਰਜ ਹੈ। ਸਿੱਧ ਗੋਸ਼ਟਿ ਵਿੱਚ ਅਵਧੂਤ ਕਹਿੰਦਾ ਹੈ:

*ਅਸਿਸਟੈਂਟ ਪ੍ਰੋਫੈਸਰ, ਪੰਜਾਬੀ ਵਿਭਾਗ, ਆਰੀਆ ਕਾਲਜ, ਲੁਧਿਆਣਾ

ਹਾਟੀ ਬਾਟੀ ਰਹਿ ਨਿਰਾਲੇ ਰੁਖਿ ਬਿਰਖਿ ਉਦਿਆਨੇ ।
ਕੰਦ ਮੂਲ ਅਹਾਰੋ ਖਾਈਐ ਅਉਧੂ ਬੋਲੈ ਗਿਆਨੇ ॥⁶

ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਜੀ ਉਨ੍ਹਾਂ ਨੂੰ ਫੁਰਮਾਉਂਦੇ ਹਨ:
ਜੈਸੇ ਜਲ ਮਹਿ ਕਮਲੁ ਨਿਰਾਮਲੁ ਮੁਰਗਾਈ ਨੈਸਾਣੇ ॥
ਸੁਰਤਿ ਸਬਦਿ ਭਵ ਸਾਗਰੁ ਤਰੀਐ ਨਾਨਕ ਨਾਮੁ ਵਖਾਣੇ ॥⁷

‘ਸਿੱਧ ਗੋਸ਼ਟਿ’ ਸਿੱਖ ਸਾਹਿਤ ਦੀ ਪ੍ਰਮੁੱਖ ਗੋਸ਼ਟਿ ਹੈ । ਇਸ ਬਾਣੀ ਵਿੱਚ ਜੋਗੀਆਂ ਦੁਆਰਾ ਮੁੰਦਰਾਂ ਪਾਉਣ, ਅੰਗਾਂ ਉੱਪਰ ਰਾਖ ਮਲਣ ਅਤੇ ਖਿੱਥਾ ਆਦਿ ਕਰਮ-ਕਾਂਡ ਦੀ ਥਾਂ ਗੁਰੂ ਜੀ ਅਧਿਆਤਮਿਕ ਗੁਣ ਅਤੇ ਸਹਿਜ ਮਾਰਗ ਗ੍ਰਹਿਣ ਕਰਨ ਦਾ ਉਪਦੇਸ਼ ਦਿੰਦੇ ਹਨ । ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਜੀ ਨੇ ‘ਅੰਜਨ’ ਵਿੱਚ ‘ਨਿਰੰਜਣ’ ਰਹਿਣਾ ਹੀ ਜੋਗ ਦੀ ਅਸਲ ਜੁਗਤ ਦੱਸੀ ਹੈ ।
ਜੋਗ ਨ ਖਿੱਥਾ ਜੋਗੁ ਨ ਡੰਡੈ ਜੋਗੁ ਨ ਭਸਮ ਚੜ੍ਹਾਈਐ ॥
ਜੋਗੁ ਨ ਮੁੰਡੀ ਮੁੰਡਿ ਮੁੰਡਾਇਐ ਜੋਗੁ ਨ ਮਿਛੀ ਵਾਈਐ ॥
ਅੰਜਨ ਮਾਹਿ ਨਿਰੰਜਨਿ ਰਹੀਐ ਜੋਗ ਜੁਗਤਿ ਇਵ ਪਾਈਐ ॥⁸

ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਜੀ ਨੇ ਮਿੱਠਾ ਬੋਲਣ ਦੀ ਮਹੱਤਤਾ ਦੱਸ ਕੇ ਇਨਸਾਨ ਨੂੰ ਮਿੱਠਾ ਬੋਲਣ ਦਾ ਉਪਦੇਸ਼ ਦਿੱਤਾ ਹੈ ।
ਨਾਨਕ ਫਿਕਾ ਬੋਲੀਐ ਤਨ ਮਨ ਫਿਕਾ ਹੋਇ ॥
ਫਿਕੋ ਫਿਕਾ ਸਦੀਐ ਫਿਕੋ ਫਿਕੀ ਸੋਇ ॥
ਫਿਕਾ ਦਰਗਹਿ ਸੁਣੀਐ ਮੁੰਹਿ ਥੁਕਾ ਫਿਕਾ ਪਾਇ ॥
ਫਿਕਾ ਮੂਰਖ ਆਖੀਐ ਭਾਣਾ ਸਏ ਸਜਾਏ ॥⁹

ਜਾਂ

ਸਿੰਮਲ ਰੁਖੁ ਸਰਾਇਰਾ ਅਤਿ ਦੀਰਘ ਅਤਿ ਮੂਚ ॥
ਓਇ ਜਿ ਆਵਹਿ ਆਸ ਕਰਿ ਜਾਹਿ ਨਿਰਾਸੇ ਚਿਤੁ ॥
ਫਲ ਫਿਕੇ ਫੁਲ ਬਕ ਬਕੇ ਕੰਮ ਨ ਆਵਹਿ ਪਤੁ ॥
ਮਿਠਤੁ ਨੀਵੀਂ ਨਾਨਕਾ ਗੁਣ ਚੰਗਿਆਈਆਂ ਤਤੁ ॥¹⁰

ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਜੀ ਦੀ ਬਾਣੀ ਦੁਆਰਾ ਉਸ ਵੇਲੇ ਦੀਆਂ ਇਤਿਹਾਸਕ ਪਰਸਥਿਤੀਆਂ ਦਾ ਗਿਆਨ ਹੁੰਦਾ ਹੈ, ਜਿਵੇਂ ਕਿ ਬਾਬਰ ਬਾਣੀ ਵਿੱਚ ਗੁਰੂ ਸਾਹਿਬ ਨੇ ਹਿੰਦੁਸਤਾਨ ਉੱਤੇ ਮੁਗਲ ਬਾਦਸ਼ਾਹ ਬਾਬਰ ਦੇ ਹਮਲਿਆਂ ਤੇ ਅਤਿਆਚਾਰਾਂ ਦਾ ਵਰਨਣ ਕੀਤਾ ਗਿਆ ਹੈ:
ਖੁਰਾਸਾਨ ਖੁਸਮਾਨਾ ਕੀਆ ਹਿੰਦੁਸਤਾਨੁ ਡਰਾਇਆ ॥
ਆਪੈ ਦੋਸੁ ਨ ਦੇਈ ਕਰਤਾ ਜੁਮ ਕਰਿ ਮੁਗਲੁ ਚੜ੍ਹਾਇਆ ॥
ਏਤੀ ਮਾਰ ਪਈ ਕਰਲਾਣੇ ਤੈ ਕੀ ਦਰਦੁ ਨ ਆਇਆ ॥¹¹

ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਜੀ ਆਪਣੇ ਵੇਲੇ ਦੇ ਅਤਿਆਚਾਰੀ ਹਾਕਮਾਂ ਦੇ ਜ਼ੁਲਮਾਂ ਦੇ ਵਿਰੁੱਧ ਵੀ ਆਪਣੀ ਆਵਾਜ਼ ਬੁਲੰਦ ਕਰਦੇ ਹਨ । ਜਦੋਂ ਬਾਬਰ ਨੇ ਭਾਰਤ ਦੀ ਜਨਤਾ ਉੱਤੇ ਕਹਿਰ ਢਾਇਆ ਤਾਂ ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਜੀ ਫੁਰਮਾਉਂਦੇ ਹਨ:
ਜੈਸੀ ਮੈ ਆਵੈ ਖਸਮ ਕੀ ਬਾਣੀ ਤੈਸੜਾ ਕਰੀ ਗਿਆਨ ਵੇ ਲਾਲੋ ॥
ਪਾਪ ਕੀ ਜੰਵ ਲੈ ਕਾਬਲਹੁ ਧਾਇਆ ਜੋਰੀ ਮੰਗੈ ਦਾਨ ਵੇ ਲਾਲੋ ॥
ਸਰਮੁ ਧਰਮੁ ਦੁਇ ਛਪਿ ਖਲੋਏ ਕੂੜੁ ਫਿਰੈ ਪਰਧਾਨ ਵੇ ਲਾਲੋ ॥
ਕਾਜੀਆ ਬਾਮਣਾ ਕੀ ਗਲ ਥਕੀ ਅਗਦੁ ਪੜੈ ਸੈਤਾਨੁ ਵੇ ਲਾਲੋ ॥
ਮੁਸਲਮਾਨੀਆ ਪੜਹਿ ਕਤੇਬਾ ਕਸਟ ਮਹਿ ਕਰਹਿ ਖੁਦਾਇ ਵੇ ਲਾਲੋ ॥
ਜਾਤਿ ਸਨਾਤੀ ਹੋਰਿ ਹਿਦਵਾਣੀਆ ਏਹਿ ਭੀ ਲੇਖੇ ਲਾਇ ਵੇ ਲਾਲੋ ॥
ਖੂਨ ਦੇ ਸੋਹਿਲੇ ਗਾਵੀਅਹਿ ਨਾਨਕ ਰਤੁ ਕਾ ਕੁੰਗੂ ਪਾਇ ਵੇ ਲਾਲੋ ॥¹²

ਉਸ ਸਮੇਂ ਪੰਜਾਬ ਰਾਜਸੀ ਤੌਰ ’ਤੇ ਬੁਰੀ ਤਰ੍ਹਾਂ ਅਰਾਜਕਤਾ ਦਾ ਸ਼ਿਕਾਰ ਸੀ । ਰਾਜੇ ਨੈਤਿਕ ਮਰਿਆਦਾ ਭੁੱਲ ਚੁੱਕੇ ਸਨ । ਹਰ ਪਾਸੇ ਅਧਰਮ ਦਾ ਬੋਲਬਾਲਾ ਸੀ:

ਕਲਿ ਕਾਤੀ ਰਾਜੇ ਕਾਸਾਈ ਧਰਮੁ ਪੰਖ ਕਰਿ ਉਡਰਿਆ ॥
ਕੂੜ ਅਮਾਵਸ ਸਚੁ ਚੰਦ੍ਰਮਾ ਦੀਸੈ ਨਾਹੀ ਕਹ ਚੜਿਆ ॥
ਹਉ ਭਾਲਿ ਵਿਕੁੰਨੀ ਹੋਈ ॥ ਆਧੇਰੈ ਰਾਹ ਨ ਕੋਈ ॥
ਵਿਚਿ ਹਉਮੈ ਕਰਿ ਦੁਖੁ ਰੋਈ ॥ ਕਹੁ ਨਾਨਕ ਕਿਨਿ ਬਿਧਿ ਗਤਿ ਹੋਈ ॥¹³

ਉਸ ਸਮੇਂ ਦੇ ਸਮਾਜ ਵਿੱਚ 'ਸੂਤਕ' ਦਾ ਵਹਿਮ ਬਹੁਤ ਪ੍ਰਚਲਿਤ ਸੀ ਅਤੇ ਸਮਾਜ ਦੀ ਹਾਲਤ ਬੜੀ ਹਾਸੋਹੀਣੀ ਬਣੀ ਹੋਈ ਸੀ। ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਜੀ ਸੂਤਕ ਪਾਤਕ ਦਾ ਵਿਰੋਧ ਕਰਦੇ ਹੋਏ ਆਸਾ ਦੀ ਵਾਰ ਵਿੱਚ ਕਹਿੰਦੇ ਹਨ:

ਸਭੇ ਸੂਤਕ ਭਰਮ ਹੈ ਦੂਜੇ ਲਗੈ ਜਾਇ ॥
ਜੰਮਣੁ ਮਰਣਾ ਹੁਕਮੁ ਹੈ ਭਾਣੇ ਆਵੈ ਜਾਇ ॥
ਖਾਣਾ ਪੀਣਾ ਪਵਿਤ੍ਰੁ ਹੈ ਦਿਤੋਨੁ ਰਿਜਕੁ ਸੰਬਾਹਿ ॥
ਨਾਨਕ ਜਿਨੀ ਗੁਰਮੁਖਿ ਬੁਝਿਆ ਤਿਨਾ ਸੂਤਕ ਨਾਹਿ ॥¹⁴

ਉਸ ਸਮੇਂ ਚਾਰੇ ਪਾਸੇ ਝੂਠ ਤੇ ਕੂੜ ਦਾ ਬੋਲਬਾਲਾ ਸੀ। ਸਮਾਜ ਵਿੱਚ ਅਨੇਕਾਂ ਪ੍ਰਕਾਰ ਦੇ ਅੰਧ-ਵਿਸ਼ਵਾਸ ਤੇ ਕਰਮ ਕਾਂਡ ਹੋ ਰਹੇ ਸਨ। ਗੁਰੂ ਸਾਹਿਬ ਨੇ ਇਸ ਸਮੇਂ ਦੇ ਲੋਕਾਂ ਦੇ ਜੀਵਨ ਦੀ ਤਸਵੀਰ ਬੜੀ ਖੂਬਸੂਰਤੀ ਨਾਲ ਪੇਸ਼ ਕੀਤੀ ਹੈ:

ਕੂੜੀ ਰਾਸਿ ਕੂੜਾ ਵਾਪਾਰ ॥
ਕੂੜੁ ਬੋਲਿ ਕਰਹਿ ਆਹਾਰ ॥
ਸਰਮ ਧਰਮ ਕਾ ਡੇਰਾ ਦੂਰਿ ॥
ਨਾਨਕ ਕੂੜੁ ਰਹਿਆ ਭਰਪੂਰਿ ॥
ਮਥੈ ਟਿਕਾ ਤੇੜਿ ਧੋਤੀ ਕਖਾਈ ॥
ਹਥਿ ਛੁਰੀ ਜਗਤ ਕਸਾਈ ॥¹⁵

ਇਸਤਰੀ ਨੂੰ ਲਗ ਭਗ ਸਾਰੇ ਧਰਮਾਂ ਵਿੱਚ ਭੰਡਿਆ ਜਾਂਦਾ ਸੀ, ਪਰ ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਜੀ ਨੇ ਇਸਤਰੀ ਦੇ ਹੱਕ ਵਿੱਚ ਆਵਾਜ਼ ਉਠਾਈ। ਨਾਥ-ਜੋਗੀ ਤਾਂ ਇਸਤਰੀ ਨੂੰ 'ਬਘਿਆੜੀ' ਤੱਕ ਕਹਿੰਦੇ ਸਨ। ਗੋਰਖ ਨਾਥ ਅਨੁਸਾਰ:

ਦਾਮ ਕਾਢ ਬਾਘਣ ਲੈ ਆਇਆ
ਮਾਉ ਕਹੈ ਮੇਰਾ ਪੂਤ ਵਿਆਹਿਆ ॥
ਗੀਲੀ ਲਕੜੀ ਕਉ ਘੁਣ ਲਾਇਆ
ਤਿਨ ਡਾਲ ਮੂਲ ਸਣਿ ਖਾਇਆ ॥

ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਜੀ ਨੇ ਨਾਥਾਂ-ਜੋਗੀਆਂ ਦੀ ਇਸ ਧਾਰਨਾ ਦਾ ਵਿਰੋਧ ਕੀਤਾ। ਉਨ੍ਹਾਂ ਨੇ ਆਸਾ ਦੀ ਵਾਰ ਵਿੱਚ ਕਿਹਾ ਕਿ ਮਰਦ ਇਸਤਰੀ ਤੋਂ ਹੀ ਜਨਮ ਲੈਂਦਾ ਹੈ। ਕੇਵਲ ਪਰਮਾਤਮਾ ਨੂੰ ਛੱਡ ਕੇ ਹਰ ਇਕ ਦੀ ਜਨਨੀ ਇਸਤਰੀ ਹੀ ਹੈ। ਗੁਰੂ ਜੀ ਫ਼ਰਮਾਉਂਦੇ ਹਨ:

ਭੰਡਿ ਜੰਮੀਐ ਭੰਡਿ ਨਿਮੀਐ ॥ ਭੰਡਿ ਮੰਗਣੁ ਵੀਆਹੁ ॥
ਭੰਡਹੁ ਹੋਵੈ ਦੋਸਤੀ ਭੰਡਹੁ ਭਲੈ ਰਾਹੁ ॥
ਭੰਡ ਮੁਆ ਭੰਡ ਭਾਲੀਐ ਭੰਡਿ ਹੋਵੈ ਬੰਧਾਨੁ ॥
ਸੋ ਕਿਉ ਮੰਦਾ ਆਖੀਐ ਜਿਤ ਜੰਮਹਿ ਰਾਜਾਨੁ ॥¹⁶

ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਜੀ ਨੇ ਜਗਨਨਾਥ ਦੇ ਪਾਂਡਿਆਂ ਦੁਆਰਾ ਬਾਲ ਵਿੱਚ ਦੀਵੇ ਬਾਲ ਕੇ ਕੀਤੀ ਆਰਤੀ ਦੇ ਮੁਕਾਬਲੇ ਤੇ, ਕੁਦਰਤ ਵਲੋਂ ਅਕਾਲ ਪੁਰਖ ਦੀ ਹੋ ਰਹੀ ਸੱਚੀ ਆਰਤੀ ਬਾਰੇ ਦੱਸਣ ਲਈ 'ਆਰਤੀ' ਦੀ ਰਚਨਾ ਕੀਤੀ। ਜਿਸ ਵਿੱਚ ਉਨ੍ਹਾਂ ਨੇ ਸਮਝਾਇਆ ਕਿ ਕੁਦਰਤ ਦੁਆਰਾ ਕੀਤੀ ਜਾ ਰਹੀ ਆਰਤੀ ਦੇ ਮੁਕਾਬਲੇ ਬਾਲ ਵਿੱਚ ਦੀਵੇ ਜਗਾ ਕੇ ਆਰਤੀ ਕਰਨਾ ਵਿਅਰਥ ਹੈ।

ਗਗਨ ਮੈ ਬਾਲੁ ਰਵਿ ਚੰਦੁ ਦੀਪਕ ਬਨੇ
ਤਾਰਿਕਾ ਮੰਡਲ ਜਨਕ ਮੋਤੀ ॥
ਧੂਧੁ ਮਲਆਨਲੋ ਪਵਣ ਚਵਰ ਕਰੇ

ਸਗਲ ਬਨਰਾਇ ਫੁਲੰਤ ਜੋਗੀ ॥੧॥
ਕੈਸੀ ਆਰਤੀ ਹੋਇ ਭਵ ਖੰਡਨਾ ਤੇਰੀ ਆਰਤੀ
ਅਨਹਤਾ ਸਬਦ ਵਾਜੰਤ ਭੇਰੀ ॥੧॥⁷

ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਜੀ ਨੇ ਰਾਗ ਆਸ ਵਿੱਚ 'ਪੱਟੀ' ਦੀ ਰਚਨਾ ਕੀਤੀ। ਉਨ੍ਹਾਂ ਨੇ ਆਪਣੇ ਸਮੇਂ ਦੀ ਪ੍ਰਚਲਿਤ ਵਰਣਮਾਲਾ ਦੇ 35 ਅੱਖਰਾਂ ਦੇ ਆਸਰੇ ਲਿਖੀ। 'ਪੱਟੀ' ਵਿੱਚ ਅੱਖਰ ਇਸ ਪ੍ਰਕਾਰ ਆਉਂਦੇ ਹਨ:

ਸ, ਏ, ਉ, ਙ, ਕ, ਖ, ਗ, ਘ, ਚ, ਛ, ਜ, ਝ, ਵ,
ਟ, ਠ, ਡ, ਢ, ਣ, ਤ, ਥ, ਦ, ਧ, ਨ, ਪ, ਬ, ਭ,
ਮ, ਯ, ਰ, ਲ, ਵ, ਝ, ਹ, ਅ।

ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਜੀ ਦੀ ਬਾਣੀ ਵਿੱਚ ਨਾਮ ਸਿਮਰਨ ਅਤੇ 'ਸ਼ਬਦ' ਨਾਲ ਸੁਰਤ ਇਕਾਗਰ ਕਰਕੇ ਅਧਿਆਤਮਕ ਪੱਖ ਤੋਂ ਉੱਚਾ ਹੋਣ ਦੀ ਗੱਲ ਕਹੀ ਗਈ ਹੈ। ਜਪੁਜੀ ਦੀ ਪਹਿਲੀ ਪਉੜੀ ਵਿੱਚ ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਜੀ ਨੇ ਇੱਕ ਪ੍ਰਸ਼ਨ ਕੀਤਾ ਹੈ। 'ਕਿਵ ਸਚਿਆਰਾ ਹੋਈਐ ਕਿਵ ਕੂੜੈ ਤੁਟੈ ਪਾਲਿ' ਭਾਵ ਸਚਿਆਰਾ ਕਿਵੇਂ ਬਣਿਆ ਜਾਵੇ ਅਤੇ ਕੂੜ ਦੀ ਕੰਧ ਕਿਵੇਂ ਟੁੱਟ ਸਕਦੀ ਹੈ। ਗੁਰੂ ਜੀ ਨੇ ਅੱਗੇ ਜਾ ਕੇ ਉੱਤਰ ਦਿੱਤਾ ਹੈ, 'ਹੁਕਮਿ ਰਜਾਈ ਚਲਣਾ ਨਾਨਕ ਲਿਖਿਆ ਨਾਲ' ਭਾਵ ਜੀਵ ਨੂੰ ਪਰਮਾਤਮਾ ਦੀ ਰਜ਼ਾ ਵਿੱਚ ਹੀ ਰਹਿਣਾ ਚਾਹੀਦਾ ਹੈ।

ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਜੀ ਕੁਦਰਤ ਦੇ ਸੱਚੇ ਆਸ਼ਕ ਸਨ। ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਬਾਣੀ ਦੁਆਰਾ ਜੀਵਨ ਦੇ ਰਹੱਸ-ਅਨੁਭਵ ਦੀ ਜਿਹੜੀ ਸਮੱਚਤਾ ਰੂਪਮਾਨ ਹੋਈ ਹੈ। ਕੁਦਰਤ ਉਸਦਾ ਇੱਕ ਅੰਗ ਹੈ। ਡਾ. ਤਾਰਨ ਸਿੰਘ ਅਨੁਸਾਰ, "ਪੁਰਸ਼ ਸਾਰੇ ਬ੍ਰਹਿਮੰਡ ਵਿੱਚ ਕੰਮ ਕਰਦੀ ਚੇਤੰਨਤਾ ਹੈ ਤੇ ਪ੍ਰਕ੍ਰਿਤੀ ਆਕਾਰ ਹੈ ਜਿਸ ਵਿੱਚ ਚੇਤੰਨਤਾ ਦਾ ਵਾਸ ਹੈ।"⁸

ਹਵਾਲੇ ਅਤੇ ਟਿੱਪਣੀਆਂ:

1. ਜਗਦੀਪ ਕੌਰ, ਬਾਣੀ ਸੁਰਤਿ, ਪੰਨਾ 7
2. ਆਦਿ ਗ੍ਰੰਥ, ਪੰਨਾ 1
3. ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ ਦਰਸ਼ਨ, ਪੰਨਾ 58
4. ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ, ਪੰਨਾ 472
5. ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ, ਪੰਨਾ 15
6. ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ, ਪੰਨਾ 939
7. ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ, ਪੰਨਾ 938
8. ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ, ਪੰਨਾ 730
9. ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ, ਪੰਨਾ 473
10. ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ, ਪੰਨਾ 470
11. ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ, ਪੰਨਾ 472
12. ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ, ਪੰਨਾ 472
13. ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ, ਪੰਨਾ 145
14. ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ, ਪੰਨਾ 472
15. ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ, ਪੰਨਾ 471
16. ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ, ਪੰਨਾ 473
17. ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ, ਪੰਨਾ 663
18. ਤਾਰਨ ਸਿੰਘ, ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ: ਚਿੰਤਨ ਤੇ ਕਲਾ, ਪੰਨਾ 199

ਆਜ਼ਾਦੀ ਤੋਂ ਪਹਿਲਾਂ ਪੰਜਾਬ ਵਿੱਚ ਲੋਕਧਾਰਾ ਅਤੇ ਸਭਿਆਚਾਰ ਦਾ ਅਧਿਐਨ

ਡਾ. ਮਨਜੀਤ ਕੌਰ ਗਿੱਲ*

ਪੰਜਾਬੀ ਸਭਿਆਚਾਰ ਭਾਵੇਂ ਸਦੀਆਂ ਲੰਮੀ ਉਮਰ ਰੱਖਦਾ ਹੈ, ਪਰ ਇਸ ਦੇ ਅਧਿਐਨ ਦੀ ਉਮਰ ਐਨੀ ਲੰਮੀ ਨਹੀਂ ਹੈ। ਅੰਗਰੇਜ਼ੀ ਹਕੂਮਤ ਸਮੇਂ ਹੀ ਪੰਜਾਬੀ ਸਭਿਆਚਾਰ ਬਾਰੇ ਅਧਿਐਨ ਹੋਣੇ ਸ਼ੁਰੂ ਹੋਏ ਸਨ। ਇਹ ਅਧਿਐਨ ਅੰਗਰੇਜ਼ ਵਿਦਵਾਨਾਂ ਦੁਆਰਾ ਬਸਤੀਵਾਦੀ ਲੋਕਾਂ ਨੂੰ ਜਾਣਨ ਅਤੇ ਉਨ੍ਹਾਂ ਤੇ ਨਿਯੰਤਰਣ ਕਰਨ ਦੀ ਸੋਚ ਅਤੇ ਨੀਤੀ ਵਿੱਚੋਂ ਉਤਪੰਨ ਹੁੰਦਾ ਹੈ ਭਾਵੇਂ ਕਿ ਉਨ੍ਹਾਂ ਨੇ ਇਸ ਕਾਰਜ ਵਿੱਚ ਵਿਸ਼ੇਸ਼ ਦਿਲਚਸਪੀ ਦਿਖਾਈ ਅਤੇ ਲੋੜ ਅਨੁਸਾਰ ਮਿਹਨਤ ਵੀ ਕੀਤੀ।

ਪੰਜਾਬੀ ਸਭਿਆਚਾਰ ਨਾਲ ਸੰਬੰਧਿਤ ਭਿੰਨ-ਭਿੰਨ ਖੇਤਰਾਂ ਤੇ ਵਿਸ਼ੇਸ਼ ਕਰਕੇ ਲੋਕ-ਸਾਹਿਤ ਤੇ ਲੋਕਯਾਨ ਨਾਲ ਸੰਬੰਧਿਤ ਬੁਨਿਆਦੀ ਖੇਤਰੀ ਕਾਰਜ ਤੇ ਸਾਂਭ-ਸੰਭਾਲ ਦਾ ਜ਼ਿਕਰਯੋਗ ਕੰਮ, ਇਕੱਤਰੀਕਰਨ, ਪ੍ਰਮਾਣਿਕ ਪਾਠਾਂ ਦੀ ਸਿਰਜਣਾ ਦਾ ਕਾਰਜ ਨਿਰਸੰਦੇਹ, ਮੂਲ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਅੰਗਰੇਜ਼ ਵਿਦਵਾਨਾਂ ਨੇ ਹੀ ਆਰੰਭਿਆ ਹੈ।¹

ਇਸ ਸੰਦਰਭ ਵਿੱਚ, ਅੰਗਰੇਜ਼ਾਂ ਨੇ ਮੁਢਲੇ ਦੌਰ ਵਿੱਚ ਆਪਣੇ ਵਿਦਵਾਨਾਂ ਦੀ ਸਹਾਇਤਾ ਰਾਹੀਂ ਆਪਣੀਆਂ ਰਾਜਸੀ, ਆਰਥਿਕ, ਧਾਰਮਿਕ ਲੋੜਾਂ ਅਤੇ ਪੰਜਾਬੀ ਵਿਰਸੇ ਪ੍ਰਤਿ ਸ਼ੌਂਕ ਲਈ ਇਹ ਕਾਰਜ ਕਰਵਾਏ, ਜਿਸ ਵਿੱਚ ਪੰਜਾਬੀ ਸਭਿਆਚਾਰ ਵੱਲ ਉਚੇਚਾ ਧਿਆਨ ਦਿਵਾਇਆ, ਤਾਂ ਜੋ ਇਨ੍ਹਾਂ ਦੀਆਂ ਵਿਸ਼ੇਸ਼ਤਾਵਾਂ ਸਮਝ ਕੇ ਆਪਣਾ ਰਾਜ ਪੱਕਿਆਂ ਕੀਤਾ ਜਾ ਸਕੇ। ਇਸ ਸੰਦਰਭ ਵਿੱਚ ਇਨ੍ਹਾਂ ਦਾ ਕਾਰਜ ਵਧੇਰੇ ਇਕੱਤਰੀਕਰਨ ਵਾਲਾ ਹੀ ਸੀ ਫਿਰ ਵੀ ਇਹ (ਵਿਦੇਸ਼ੀ ਹੋਣ ਕਾਰਨ) ਆਪਣਾ ਕਾਰਜ ਨਿੱਠਕੇ, ਮਿਹਨਤ ਅਤੇ ਲਗਾਉ ਨਾਲ ਕਰਨ ਦਾ ਚੰਗਾ ਸਬੂਤ ਪੇਸ਼ ਕਰਦੇ ਹਨ। ਇਹ ਇੱਕ ਤਰ੍ਹਾਂ ਪੰਜਾਬੀ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਅਧਿਐਨ ਦੇ ਵਿਕਾਸ ਪੜਾਅ ਦੀ ਧਾਰਾ ਵਿੱਚ ਆਪਣਾ ਵਿਸ਼ੇਸ਼ ਮੁਹਾਂਦਰਾ ਸਥਾਪਿਤ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਅੰਗਰੇਜ਼ਾਂ ਦੇ ਪੰਜਾਬੀ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਅਧਿਐਨ ਦੀ ਇਕ ਖੂਬੀ ਇਹ ਵੀ ਕਹਿ ਸਕਦੇ ਹਾਂ ਕਿ ਉਨ੍ਹਾਂ ਨੇ ਪੰਜਾਬੀ ਸਭਿਆਚਾਰ ਦੇ ਸਿਧਾਂਤਕ ਮਸਲਿਆਂ ਵੱਲ ਧਿਆਨ ਦੇਣ ਦੀ ਥਾਂ, ਪੰਜਾਬੀ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਸਮੱਗਰੀ ਨੂੰ ਇਕੱਤਰ ਕਰਨ ਨੂੰ ਵਿਸ਼ੇਸ਼ ਪਹਿਲ ਦਿੱਤੀ, ਜਿਸ ਦੇ ਸਿੱਟੇ ਵਜੋਂ ਪੰਜਾਬੀ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਸਮੱਗਰੀ ਦਾ ਇਕੱਤਰੀਕਰਨ ਅਤੇ ਸੰਪਾਦਨਾ ਦਾ ਕਾਰਜ ਵਧੇਰੇ ਹੋਇਆ ਮਿਲਦਾ ਹੈ। ਇਕ ਹੋਰ ਪਹਿਲੂ ਇਹ ਹੈ ਕਿ ਅੰਗਰੇਜ਼ ਵਿਦਵਾਨਾਂ ਨੇ ਵਧੇਰੇ ਕਾਰਜ ਲੋਕਧਾਰਾ ਦੇ ਅਨੁਸ਼ਾਸਨ ਨਾਲ ਸੰਬੰਧਿਤ ਕੀਤਾ ਹੈ।

ਅੰਗਰੇਜ਼ਾਂ ਦੇ ਪੰਜਾਬ ਆਗਮਨ ਨਾਲ ਲੋਕਧਾਰਾ ਦੇ ਇਕੱਤਰੀਕਰਨ, ਸੰਗ੍ਰਹਿ ਅਤੇ ਸੰਪਾਦਨ ਦਾ ਕੰਮ ਆਰੰਭ ਹੁੰਦਾ ਹੈ, ਜਿਸ ਤਰ੍ਹਾਂ ਇਨ੍ਹਾਂ ਅੰਗਰੇਜ਼ ਵਿਦਵਾਨਾਂ, ਸ਼ਾਸਕ ਅਧਿਕਾਰੀਆਂ, ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੀਆਂ ਧੀਆਂ, ਭੈਣਾਂ, ਪਤਨੀਆਂ ਆਦਿ ਨੇ ਭਾਰਤੀ ਲੋਕਾਂ ਨਾਲ ਮਿਲ ਕੇ ਇਸ ਕੰਮ ਨੂੰ ਸ਼ੁਰੂ ਕੀਤਾ, ਜਿਥੇ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੀ ਰਾਜਨੀਤਕ ਮਜ਼ਬੂਰੀ ਸਾਡੇ ਸਾਹਮਣੇ ਉਜਾਗਰ ਹੁੰਦੀ ਹੈ, ਉਥੇ ਬਹੁਤ ਸਾਰੇ ਵਿਦਵਾਨਾਂ ਦਾ ਇਸ ਕੰਮ ਪ੍ਰਤੀ ਸ਼ੌਂਕ ਤੇ ਉਤਸ਼ਾਹ ਵੀ ਨਜ਼ਰ ਆਉਂਦਾ ਹੈ। ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਕੰਮ ਕਰਨ ਦੇ ਢੰਗ, ਤੌਰ-ਤਰੀਕੇ, ਸਿਰਫ਼, ਮਿਹਨਤ, ਲਗਨ ਅਤੇ ਉਪਰਾਲੇ ਸਾਡੇ ਆਉਣ ਵਾਲੇ ਖੋਜੀਆਂ ਲਈ ਇੱਕ ਚਾਨਣ-ਮੁਨਾਰਾ ਸਾਬਤ ਹੋਏ ਹਨ। ਉਨ੍ਹਾਂ ਵੱਲੋਂ ਕੀਤੇ ਖੇਤਰੀ ਕਾਰਜ ਦੀ ਮਿਸਾਲ ਉਹ ਆਪ ਹਨ।²

ਇਸ ਸਿਲਸਿਲੇ ਵਿੱਚ ਸਭ ਤੋਂ ਪਹਿਲਾ ਕਾਰਜ Sir William Johns ਦਾ ਹੈ, ਜਿਸ ਨੇ 1784 ਈ. ਵਿੱਚ 'Asiatic Society of Bengal' ਅਤੇ 1804 ਵਿੱਚ 'Royal Asiatic Society of Bengal' ਦੀ ਸਥਾਪਨਾ ਕਰਕੇ ਇਨ੍ਹਾਂ ਸੁਸਾਇਟੀਆਂ ਰਾਹੀਂ ਸਥਾਨਕ ਸਭਿਆਚਾਰਾਂ ਅਤੇ ਲੋਕਧਾਰਾ ਦੀ ਸ਼ਨਾਖਤ, ਸਮੱਗਰੀ ਇਕੱਤਰੀਕਰਨ ਅਤੇ ਸੰਪਾਦਨਾ ਲਈ ਵਿਦਵਾਨਾਂ ਨੂੰ ਪ੍ਰੇਰਿਆ।

1849 ਈ. ਵਿੱਚ ਅੰਗਰੇਜ਼ਾਂ ਦਾ ਪੰਜਾਬ 'ਤੇ ਰਾਜ ਸਥਾਪਿਤ ਹੋਇਆ, ਤਾਂ ਅੰਗਰੇਜ਼ ਹਾਕਮਾਂ ਦੇ ਨਾਲ ਹੀ ਅੰਗਰੇਜ਼ ਵਿਦਵਾਨਾਂ ਅਤੇ ਈਸਾਈ ਧਰਮ ਪ੍ਰਚਾਰਕਾਂ ਨੇ ਆਪਣੀਆਂ ਲੋੜਾਂ ਨੂੰ ਧਿਆਨ ਵਿੱਚ ਰੱਖਦਿਆਂ ਪੰਜਾਬ ਦੀ ਲੋਕਧਾਰਾ ਅਤੇ ਪੰਜਾਬੀ ਸਭਿਆਚਾਰ ਸੰਬੰਧੀ ਆਪਣੇ ਕਾਰਜ ਆਰੰਭ ਕੀਤੇ। ਇਸ ਦੇ ਫਲਸਰੂਪ ਕਈ ਪੁਸਤਕਾਂ ਹੋਂਦ ਵਿੱਚ ਆਈਆਂ।

*ਸਹਾਇਕ ਪ੍ਰੋਫੈਸਰ, ਜੇ. ਡੀ. ਕਾਲਜ ਆਫ ਐਜੂਕੇਸ਼ਨ, ਮੁਕਤਸਰ

ਉਨ੍ਹਾਂ ਦਾ ਸਵਾਰਥ, ਉਦੇਸ਼ ਤੇ ਆਦਰਸ਼ ਕੁਝ ਵੀ ਹੋ ਸਕਦਾ ਸੀ ਅਤੇ ਇਸ ਤੱਥ ਤੋਂ ਮੁਨਕਰ ਨਹੀਂ ਹੋਇਆ ਜਾ ਸਕਦਾ ਕਿ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਇਸ ਮਨੋਰਥ ਦੀ ਪੂਰਤੀ ਦੇ ਨਾਲ ਸਹਿਜ ਹੀ, ਅਜਿਹੀ ਸਮੱਗਰੀ ਨੂੰ ਇਕੱਤਰ ਕਰਕੇ ਸੰਗਠਿਤ ਰੂਪ ਵਿਚ ਪ੍ਰਸਤੁਤ ਕਰ ਦਿੱਤਾ।^੧

ਇਸ ਲੜੀ ਵਿੱਚ ਮੇਜਰ ਜੇ. ਐਬਟ ਦਾ ਲੇਖ 'ਆਨ ਦ ਬੈਲਡਜ਼ ਐਂਡ ਲੀਜੰਡਜ਼ ਆਫ ਪੰਜਾਬੀ ਰੀਫੋਸੀਮੈਨਟੋ ਆਫ ਦ ਲੀਜੰਡ ਆਫ ਰਸਾਲੂ' (1854 ਈ.), ਫੋਕਲੋਰ ਜਨਰਲ ਵਿੱਚ ਛਪਿਆ। ਇਹ ਲੇਖ ਨੇ ਪੰਜਾਬੀ ਲੋਕਧਾਰਾ ਨੂੰ ਆਧਾਰ ਬਣਾ ਕੇ ਪੰਜਾਬ ਦੇ ਪ੍ਰਸਿੱਧ ਕਬੀਲਿਆਂ, ਸਿੰਧ ਨਦੀ ਅਤੇ ਪੰਜਾਬ ਦੇ ਇਤਿਹਾਸ ਦੀ ਸਾਧਾਰਨ ਵਿਆਖਿਆ ਜ਼ਰੀਏ ਲੋਕਧਾਰਾ ਦੇ ਅਧਿਐਨ ਖੇਤਰ ਦੇ ਕੰਮ ਦਾ ਮੁੱਢ ਬੰਨਿਆ ਅਤੇ ਇਹ ਲੇਖ ਪੰਜਾਬੀ ਅਤੇ ਅੰਗਰੇਜ਼ੀ ਅਨੁਵਾਦ ਦੇ ਨਾਲ-ਨਾਲ ਪੰਜਾਬੀ ਪ੍ਰਚਲਿਤ ਮੂਲ ਪਾਠ ਨੂੰ ਵੀ ਪੇਸ਼ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਇਹ ਹੋਰ ਵਿਦਵਾਨ, 'ਜੋਹਨ ਬਰਗਸ' ਦੁਆਰਾ ਸੰਪਾਦਿਤ ਰਸਾਲਾ 'ਇੰਡੀਅਨ ਐਂਟੀਕੁਅਰੀਜ਼' 1872 ਈ. ਵਿੱਚ ਆਰੰਭ ਹੋਇਆ। ਇਸ ਰਸਾਲੇ ਦਾ ਮੁੱਖ ਕਾਰਜ ਅਤੇ ਮਨੋਰਥ ਹੀ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਖੇਤਰਾਂ ਵਿੱਚ ਹੋ ਰਹੀ ਖੋਜ ਨੂੰ ਅੰਤਰਰਾਸ਼ਟਰੀ ਪੱਧਰ 'ਤੇ ਪੇਸ਼ ਕਰਨਾ ਸੀ। ਸਰ ਜੋਹਨ ਬਰਗਸ ਇਸ ਰਸਾਲੇ ਦਾ 37 ਸਾਲ ਤੱਕ ਸੰਪਾਦਕ ਰਿਹਾ। ਇਸ ਰਸਾਲੇ ਵਿੱਚੋਂ ਹੀ ਪੰਜਾਬ ਦੇ ਗੀਤੀ-ਰਿਵਾਜਾਂ, ਕਲਾ, ਮਿਥਿਹਾਸ, ਤਿਉਹਾਰ ਤੇ ਇਤਿਹਾਸ ਦੀ ਭਾਵੇਂ ਸਾਧਾਰਨ ਜੇਹੀ ਜਾਣਕਾਰੀ ਮਿਲਦੀ ਹੈ, ਪਰ ਫਿਰ ਵੀ ਇਤਿਹਾਸਕ ਅਤੇ ਮੁਲਾਂਕਣ ਦੇ ਨਜ਼ਰੀਏ ਤੋਂ ਕਾਫ਼ੀ ਮਹੱਤਵਪੂਰਨ ਮੰਨੀ ਜਾਂਦੀ ਹੈ। ਇਸ ਰਸਾਲੇ ਵਿਚ ਸਥਾਨਕ ਦੰਤ-ਕਥਾਵਾਂ, ਸਿਆਣਪਾਂ ਅਤੇ ਕਹਾਵਤਾਂ ਦੇ ਵਿਦੇਸ਼ੀ ਭਾਸ਼ਾ ਵਿਚ ਪ੍ਰਕਾਸ਼ਨ ਦੀ ਆਪਣੀ ਵਿਸ਼ੇਸ਼ ਮਹੱਤਤਾ ਹੈ।

ਇੱਕ ਹੋਰ ਅੰਗਰੇਜ਼ ਵਿਦਵਾਨ 'ਡੈਨਜ਼ਿਲ ਚਾਰਲਸ ਜੈਲਫ ਇਬਸਟਨ' ਨੇ ਇਕ ਪੱਤਰ Proceeding of Asiatic Society of Bengal ਵਿੱਚ 'On the Anthology of Punjab' (1882) ਛਪਵਾਇਆ। ਜਿਸ ਵਿਚ ਪੰਜਾਬ ਦੇ ਸਮਾਜਿਕ ਅਤੇ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਪ੍ਰਬੰਧ ਤੋਂ ਇਲਾਵਾ ਅੰਗਰੇਜ਼ ਸ਼ਾਸਕਾਂ ਦੀ ਪੰਜਾਬ ਪ੍ਰਤੀ ਰੁਚੀ ਨੂੰ ਵੀ ਉਜਾਗਰ ਕੀਤਾ ਗਿਆ ਹੈ।

ਸ਼ੁਰੂ ਵਿੱਚ ਇੰਝ ਵੀ ਮਹਿਸੂਸ ਹੁੰਦਾ ਹੈ ਕਿ ਜਾਂ ਤਾਂ ਪ੍ਰਸ਼ਾਸਨਿਕ ਕੰਮਾਂ ਨੂੰ ਅੱਗੇ ਵਧਾਉਣ ਲਈ ਜਾਂ ਫਿਰ ਜਾਣਕਾਰੀ ਪ੍ਰਾਪਤ ਕਰਨ ਲਈ ਉਹ ਕਿੰਨੇ ਉਤਾਵਲੇ ਸਨ। ਉਹ ਪੰਜਾਬੀ ਸਭਿਆਚਾਰ ਵਿੱਚੋਂ ਜਾਤਾਂ, ਗੋਤਾਂ, ਕਬੀਲੇ, ਉਨ੍ਹਾਂ ਦਾ ਆਰੰਭ ਤੇ ਵਿਕਾਸ, ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੀਆਂ ਗੀਤਾਂ-ਰਿਵਾਜ, ਰਸਮਾਂ, ਧਰਮ, ਉਸ ਦੇ ਪੈਰੋਕਾਰ ਬ੍ਰਾਹਮਣ ਜਾਂ ਦੂਸਰੇ ਲੋਕ, ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੀਆਂ ਗੀਤਾਂ ਰਸਮਾਂ, ਰਿਵਾਜ, ਜਾਨਵਰਾਂ ਜਾਂ ਦਰਖਤਾਂ ਦੀ ਪੂਜਾ, ਵਿਆਹ, ਕਰੇਵਾ, ਇਨ੍ਹਾਂ ਦਾ ਸਮਾਜਿਕ ਆਧਾਰ, ਨੀਵੀਆਂ ਜਾਤਾਂ, ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਦੇਵੀ ਦੇਵਤੇ, ਪੂਜਾ-ਵਿਧੀਆਂ, ਜਨਮ, ਮਰਨ ਤੇ ਵਿਆਹ ਦੀਆਂ ਗੀਤਾਂ-ਰਸਮਾਂ ਅਤੇ ਇਨ੍ਹਾਂ ਵਿੱਚ ਸਮਾਨਤਾਵਾਂ ਜਾਂ ਵਧਰੇਵਾਂ, ਪਹਿਰਾਵਾ, ਗਹਿਣੇ, ਖਾਣ-ਪੀਣ ਦੀਆਂ ਆਦਤਾਂ, ਗੀਤ-ਸੰਗੀਤ, ਲੋਕ ਗੀਤ, ਮੇਲੇ, ਤਿਉਹਾਰ ਅਤੇ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਧਾਰਮਿਕ ਆਧਾਰ ਕੀ ਹਨ, ਆਦਿ ਬਾਰੇ ਆਪਣੇ ਸਾਬੀ ਅਫਸਰਾਂ, ਨੌਕਰਾਂ ਕੋਲੋਂ ਛੋਟੀ ਤੋਂ ਛੋਟੀ ਜਾਣਕਾਰੀ ਹਾਸਲ ਕਰਨ ਲਈ ਲਿਖਦਾ ਹੈ। ਇਸੇ ਲੇਖ ਦੇ ਆਰੰਭ ਵਿਚ ਇਹ ਸਾਰਾ ਕੁਝ ਕਿਵੇਂ ਇਕੱਤਰ ਕਰਨਾ ਹੈ, ਇਸ ਬਾਰੇ ਵੀ ਦੱਸਿਆ ਗਿਆ ਹੈ। ਇਸ ਤੋਂ ਇੱਕ ਗੱਲ ਤਾਂ ਸਪਸ਼ਟ ਹੋ ਜਾਂਦੀ ਹੈ ਕਿ ਅੰਗਰੇਜ਼ ਅਜਿਹੀ ਜਾਣਕਾਰੀ ਹਾਸਲ ਕਰਕੇ ਪੰਜਾਬੀਆਂ ਦੀ ਮਾਨਸਿਕਤਾ ਤੱਕ ਪਹੁੰਚਣ ਦਾ ਯਤਨ ਕਰਦੇ ਹਨ ਅਤੇ ਪੰਜਾਬੀ ਜੀਵਨ ਦੇ ਬਹੁਤ ਸਾਰੇ ਪੱਖਾਂ ਬਾਰੇ ਜਾਣਕਾਰੀ ਹਾਸਲ ਕਰ ਲੈਣਾ ਚਾਹੁੰਦੇ ਹਨ।^੨

ਉਪਰੋਕਤ ਇਹ ਪੱਤਰ ਅੰਗਰੇਜ਼ ਵਿਦਵਾਨਾਂ ਦੀਆਂ ਸਾਹਿਤਕ ਅਤੇ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਰੁਚੀਆਂ ਪ੍ਰਤੀ ਸੋਚ ਨੂੰ ਉਜਾਗਰ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਸਰ ਰਿਚਰਡਜ਼ ਟੈਂਪਲ ਵੱਲੋਂ ਏਸ਼ੀਆਟਿਕ ਸੁਸਾਇਟੀ ਆਫ ਬੰਗਾਲ ਵਿਚ 'ਏ ਡੈਸਰਟੇਸ਼ਨ ਆਨ ਦਾ ਪਰਾਪਰ ਨੇਮਜ਼ ਆਫ ਪੰਜਾਬੀ ਵਿਚ ਸਪੈਸ਼ਲ ਰੈਫਰੈਂਸ ਟੂ ਦਾ ਪਰਾਪਰ ਨੇਮਜ਼ ਆਫ ਵਿਲੇਜ਼ਰਜ਼ ਇਨ ਦਾ ਈਸਟਰਨ ਪੰਜਾਬ' 1883 ਵਿੱਚ ਛਪਿਆ। ਇਸ ਵਿੱਚ ਵਿਸ਼ੇਸ਼ ਇਤਿਹਾਸਕ ਪਰਿਸਥਿਤੀਆਂ ਅਧੀਨ ਨਾਵਾਂ ਦੇ ਪੱਧਰ ਦੀ ਵਿਸਥਾਰਮਈ ਵਿਆਖਿਆ, ਇਸ ਦੇ ਮੂਲ ਮੰਤਵ ਨੂੰ ਸਪਸ਼ਟ ਕਰਦੀ ਹੈ। ਇਸੇ ਸਾਲ ਹੀ ਸਰ ਟੈਂਪਲ ਵੱਲੋਂ ਦੋ ਹੋਰ ਪੱਤਰ 'ਸੌਂਗਜ਼ ਆਫ ਦਾ ਪੀਪਲ' (Songs Of the People) ਅਤੇ 'ਫੋਕ ਲੀਜੰਡਜ਼ ਆਫ ਕਿੰਗ ਰਸਾਲੂ ਆਫ ਸਿਆਲਕੋਟ' (Folk Legends of King Rasalu of Sialkot) ਪ੍ਰਕਾਸ਼ਿਤ ਕੀਤੇ ਗਏ।

ਪੰਜਾਬੀ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਅਧਿਐਨ ਦੇ ਵਿਕਾਸ ਵਿਚ ਸਭ ਤੋਂ ਮਹੱਤਵਪੂਰਨ ਪੁਸਤਕ ਸਰ ਰਿਚਰਡਜ਼ ਟੈਂਪਲ ਵੱਲੋਂ 'ਲੀਜੰਡਜ਼ ਆਫ ਪੰਜਾਬ' 1884 ਵਿੱਚ ਪ੍ਰਕਾਸ਼ਿਤ ਕੀਤੀ ਗਈ। ਇਸ ਦੀਆਂ ਦੋ ਹੋਰ ਜਿਲਦਾਂ ਕ੍ਰਮਵਾਰ 1885 ਅਤੇ 1900 ਵਿੱਚ ਪ੍ਰਕਾਸ਼ਿਤ ਹੋਈਆਂ। ਪੰਜਾਬੀ ਲੋਕ-ਸਾਹਿਤ ਦੀ ਸੰਭਾਲ ਅਤੇ ਅਧਿਐਨ ਬਾਰੇ ਸਰ ਰਿਚਰਡਜ਼ ਟੈਂਪਲ ਦਾ ਨਾਮ ਕਾਫ਼ੀ ਸ਼ਲਾਘਾਯੋਗ ਹੈ। ਡਾ. ਜੋਗਿੰਦਰ ਸਿੰਘ ਕੈਰੋਂ ਅਨੁਸਾਰ:

ਪਹਿਲੀ ਪੁਸਤਕ ਵਿੱਚ ਉਨ੍ਹਾਂ ਨੇ ਬੜੀ ਲੰਮੀ ਅਤੇ ਜਾਣਕਾਰੀ ਭਰਪੂਰ ਭੂਮਿਕਾ ਲਿਖੀ ਹੈ। ਇਸ ਭੂਮਿਕਾ ਵਿੱਚ ਉਨ੍ਹਾਂ ਨੇ ਖੇਤਰੀ ਕਾਰਜ ਨੂੰ ਨਿਭਾਉਣ ਦੀ ਵਿਧੀ ਬਾਰੇ ਵੀ ਚਾਨਣਾ ਪਾਇਆ ਹੈ। ਇਸ ਭੂਮਿਕਾ

ਵਿੱਚ ਉਨ੍ਹਾਂ ਨੇ ਪੰਜਾਬ ਦੇ ਲੋਕਾਂ ਦੀ ਲੋਕਧਾਰਾ ਵਿੱਚ ਰੁਚੀ ਬਾਰੇ ਵੀ ਦੱਸਿਆ ਹੈ। ਉਨ੍ਹਾਂ ਨੇ ਉਨ੍ਹਾਂ ਅਵਸਰਾਂ ਬਾਰੇ ਵੀ ਦੱਸਿਆ ਹੈ, ਜਿਨ੍ਹਾਂ ਸਮਿਆਂ ਉੱਪਰ ਪੰਜਾਬੀ ਲੋਕਗੀਤ ਗਾਉਂਦੇ, ਬਾਤਾਂ ਸੁਣਦੇ-ਸੁਣਾਉਂਦੇ ਅਤੇ ਗਿੱਧੇ-ਭੰਗੜੇ ਪਾਉਂਦੇ ਹਨ। ਪੰਜਾਬ ਦੇ ਤਿਉਹਾਰਾਂ ਅਤੇ ਮੇਲਿਆਂ ਬਾਰੇ ਵੀ ਲਿਖਿਆ ਹੈ, ਜਿਥੇ ਢਾਡੀ ਲੋਕ ਇਹ ਦੰਤ-ਕਥਾਵਾਂ ਗਾਉਂਦੇ ਤੇ ਲੋਕਾਂ ਨੂੰ ਸੁਣਾਉਂਦੇ ਹਨ।⁵

ਤਿੰਨ ਜਿਲਦਾਂ ਵਿੱਚ ਪ੍ਰਕਾਸ਼ਿਤ ਇਹ ਪੁਸਤਕ ਰਾਜਾ ਰਸਾਲੂ, ਪੂਰਨ ਭਗਤ, ਸਖੀ ਸਰਵਰ, ਗੁੱਗਾ ਪੀਰ, ਮਿਰਜ਼ਾ-ਸਾਹਿਬਾ, ਸੱਸੀ-ਪੰਨੂ, ਆਦਿ 57 ਲੋਕ-ਕਥਾਵਾਂ ਦੇ ਵਿਭਿੰਨ ਰੂਪਾਂ ਦਾ ਸੰਕਲਨ ਹੈ।

ਐਫ਼.ਏ. ਸਟੀਲ (F.A. Steal) ਦੀ ਪੁਸਤਕ 'ਟੇਲਜ਼ ਆਫ਼ ਦਾ ਪੰਜਾਬ' (Tales of the Punjab) 1884 ਵਿੱਚ ਪ੍ਰਕਾਸ਼ਿਤ ਹੋਈ। ਇਸ ਦੀਆਂ ਬਹੁਤ ਸਾਰੀਆਂ ਕਥਾਵਾਂ ਪਹਿਲਾਂ ਹੀ ਇੰਡੀਅਨ ਐਂਟੀਕੁਆਰੀਜ਼ ਵਿੱਚ ਛਪ ਚੁੱਕੀਆਂ ਸਨ। ਪੰਜਾਬੀ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਅਧਿਐਨ ਤੋਂ ਇਹ ਪੁਸਤਕ ਸਮਾਜਿਕ ਅਵਸਥਾ ਦਾ ਜ਼ਿਕਰ ਪ੍ਰਸਤੁਤ ਕਰਦੀ ਹੈ। ਇਸ ਤੋਂ ਇਲਾਵਾ ਮੱਧਕਾਲੀ ਪੰਜਾਬੀ ਸਭਿਆਚਾਰ ਵਿੱਚ ਰਿਸ਼ਤਾ-ਨਾਤਾ ਪ੍ਰਬੰਧ, ਗੀਤੀ-ਰਿਵਾਜ, ਲੋਕ-ਵਿਸ਼ਵਾਸ, ਪੂਜਾ ਦੀਆਂ ਵਿਧੀਆਂ, ਕੰਮ-ਧੰਦਿਆਂ ਆਦਿ ਨਾਲ ਸੰਬੰਧਤ ਕਥਾਨਕ ਰੂੜੀਆਂ ਦਾ ਸਾਰ-ਤੱਤ ਵੀ ਉਜਾਗਰ ਹੁੰਦਾ ਹੈ।

ਬੋਰਨਟੋਨ ਬੋਮਸ ਨੇ ਰੋਇਲ ਏਸ਼ੀਆਟਿਕ ਸੋਸਾਇਟੀ ਵਿੱਚ 'ਦਾ ਲਿਟਰੇਚਰ ਐਂਡ ਫੋਲਕੋਰ ਆਫ਼ ਦਾ ਪੰਜਾਬ' 1885 ਵਿਚ ਅਤੇ ਟੈਂਪਲ ਨੇ 'ਫੋਕਲੋਰ ਇਨ ਦਾ ਲੀਜੈਂਡਜ਼ ਆਫ਼ ਪੰਜਾਬ' 1894 ਵਿੱਚ ਛਾਪਿਆ। ਇਨ੍ਹਾਂ ਖੋਜ-ਪੱਤਰਾਂ ਦਾ ਮੁੱਖ ਵਿਸ਼ਾ ਪੰਜਾਬ ਦੀਆਂ ਪੁਰਾਤਨ ਕਥਾਵਾਂ, ਧਾਰਮਿਕ ਤੇ ਸਮਾਜਿਕ ਅਵਸਥਾ ਅਤੇ ਲੋਕ-ਮਨੋਰੰਜਨ ਦੀ ਜਾਣਕਾਰੀ ਨੂੰ ਪ੍ਰਸਤੁਤ ਕਰਨਾ ਸੀ। ਲੋਕ-ਸਾਹਿਤ ਦੇ ਵਿਭਿੰਨ ਰੂਪ ਜ਼ਿਆਦਾਤਰ ਮੌਖਿਕ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਸੰਚਾਰਤ ਹੋ ਕੇ ਹੀ ਆਪਣਾ ਧਾਰਮਿਕ ਅਤੇ ਸਮਾਜਿਕ ਪ੍ਰਸੰਗ ਉਜਾਗਰ ਕਰਦੇ ਹਨ। ਪੰਜਾਬੀ ਸਾਹਿਤ ਅਤੇ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਜਾਣਕਾਰੀ ਨੂੰ ਰੋਚਕ ਅਤੇ ਦਿਲਸਚਪ ਘਟਨਾਵਾਂ ਰਾਹੀਂ ਪੇਸ਼ ਕਰਨਾ ਹੀ ਇਨ੍ਹਾਂ ਲੇਖਾਂ ਦਾ ਮੂਲ ਪਛਾਣ-ਚਿੰਨ੍ਹ ਹੈ।

ਐੱਮ. ਮਿਲਟ ਦੁਆਰਾ ਇੰਡੀਅਨ ਐਂਟੀਕੁਆਰੀਜ਼ ਵਿੱਚ ਆਪਣਾ ਲੇਖ 'ਪੰਜਾਬੀ ਨਿਕ ਨੇਮਜ਼' 1897 ਵਿੱਚ ਛਾਪਿਆ ਗਿਆ। ਇਹ ਲੇਖ ਪੰਜਾਬੀ ਸਭਿਆਚਾਰ ਵਿੱਚ ਸ਼ਬਦਾਵਲੀ ਦੀ ਪ੍ਰਕਿਰਿਆ ਦਾ ਜ਼ਿਕਰ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਇਸ ਵਿਚ ਲੋਕਾਂ ਦੇ ਨਾਵਾਂ ਨੂੰ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਕਿਰਦਾਰ ਨਾਲ ਸੰਬੰਧਤ ਕਰਕੇ ਨਾਮ ਸ਼ਬਦਾਵਲੀ ਦੀ ਵਿਸ਼ੇਸ਼ਤਾ ਨੂੰ ਪ੍ਰਗਟ ਕੀਤਾ ਗਿਆ ਹੈ।

ਐੱਚ. ਏ. ਰੋਜ਼ ਦਾ ਲੇਖ ਨੋਟਸ ਐਂਡ ਕੁਆਰੀਜ਼ ਵਿਚ 'ਟੈਬੂਜ਼ ਇਨ ਦਾ ਪੰਜਾਬ' 1903 ਵਿਚ ਪ੍ਰਕਾਸ਼ਿਤ ਹੋਇਆ। ਇਸ ਲੇਖ ਦਾ ਮੁੱਖ ਵਿਸ਼ਾ ਪੰਜਾਬੀ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਪ੍ਰਬੰਧ ਵਿਚ ਪਰਿਵਾਰਾਂ ਦੀਆਂ ਖ਼ਾਸ ਵਿਵਰਜਨਾਵਾਂ ਦੀ ਵਿਆਖਿਆ ਕਰਨਾ ਸੀ।

ਸੀ. ਐੱਫ਼. ਉਸਬੋਰਨ ਨੇ ਆਪਣੀ ਪੁਸਤਕ 'ਪੰਜਾਬੀ ਲਿਰਿਕਸ ਐਂਡ ਪ੍ਰੋਵਰਬਜ਼ ਟਰਾਂਸਲੇਸ਼ਨ ਇਨ ਵਰਸ ਐਂਡ ਪ੍ਰੋਜ਼' 1905 ਵਿੱਚ ਸਿਵਲ ਐਂਡ ਮਿਲਟਰੀ ਗਜ਼ਟ ਪ੍ਰੈੱਸ, ਲਾਹੌਰ ਵੱਲੋਂ ਪ੍ਰਕਾਸ਼ਿਤ ਕਰਵਾਈ। ਇਸ ਪੁਸਤਕ ਦੀ ਭੂਮਿਕਾ ਪੰਜਾਬੀ ਗੀਤਾਂ, ਅਖਾਣਾਂ, ਕਹਾਵਤਾਂ ਆਦਿ ਸਮੱਗਰੀ ਨੂੰ ਇਸਾਈ ਧਰਮ ਦੇ ਰੰਗ ਵਿਚ ਪ੍ਰਸਤੁਤ ਕਰਦੀ ਹੈ। ਇਸਾਈ ਮਿਸ਼ਨਰੀਆਂ ਦੇ ਪ੍ਰਭਾਵ ਅਧੀਨ ਉਸਬੋਰਨ ਨੇ ਪੰਜਾਬੀ ਕਿੱਸਿਆਂ ਨੂੰ ਇਕੱਤਰ ਕਰਕੇ ਇਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਮੂਲ ਪਾਠਾਂ ਨੂੰ ਯਿਸੂ ਮਸੀਹ ਨਾਲ ਸੰਬੰਧਤ ਕੀਤਾ ਹੈ। ਉਸ ਨੇ ਕਿੱਸਿਆਂ ਵਿਚ ਪ੍ਰਸਤੁਤ ਰਿਸ਼ਤਾ-ਨਾਤਾ ਪ੍ਰਬੰਧ ਨੂੰ ਸਮਝਣ ਦਾ ਯਤਨ ਪੇਸ਼ ਕੀਤਾ ਹੈ।

ਐੱਚ. ਏ. ਰੋਜ਼ ਨੇ ਇੰਡੀਅਨ ਐਂਟੀਕੁਆਰੀਜ਼ ਵਿਚ ਆਪਣਾ ਲੇਖ 'ਲੀਜੈਂਡਜ਼ ਫ਼ਰਮ ਦੀ ਪੰਜਾਬ' 1906 ਵਿਚ ਪ੍ਰਕਾਸ਼ਿਤ ਕਰਵਾਇਆ। ਇਹ ਲੇਖ ਬਾਬਾ ਫ਼ਰੀਦ ਦੀ ਕਹਾਣੀ ਨੂੰ ਸਰਲ ਕਾਵਿ ਮਈ ਰੰਗਣ ਵਿਚ ਪੇਸ਼ ਕਰਦਾ ਹੈ।

ਪੰਜਾਬੀ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਅਧਿਐਨ ਦੇ ਅੰਤਰਗਤ ਚਰਚ ਆਫ਼ ਸਕਾਟਲੈਂਡ ਮਿਸ਼ਨ ਦੇ ਪਾਦਰੀ ਜੇ. ਡਬਲਿਊ ਯੰਗਸਨ ਦਾ ਪ੍ਰਸਿੱਧ ਲੇਖ 'ਦਾ ਚੂਹੜਾਜ਼' 1906 ਵਿੱਚ ਛਪਿਆ। ਜਾਤ-ਪਾਤ ਅਵਸਥਾ ਨਾਲ ਸੰਬੰਧਤ ਇਸ ਲੇਖ ਵਿੱਚ ਕੁੜੀ ਦੇ ਵਿਆਹ ਨਾਲ ਸੰਬੰਧਤ ਲੋਕ-ਗੀਤਾਂ, ਰਸਮਾਂ-ਰਿਵਾਜਾਂ, ਪਹਿਰਾਵੇ, ਸ਼ਿੰਗਾਰ-ਢੰਗ ਅਤੇ ਲੋਕ-ਵਿਸ਼ਵਾਸਾਂ ਦਾ ਬਿਓਰਾ ਪੇਸ਼ ਕੀਤਾ ਗਿਆ ਹੈ।

ਐੱਚ. ਏ. ਰੋਜ਼ ਦਾ ਲੇਖ 'ਕਸਟਮਰੀ ਲਾਅ ਰੀਗਾਰਡਿੰਗ ਸਕੂਸੈਸ਼ਨ ਇਨ ਰੂਲਿੰਗ ਫੈਮਲੀਜ਼ ਆਫ਼ ਪੰਜਾਬ ਹਿੱਲ ਸਟੇਟਸ' 1906 ਵਿੱਚ ਪ੍ਰਕਾਸ਼ਿਤ ਹੋਇਆ। ਇਸ ਲੇਖ ਦੀ ਮੂਲ ਵਿਸ਼ੇਸ਼ਤਾ ਪੰਜਾਬੀ ਸਭਿਆਚਾਰ ਵਿੱਚ ਵਾਰਸ ਅਵਸਥਾ ਦੇ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਪ੍ਰਤੀਮਾਨ ਦਾ ਜ਼ਿਕਰ ਕਰਨਾ ਹੈ।

ਐੱਮ. ਲੌਗਵਰਥ ਡੇਮਸ ਦਾ 'ਏ ਬੇਕਰਸ ਡਜਨ ਆਫ ਕੈਚਸ ਫ਼ਰਮ ਦਾ ਝੰਗ ਡਿਸਟਰਿਕਟ, ਪੰਜਾਬ' 1906 ਵਿੱਚ ਛਪਿਆ। ਇਸ ਵਿੱਚ ਪੰਜਾਬੀ ਪਰਿਵਾਰਕ ਰਿਸ਼ਤਿਆਂ ਦੇ ਤਾਣੇ-ਬਾਣੇ ਦੇ ਵੇਰਵੇ ਪੇਸ਼ ਕੀਤੇ ਗਏ ਹਨ।

ਡੈਨਜ਼ਿਲ ਚਾਰਲਸ ਜੈਲਫ਼ ਇਬਸਟਨ ਨੇ ਆਪਣਾ ਲੇਖ 'ਏ ਗਲਾਸਰੀ ਆਫ਼ ਦਾ ਟਰਾਈਬਸ ਐਂਡ ਕਾਸਟਸ ਆਫ਼ ਦਾ ਪੰਜਾਬ' 1919 ਵਿੱਚ ਪ੍ਰਕਾਸ਼ਿਤ ਕੀਤਾ। ਇਹ ਲੇਖ ਪੰਜਾਬ ਦੀ ਜਾਤੀ ਪ੍ਰਥਾ ਬਾਰੇ ਹੈ। ਇਸ ਵਿਚ ਪੰਜਾਬ ਦੇ ਕਬੀਲਿਆਂ, ਜਾਤਾਂ ਅਤੇ ਧਰਮਾਂ ਦਾ ਵਿਸਥਾਰ ਸਹਿਤ ਉਲੇਖ ਹੋਇਆ ਹੈ।

ਇਸ ਵਿੱਚ ਕਬੀਲਿਆਂ, ਧਰਮਾਂ ਦੇ ਨਿਕਾਸ ਤੇ ਵਿਕਾਸ ਬਾਰੇ ਲਿਖਿਆ ਗਿਆ ਹੈ। ਇਸ ਦੀ ਭੂਮਿਕਾ ਵਿੱਚ ਦੱਸਿਆ ਗਿਆ ਹੈ ਕਿ ਇਸ ਕੰਮ ਨੂੰ ਕਰਨ ਲਈ ਕਿਹੜਾ ਤਰੀਕਾ ਅਪਣਾਇਆ ਗਿਆ। ਇਹ ਵੀ ਦੱਸਿਆ ਗਿਆ ਹੈ ਕਿ ਜ਼ਿਲ੍ਹਾ ਮੁਖੀਆਂ ਵੱਲੋਂ ਕੁਝ ਖੇਤੀਬਾੜੀ ਨਾਲ ਸੰਬੰਧਤ ਰਿਪੋਰਟਾਂ ਵੀ ਤਿਆਰ ਕਰਵਾਈਆਂ ਗਈਆਂ ਸਨ। ਇਸ ਵਿੱਚ ਪੰਜਾਬ ਦੇ ਦੱਖਣ-ਪੱਛਮ ਹਿੱਸੇ ਦਾ ਇਤਿਹਾਸ, ਲੋਕ ਧਰਮ, ਸਮਾਜ, ਭੂਗੋਲਿਕ ਵੰਡ, ਵੱਖ-ਵੱਖ ਸਮਿਆਂ ਵਿੱਚ ਪ੍ਰਚਲਿਤ ਧਰਮ, ਹਮਲਾਵਰ, ਕੁਦਰਤ ਦੀ ਪੂਜਾ, ਮੁਢਲੇ ਸੰਤ, ਪੀਰ, ਫਕੀਰ, ਹਰ ਪੱਖ ਨੂੰ ਛੋਹਿਆ ਗਿਆ ਹੈ।^{੧੬}

ਸੀ. ਐੱਫ. ਉਸਬੋਰਨ ਵੱਲੋਂ ‘ਹੀਰ ਵਾਰਿਸ ਸ਼ਾਹ ਦਾ ਅੰਗਰੇਜ਼ੀ ਅਨੁਵਾਦ ਅਤੇ ਆਲੋਚਨਾਤਮਕ ਅਧਿਐਨ’ 1922 ਵਿੱਚ ਪੇਸ਼ ਕੀਤਾ ਗਿਆ। ਹੀਰ ਵਾਰਿਸ ਸੰਬੰਧੀ ਇਸ ਅਨੁਵਾਦ ਅਤੇ ਆਲੋਚਨਾਤਮਕ ਅਧਿਐਨ ਨੇ ਪੰਜਾਬੀ ਸਭਿਆਚਾਰ ਦੀ ਆਰਥਿਕ ਅਵਸਥਾ, ਰਾਜਨੀਤੀ, ਪਰਿਵਾਰਕ ਰਿਸ਼ਤਿਆਂ, ਰੀਤੀ-ਰਿਵਾਜਾਂ, ਪਰਾਲੋਕਿਕ ਅੰਸ਼ਾਂ, ਲੋਕ-ਵਿਸ਼ਵਾਸਾਂ ਆਦਿ ਨੂੰ ਵਿਸ਼ਾ ਬਣਾਇਆ ਅਤੇ ਇਹ ਦਰਸਾਇਆ ਹੈ ਕਿ ਜਾਗੀਰਦਾਰੀ ਪ੍ਰਬੰਧ ਵਿੱਚ ਆਰਥਿਕਤਾ ਨੂੰ ਪਰਿਵਾਰਕ ਰਿਸ਼ਤਿਆਂ ਨਾਲੋਂ ਮੁੱਖ ਤਰਜੀਹ ਦਿੱਤੀ ਜਾਂਦੀ ਸੀ।

ਆਰ.ਬੀ. ਵਾਇਟਹੈਡ ਦਾ ਲੇਖ ‘ਦਾ ਰਿਵਰ ਕੋਰਸਸ ਆਫ ਦਾ ਪੰਜਾਬ ਐਂਡ ਸਿੰਧ’ 1932 ਵਿੱਚ ਪ੍ਰਕਾਸ਼ਿਤ ਹੋਇਆ। ਵਾਇਟਹੈਡ ਦਾ ਇਹ ਲੇਖ ਪੰਜਾਬ ਦੇ ਦਰਿਆਵਾਂ ਅਨੁਸਾਰ ਭੂਗੋਲਿਕ ਹੱਦਬੰਦੀਆਂ ਨੂੰ ਨਿਸ਼ਚਿਤ ਕਰਨ ਦੇ ਮਨੋਰਥ ਹਿੱਤ ਲਿਖਿਆ ਗਿਆ ਹੈ। ਇਸ ਵਿੱਚ ਪੰਜਾਬ ਦੀ ਦਰਿਆਵਾਂ ਅਨੁਸਾਰ ਹੋਈ ਵੰਡ ਨਾਲ ਸੰਬੰਧਤ ਮਸਲਿਆਂ ਨੂੰ ਰਾਜਨੀਤਕ ਪਰਿਪੇਖ ਵਿੱਚ ਵਿਚਾਰਿਆ ਗਿਆ ਹੈ।

ਹਵਾਲੇ ਅਤੇ ਟਿੱਪਣੀਆਂ:

1. ਸੁਖਪਾਲ ਸਿੰਘ (ਡਾ.), ‘ਪੰਜਾਬੀ ਲੋਕ ਗਾਥਾ’, ਸਵੇਰਾ ਪ੍ਰਕਾਸ਼ਨ, ਦਿੱਲੀ, 1987, ਪੰਨਾ 10.
2. ਸੈਮੁਅਲ ਗਿੱਲ (ਡਾ.), ਅਪ੍ਰਕਾਸ਼ਿਤ ਖੋਜ-ਪ੍ਰਬੰਧ ‘ਪੰਜਾਬੀ ਲੋਕਧਾਰਾ ਦੇ ਸੰਗ੍ਰਹਿ, ਸੰਪਾਦਨ ਤੇ ਮੁਲਾਂਕਣ ਵਿੱਚ ਅੰਗਰੇਜ਼ਾਂ ਦਾ ਯੋਗਦਾਨ’ ਕੁਰੂਕਸ਼ੇਤਰ ਯੂਨੀਵਰਸਿਟੀ, ਕੁਰੂਕਸ਼ੇਤਰ, 2003, ਪੰਨਾ 260.
3. ਸੁਖਪਾਲ ਸਿੰਘ (ਡਾ.), ‘ਪੰਜਾਬੀ ਲੋਕ ਗਾਥਾ’, ਸਵੇਰਾ ਪ੍ਰਕਾਸ਼ਨ, ਦਿੱਲੀ, 1987, ਪੰਨਾ 10.
4. ਸੈਮੁਅਲ ਗਿੱਲ (ਡਾ.), ਅਪ੍ਰਕਾਸ਼ਿਤ ਖੋਜ-ਪ੍ਰਬੰਧ ‘ਪੰਜਾਬੀ ਲੋਕਧਾਰਾ ਦੇ ਸੰਗ੍ਰਹਿ, ਸੰਪਾਦਨ ਤੇ ਮੁਲਾਂਕਣ ਵਿੱਚ ਅੰਗਰੇਜ਼ਾਂ ਦਾ ਯੋਗਦਾਨ’ ਕੁਰੂਕਸ਼ੇਤਰ ਯੂਨੀਵਰਸਿਟੀ, ਕੁਰੂਕਸ਼ੇਤਰ, 2003, ਪੰਨਾ 89.
5. ਕੈਰੋ, ਜੋਗਿੰਦਰ ਸਿੰਘ (ਡਾ.), ‘ਪੰਜਾਬੀ ਲੋਕਧਾਰਾ ਅਧਿਐਨ’, ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਯੂਨੀਵਰਸਿਟੀ, ਅੰਮ੍ਰਿਤਸਰ, 2005, ਪੰਨਾ 26.
6. ਉਹੀ, ਪੰਨਾ 109.

ਸਮਕਾਲੀ ਸਾਹਿਤ ਵਿਚ ਹਾਸ਼ੀਆਗਤ ਲੋਕਾਂ ਦੀ ਵੇਦਨਾ ਤੇ ਮੁਕਤੀ ਦੀ ਚੇਤਨਾ (ਪੰਜਾਬੀ ਜੁਝਾਰ-ਕਾਵਿ ਦੇ ਵਿਸ਼ੇਸ਼ ਪ੍ਰਸੰਗ ਵਿਚ)

ਕੁਲਵਿੰਦਰ ਸਿੰਘ ਸੰਧੂ*

ਕਵਿਤਾ ਕਿਸੇ ਵੀ ਕੌਮ ਦਾ ਸਮਾਜਿਕ-ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਪ੍ਰਵਚਨ ਹੁੰਦੀ ਹੈ। ਇਸੇ ਰੂਪ 'ਚ ਇਹ ਸਦੀਵੀ ਮਨੁੱਖੀ ਮਸਲਿਆਂ ਨਾਲ ਸੰਬੰਧਿਤ ਵੀ ਰਹਿੰਦੀ ਹੈ ਅਤੇ ਉਨ੍ਹਾਂ ਨੂੰ ਸੰਬੋਧਿਤ ਵੀ ਹੁੰਦੀ ਹੈ। ਕਵਿਤਾ ਇਕ ਅਜਿਹਾ ਧਰਾਤਲ ਹੈ, ਜਿੱਥੇ ਮਨੁੱਖ ਅਤੇ ਉਸ ਦੇ ਚੌਗਿਰਦੇ, ਮਨੁੱਖ ਤੇ ਉਸ ਦੇ 'ਸਵੈ' ਦੇ ਟਕਰਾਓ ਦਾ ਸਿਰਜਣ ਹੁੰਦਾ ਹੈ। ਇੰਜ ਕਵਿਤਾ ਦਾ ਉਦੈ - ਬਿੰਦੂ ਮਨੁੱਖੀ ਆਤਮਾ ਦੀ ਚਿਹਨਕਾਰੀ ਹੁੰਦਾ ਹੈ। ਇਸ ਪ੍ਰਕਿਰਿਆ ਵਿਚ ਕਵਿਤਾ ਮਨੁੱਖੀ ਜੀਵਨ ਨੂੰ ਸਮਝਦੀ ਤੇ ਮੁੜ ਸਿਰਜਦੀ ਹੈ। ਕਵਿਤਾ ਜਿੱਥੇ ਕਿਸੇ ਕਾਲ ਵਿਸ਼ੇਸ਼ ਨਾਲ ਸੰਬੰਧਿਤ ਹੁੰਦੀ ਹੈ, ਉੱਥੇ ਕਾਲਿਕ ਸਥਿਤੀਆਂ ਨਾਲ ਇਸ ਦਾ ਰਿਸ਼ਤਾ ਤਨਾਓਮਈ ਵੀ ਹੁੰਦਾ ਹੈ। ਕਵਿਤਾ ਦਾ ਵਿਚਾਰਧਾਰਕ ਪੈਂਤੜਾ ਅਤੇ ਉਸ ਦਾ ਸਮਾਜਕ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਸੰਦਰਭ ਉਸ ਦੇ ਕਾਲ ਨੂੰ ਨਿਰਧਾਰਤ ਕਰਨ ਦਾ ਆਧਾਰ ਬਣਦਾ ਹੈ। ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਕੋਡਾਂ ਰਾਹੀਂ ਕਵਿਤਾ ਜਿੱਥੇ ਵਿਚਾਰਧਾਰਾ ਦਾ ਸੰਚਾਰ ਕਰਦੀ ਹੈ, ਉੱਥੇ ਇਹ ਸਮਾਜਕ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਸਰੋਕਾਰਾਂ ਨੂੰ ਵੀ ਅਗਰਭੂਮਿਤ ਕਰਦੀ ਹੈ।

ਵੀਹਵੀਂ ਸਦੀ ਦੇ ਛੇਵੇਂ ਦਹਾਕੇ ਤੋਂ ਬਾਅਦ ਪੰਜਾਬ ਦੇ ਸਮਾਜਿਕ, ਆਰਥਿਕ, ਸਭਿਆਚਾਰਕ, ਧਾਰਮਿਕ ਤੇ ਰਾਜਨੀਤਕ ਮੰਚ ਤੇ ਵਿਭਿੰਨ ਘਟਨਾਵਾਂ ਦ੍ਰਿਸ਼ਟੀਗੋਚਰ ਹੁੰਦੀਆਂ ਹਨ। ਇਹਨਾਂ ਘਟਨਾਵਾਂ ਦਾ ਸਿੱਧਾ ਸਰੋਕਾਰ ਪੰਜਾਬੀ ਬੰਦੇ ਨਾਲ ਹੈ ਅਤੇ ਇਹਨਾਂ ਦਾ ਪ੍ਰਭਾਵ ਖੇਤਰ ਪੰਜਾਬੀ ਜਨ-ਜੀਵਨ ਹੈ। ਇਸ ਸਮੇਂ ਦੌਰਾਨ ਪੰਜਾਬੀ ਬੰਦੇ ਦੀ ਆਤਮਾ ਡੂੰਘੇ ਸੰਕਟਾਂ ਦਾ ਸ਼ਿਕਾਰ ਹੋਈ, ਜਿਨ੍ਹਾਂ ਵਿਚ ਪੰਜਾਬ ਦੀ ਨਕਸਲਬਾਜ਼ੀ ਲਹਿਰ, ਹਰੇ ਇਲਕਲਾਬ ਦੀ ਅਸਫਲਤਾ, ਖੇਤੀ ਕਰਜ਼ਾ, ਪੰਜਾਬ ਤੋਂ ਵਿਦੇਸ਼ਾਂ ਵੱਲ ਤੇ ਦੂਜੇ ਸੂਬਿਆਂ ਤੋਂ ਮਜ਼ਦੂਰਾਂ ਦਾ ਪੰਜਾਬ ਵਿਚ ਪਰਵਾਸ, ਪੰਜਾਬ ਸਮੱਸਿਆ, ਹਰਿਮੰਦਰ ਸਾਹਿਬ 'ਤੇ ਫੌਜੀ ਹਮਲਾ, ਚੁਰਾਸੀ ਦੀ ਸਿੱਖ ਨਸਲਕੁਸ਼ੀ, ਮਾਦਾ ਭਰੂਣ ਹੱਤਿਆਵਾਂ, ਕਿਸਾਨ ਆਤਮ ਹੱਤਿਆਵਾਂ, ਬੇਰੁਜ਼ਗਾਰੀ, ਡੇਰਾਵਾਦ ਦਾ ਫੈਲਾਓ ਤੇ ਸੰਕਟ ਅਤੇ ਧਰਮ- ਪਰਿਵਰਤਨ ਆਦਿ ਸ਼ਾਮਲ ਹਨ।

ਪੰਜਾਬ ਅਤੇ ਪੰਜਾਬੀ ਬੰਦੇ ਦੇ ਅਜਿਹੇ ਸੰਕਟਾਂ ਪ੍ਰਤੀ ਸਮਕਾਲੀ ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਉਦਾਸੀਨ ਨਹੀਂ, ਸਗੋਂ ਇਹਨਾਂ ਸੰਕਟਾਂ ਨਾਲ ਸਮਕਾਲੀ ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਤੇ ਵਿਸ਼ੇਸ਼ ਕਰਕੇ ਜੁਝਾਰਵਾਦੀ ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਭਰਪੂਰ ਤੇ ਸਾਰਥਕ ਸੰਵਾਦ ਰਚਾਉਂਦੀ ਹੈ। ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਦੀ ਇਸ ਚੇਤਨਤਾ ਤੇ ਜਾਗਰੂਕਤਾ ਬਾਰੇ ਡਾ. ਯੋਗਰਾਜ ਕਹਿੰਦੇ ਹਨ, ਇਤਿਹਾਸ ਦੇ ਅਜਿਹੇ ਸੰਕਟਾਂ ਪ੍ਰਤੀ ਵੀ ਇਹ ਨਵੀਂ ਕਵਿਤਾ ਸੰਵਾਦ ਰਚਾ ਰਹੀ ਹੈ।¹

ਜੁਝਾਰਵਾਦੀ ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਦੀ ਜਿੱਥੇ ਵਿਸ਼ਵ ਚੇਤਨਾ ਦੇ ਨਾਲ ਸਾਂਝ ਹੈ, ਉੱਥੇ ਇਸ ਦੀ ਸਥਾਨਕ ਵਰਤਾਰਿਆਂ ਸੰਬੰਧੀ ਡੂੰਘੀ ਸੰਵੇਦਨਸ਼ੀਲਤਾ ਵੀ ਹੈ। ਜਿਨ੍ਹਾਂ ਵਿਸ਼ਵੀ ਤੇ ਸਥਾਨਕ ਵਰਤਾਰਿਆਂ ਨੇ ਪੰਜਾਬੀ ਬੰਦੇ ਤੇ ਪੰਜਾਬੀ ਸਮਾਜ ਨੂੰ ਪ੍ਰਭਾਵਿਤ ਕੀਤਾ ਹੈ, ਉਨ੍ਹਾਂ ਵਰਤਾਰਿਆਂ ਦੀ ਨਿਸ਼ਾਨਦੇਹੀ ਵੀ ਜੁਝਾਰਵਾਦੀ ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਕਰਦੀ ਹੈ। ਇਹਨਾਂ ਵਰਤਾਰਿਆਂ ਨੇ ਇਕ ਨਵੀਂ ਤਰ੍ਹਾਂ ਦੀ ਕਾਵਿ-ਸੰਵੇਦਨਾ ਅਤੇ ਦ੍ਰਿਸ਼ਟੀ ਪੈਦਾ ਕੀਤੀ ਹੈ, ਕਾਵਿ-ਅਭਿਵਿਅਕਤੀ ਦੀ ਪੱਧਰ 'ਤੇ ਮਨੁੱਖੀ ਸਥਿਤੀ ਬਾਰੇ ਜੋ ਵਿਵੇਕ ਪੈਦਾ ਹੋਇਆ ਹੈ, ਉਸ ਬਾਰੇ ਸਮਕਾਲੀ ਜੁਝਾਰਵਾਦੀ ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਨੇ ਇਕ ਅਸਲੋਂ ਨਵੇਂ-ਨਿਵੇਕਲੇ ਤੇ ਅੱਡਰੇ ਪ੍ਰਵਚਨ ਨੂੰ ਜਨਮ ਦਿੱਤਾ ਹੈ।

ਜੁਝਾਰਵਾਦੀ ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਜਨ-ਸਾਧਾਰਨ ਦੇ ਨਾਲ ਕੀਤੇ ਜਾ ਰਹੇ ਵਿਤਕਰੇ, ਜ਼ੁਲਮ ਅਤੇ ਅਨਿਆਂ ਦੇ ਖਿਲਾਫ ਅਤੇ ਮਜ਼ਲੂਮ ਦੇ ਹੱਕ ਵਿਚ ਖੜ੍ਹੇ ਹੋਣ ਦੀ ਸਾਹਿਤਕ ਜ਼ਿੰਮੇਵਾਰੀ ਨਿਭਾਉਂਦੀ ਹੈ ਤੇ ਨਾਲ ਹੀ ਇਹ ਮੌਜੂਦ ਦ੍ਰਿਸ਼ਿਤ ਸਮਾਜਕ ਪ੍ਰਬੰਧ ਨੂੰ ਢਾਹ ਕੇ ਸਮਾਜਕ ਸਮਾਨਤਾ, ਸੁਤੰਤਰਤਾ, ਭਾਈਚਾਰਾ ਅਤੇ ਸਾਂਝੀਵਾਲਤਾ ਵਾਲਾ ਨਵਾਂ ਸਮਾਜਕ ਪ੍ਰਬੰਧ ਉਸਾਰਨ ਦਾ ਵੱਡਮੁੱਲਾ ਆਦਰਸ਼ ਵੀ ਆਪਣੇ ਲੋਕਾਂ ਦੇ ਸਨਮੁਖ ਰੱਖਦੀ ਹੈ। ਇਹ ਕਵਿਤਾ ਮਨੁੱਖਤਾ ਦੇ ਅਸੀਮ ਦਰਦ ਪ੍ਰਤੀ ਸੰਵੇਦਨਸ਼ੀਲ ਹੈ ਅਤੇ ਇਸ ਦੇ ਆਪਣੇ ਨਿਵੇਕਲੇ ਵਿਚਾਰਧਾਰਕ ਪ੍ਰਤੀਮਾਨ ਵੀ ਹਨ।

ਸਮਕਾਲੀ ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਵਿਭਿੰਨ ਸਰੋਕਾਰਾਂ ਅਤੇ ਸੰਦਰਭਾਂ ਨੂੰ ਚੇਤਨਤਾ ਤੇ ਜਿਗਿਆਸਾ ਸਹਿਤ ਸੰਬੋਧਿਤ ਹੋ ਰਹੀ ਹੈ। ਸਮਕਾਲੀ ਸਮਾਜਕ ਵਰਤਾਰੇ ਵਿਚ ਮਨੁੱਖ ਦੀ ਹਾਸ਼ੀਆਗਤ ਹੋਂਦ ਨੂੰ ਸੰਬੋਧਿਤ ਹੁੰਦੀ ਜੁਝਾਰਵਾਦੀ ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਜਿੱਥੇ ਉਸ ਦੀ ਦਸ਼ਾ ਨੂੰ ਪ੍ਰਗਟ ਕਰਦੀ ਹੈ, ਉੱਥੇ ਉਸ ਦੀ ਚੇਤਨਾ ਨੂੰ ਪ੍ਰਚੰਡਦੀ ਹੋਈ, ਉਸ ਨੂੰ ਇਸ ਦਸ਼ਾ ਵਿਚੋਂ ਨਿਕਲਣ ਦਾ ਰਾਹ ਵੀ ਦੱਸਦੀ ਹੈ।

* ਅਸਿਸਟੈਂਟ ਪ੍ਰੋਫੈਸਰ, ਪੋਸਟ ਗ੍ਰੈਜੂਏਟ, ਪੰਜਾਬੀ ਵਿਭਾਗ, ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਖ਼ਾਲਸਾ ਕਾਲਜ, ਅਬੋਹਰ

ਵਿਸ਼ਵੀਕਰਨ ਦੇ ਖਿਲਾਰੇ ਤੇ ਪੂੰਜੀਵਾਦ ਦੇ ਬੋਲਬਾਲੇ ਕਰਕੇ ਮਾਨਸਿਕ ਪੱਧਰ 'ਤੇ ਪੰਜਾਬੀ ਬੰਦੇ ਵਿਚ ਹੀਣਭਾਵਨਾ ਦਾ ਇਕ ਵੱਡਾ ਖਲਾਅ ਪੈਦਾ ਹੋਇਆ ਹੈ। ਇਸ ਖਲਾਅ ਵਿਚ ਹਾਸ਼ੀਆਗਤ ਮਨੁੱਖ ਦੀ ਬਣੀ ਹੋਈ ਡਾਵਾਂਡੋਲ ਸਥਿਤੀ ਨੂੰ ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਰੂਪਮਾਨ ਕਰਦੀ ਹੈ:-

ਆਪਣੀ ਜਾਚੇ ਉਹ ਤਾਂ ਵੱਡੇ ਘਰ ਜਾਂਦਾ ਹੈ,
ਵਿਚ ਸਮੁੰਦਰ ਜਾ ਕੇ ਦਰਿਆ ਮਰ ਜਾਂਦਾ ਹੈ।
ਮਾਂ ਬੋਲੀ, ਮਾਂ ਜਣਨੀ, ਧਰਤੀ ਮਾਤਾ ਕੋਲੋਂ,
ਟੁੱਟ ਕੇ ਬੰਦਾ, ਮਰਦਾ ਮਰਦਾ ਮਰ ਜਾਂਦਾ ਹੈ १

ਸਮਕਾਲੀ ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਹਾਸ਼ੀਆਗਤ ਲੋਕਾਂ ਦੀ ਵੇਦਨਾ ਨੂੰ ਅਪਣਾ ਮਹੱਤਵਪੂਰਨ ਸਰੋਕਾਰ ਬਣਾਉਂਦੀ ਹੈ। ਇਹ ਕਵਿਤਾ ਆਪਣੇ ਬੰਦਿਆਂ ਦੀ ਤ੍ਰਾਸਦ ਸਥਿਤੀ ਲਈ ਜ਼ਿੰਮੇਵਾਰ ਧਿਰਾਂ ਦੀ ਨਿਸ਼ਾਨਦੇਹੀ ਕਰਦੀ ਹੋਈ ਇਤਿਹਾਸ ਦੀ ਵਿਰਚਨਾ ਕਰਦੀ ਹੈ। ਸਮਕਾਲੀ ਹਾਸ਼ੀਆਗਤ ਸਥਿਤੀ 'ਤੇ ਤਿੱਖਾ ਵਿਅੰਗ ਕਰਦੀ ਹੋਈ ਇਹ ਕਵਿਤਾ ਪ੍ਰਚੰਡ ਚੇਤਨਾ ਗ੍ਰਹਿਣ ਕਰਦੀ ਹੈ-

ਜੇ ਲਿਖਣਾ ਹੀ ਹੈ ਤਾਂ ਇਹ ਲਿਖੋ
ਕੰਮੀਆਂ ਦੇ ਜਵਾਕ
ਵੀਹਵੀਂ ਸਦੀ ਦੇ ਖ਼ਾਤਮੇ 'ਤੇ ਵੀ
ਭੰਡਾਰੇ ਦੇ ਚੌਲਾਂ ਤੋਂ
ਅਗਾਂਹ ਨਹੀਂ ਵੱਧ ਸਕੇ १

ਸਮਕਾਲੀ ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਇਸ ਸਮੇਂ ਬਹੁਪੱਖੀ, ਬਹੁ-ਦਿਸ਼ਾਵੀ ਤੇ ਬਹੁਬਿਧ ਪਰਿਵਰਤਨਾਂ ਵਿਚੋਂ ਗੁਜ਼ਰਦੀ ਹੋਈ ਆਪਣਾ ਨਿਵੇਕਲਾ ਸਰੂਪ ਨਿਰਧਾਰਿਤ ਕਰਦੀ ਹੈ। ਇਹ ਕਵਿਤਾ ਮੱਧਕਾਲੀ ਕਾਵਿ-ਸੰਵੇਦਨਾ ਤੋਂ ਅਗੇਰੇ ਜਾ ਕੇ ਆਧੁਨਿਕ ਤੇ ਉੱਤਰ-ਆਧੁਨਿਕ ਸੰਵੇਦਨਾ ਨਾਲ ਜੁੜਦੀ ਹੈ। ਸਮਕਾਲੀ ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਦੇ ਸਰੂਪ ਬਾਰੇ ਚਰਚਾ ਕਰਦਿਆਂ ਡਾ. ਬਲਜੀਤ ਕੌਰ ਲਿਖਦੇ ਹਨ-

ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਦੇ ਇਤਿਹਾਸ ਵਿਚ ਵੀਹਵੀਂ ਸਦੀ ਦਾ ਸਮਾਂ ਇਕ ਅਜਿਹੇ ਮਹੱਤਵਪੂਰਨ ਦੌਰ ਵਜੋਂ ਪਛਾਣਨਯੋਗ ਹੈ, ਜਿਸ ਵਿਚ ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਬਹੁ-ਬਿਧ ਪਰਿਵਰਤਨਾਂ ਵਿਚੋਂ ਗੁਜ਼ਰਦੀ ਹੋਈ ਆਪਣੇ ਪੂਰਬਲੇ ਸਰੂਪ ਨਾਲੋਂ ਵੱਖਰੇ ਸਰੂਪ ਦਾ ਪਰਿਚਯ ਦਿੰਦੀ ਹੈ ਅਤੇ ਬਹੁ-ਪੱਖੀ ਤੇ ਬਹੁ-ਦਿਸ਼ਾਵੀ ਵਿਕਾਸ ਦੇ ਰਾਹ 'ਤੇ ਗਤੀਮਾਨ ਹੁੰਦੀ ਹੈ १

ਇੰਜ ਸਮਕਾਲੀ ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਵੱਖ-ਵੱਖ ਪ੍ਰਵਿਰਤੀਆਂ, ਲਹਿਰਾਂ, ਝੁਕਾਵਾਂ, ਧਾਰਾਵਾਂ ਨੂੰ ਆਤਮਸਾਤ ਕਰਦੀ, ਉਹਨਾਂ ਦਾ ਵਿਕਾਸ ਕਰਦੀ ਅਤੇ ਵਿਗਠਨ ਕਰਦੀ ਹੋਈ ਨਿਰੰਤਰ ਗਤੀਸ਼ੀਲ ਤੇ ਪਰਿਵਰਤਨਸ਼ੀਲ ਰਹਿੰਦੀ ਹੈ। ਇਸ ਨਾਲ ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਵਿਚ ਨਵੀਆਂ ਸਿਰਜਣਾਤਮਕ ਸੰਭਾਵਨਾਵਾਂ ਉਜਾਗਰ ਹੁੰਦੀਆਂ ਹਨ। ਇਹਨਾਂ ਸੰਭਾਵਨਾਵਾਂ ਤਹਿਤ ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਜਨ-ਸਾਧਾਰਨ ਦੀ ਜੀਵਨ ਸਥਿਤੀ ਨਾਲ ਡੂੰਘੇ ਲਗਾਵ ਤੋਂ ਮੁਨਕਰ ਨਹੀਂ ਹੁੰਦੀ ਭਾਵੇਂ ਇਹ ਸਮੁੱਚੇ ਵਿਸ਼ਵ ਨੂੰ ਆਪਣੇ ਕਲਾਵੇ ਵਿਚ ਵੀ ਲੈਂਦੀ ਹੈ। ਇੰਜ ਇਹ ਸਮੂਹ-ਭਾਵੀ ਅਤੇ ਲੋਕ-ਹਿਤੈਸ਼ੀ ਕਵਿਤਾ ਵਜੋਂ ਆਪਣੀ ਵਿਲੱਖਣ ਪਛਾਣ ਕਾਇਮ ਕਰ ਲੈਂਦੀ ਹੈ।

ਆਮ ਜਨ-ਸਾਧਾਰਨ ਦੇ ਜੀਵਨ-ਯਥਾਰਥ ਨੂੰ ਪੇਸ਼ ਕਰਦਿਆਂ ਇਹ ਉਹਨਾਂ ਲੋਕਾਂ ਨਾਲ ਨੇੜਲੀ ਸਾਂਝ ਬਣਾਈ ਰੱਖਦੀ ਹੈ, ਜਿਹਨਾਂ ਨੂੰ ਸਮਾਜ ਦੀ ਕਾਣੀ-ਵੰਡ ਨੇ ਹਾਸ਼ੀਏ 'ਤੇ ਧੱਕਿਆ ਹੋਇਆ ਹੈ ਅਤੇ ਇਹਨਾਂ ਹਾਸ਼ੀਆਗਤ ਲੋਕਾਂ ਦੀ ਸਥਿਤੀ ਨੂੰ ਜੁਝਾਰਵਾਦੀ ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਇਉਂ ਵੇਖਦੀ ਹੈ:

ਜੁਗਾਂ ਤੋਂ ਇਕ ਵੇਲਣਾ ਚਲਦਾ ਹੈ
ਪੀੜੀ ਜਾ ਰਿਹਾ ਹੈ ਰੁੱਤਾਂ ਦੀ ਮਹਿਕ
ਤੁਹਾਡਾ ਸੁਹਜ-ਸ਼ਾਸਤਰ ਕੌਣ ਪੜ੍ਹੇ
ਕੁਰਲਾਹਟਾਂ, ਚੀਕਾਂ ਦੀ ਏਸ ਦਲਦਲ ਵਿਚ
ਉਹ ਕਿਸ ਹੱਦ ਤੀਕ ਚੁੰਡਣਗੇ
ਸਲੋਨੇ ਤਾਲ ਸ਼ਬਦਾਂ 'ਚੋਂ
ਲਹੂ ਆਪਣੇ ਦੇ ਵਿਚ ਹੀ ਨਿਚੁੜਦਾ ਹੋਵੇ
ਜਿਨ੍ਹਾਂ ਦੀ ਹੋਂਦ ਦਾ ਪੱਲਾ.....
ਉਖੜਨ ਵਾਸਤੇ ਇਹ ਅਮਲ ਕਤਲਾਂ ਦਾ
ਵਕਤ ਦੇ ਵੇਲਣੇ 'ਚ ਦਿੱਤੀ ਹੈ ਜਿਨ੍ਹਾਂ ਨੇ ਬਾਂਹ

ਉਹ ਤੁਹਾਡੀ ਕਲਾ ਬਿਰਤੀ ਨੂੰ ਹੀ ਬਸ
ਪਰਚਾਉਣ ਨਹੀਂ ਆਏ.....^{੧੬}

ਇਸ ਕਵਿਤਾ ਦੀ ਹਾਸ਼ੀਆਗਤ ਲੋਕਾਂ ਨਾਲ ਸਾਂਝ ਨੂੰ ਦਰਸਾਉਂਦੀ ਨਿਮਨ-ਅੰਕਿਤ ਕਵਿਤਾ ਵੀ ਵੇਖਣਯੋਗ ਹੈ, ਜਿਸ ਵਿਚ
ਇਸ ਦੀ ਉਹਨਾਂ ਲੋਕਾਂ ਨਾਲ ਗੂੜ੍ਹੀ ਸਾਂਝ ਨੂੰ ਦਰਸਾਇਆ ਗਿਆ ਹੈ:

ਖਾਦ ਖੁਣੋਂ ਕੋਈ ਮਰਦੀ ਖੇਤੀ
ਵੀ ਕਵਿਤਾ ਹੈ।
ਖਾਦ ਨਾਲ ਕੋਈ ਸੜਦੀ ਖੇਤੀ
ਵੀ ਕਵਿਤਾ ਹੈ।
ਮਿੱਲ ਕਵਿਤਾ ਹਨ....
ਸ਼ਾਮ ਪਈ ਤਾਂ ਗਧਿਆਂ ਵਾਲੇ
ਸੱਪਾਂ ਵਾਲੇ
ਛੱਜਾਂ ਵਾਲੇ
ਸਭ ਕਵਿਤਾ ਹਨ^{੧੭}

ਜੇ ਜੁਝਾਰਵਾਦੀ ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਇਹਨਾਂ ਹਾਸ਼ੀਆਗਤ ਲੋਕਾਂ ਨਾਲ ਆਪਣਾ ਮੋਹ ਦਰਸਾਉਂਦੀ ਹੈ ਤਾਂ ਇਹ ਲੋਕ ਹੀ ਅਸਲ
ਵਿਚ ਇਸ ਕਵਿਤਾ ਦੇ 'ਅਸਲੀ ਲਿਖਾਰੀ' ਹਨ। ਆਪਣੇ ਵੰਨ-ਸੁੰਵਨੇ ਵਿਸ਼ੇ-ਵਸਤੂ ਤੇ ਰੂਪ ਨਾਲ ਭਰਪੂਰ ਹੁੰਦੀ ਹੋਈ ਵੀ ਇਹ
ਆਪਣੇ ਅਨਪੜ੍ਹ ਤੇ ਮਿਹਨਤੀ ਲਿਖਾਰੀਆਂ ਨਾਲ ਕਿੰਝ ਇਕਮਿਕ ਹੋਈ ਹੈ, ਇਸ ਦੀ ਮਿਸਾਲ ਵਾਚਣਯੋਗ ਹੈ:

ਕਿੰਨੇ ਭਰਪੂਰ ਹਨ
ਤੇਰੇ ਵਿਸ਼ੇ ਵਸਤੂ ਤੇ ਰੂਪ ਦੇ ਸੋਮੇ
ਤੇ ਮੈਂ ਕਿੰਨਾ ਅਨਪੜ੍ਹ ਲਗਦਾ ਹਾਂ
ਖੇਤਾਂ ਵਿਚ ਮੁੜ੍ਹਕੋ - ਮੁੜ੍ਹਕੀ ਹੋਏ
ਤੇਰੇ ਅਨਪੜ੍ਹ-ਲਿਖਾਰੀਆਂ ਨਾਲੋਂ.....^{੧੭}

ਇਹਨਾਂ ਹਾਸ਼ੀਆਗਤ ਲੋਕਾਂ ਵਿਚ ਨਿਮਨ ਕਿਰਤੀ ਕਿਸਾਨ ਅਤੇ ਨਿਮਨ ਮੱਧਵਰਗ ਦੇ ਹਰ ਦੁੱਖ-ਸੁੱਖ, ਲੋੜਾਂ-ਬੋਝਾਂ, ਨਿੱਕੀਆਂ
ਨਿਗੂਣੀਆਂ ਖੁਸ਼ੀਆਂ- ਗਮੀਆਂ, ਚਾਹਤਾਂ, ਬੇਵੱਸੀਆਂ, ਹੌਕੇ ਤੇ ਲਾਚਾਰੀਆਂ ਸਭ ਕਵਿਤਾ ਹਨ। ਸਮਕਾਲੀ ਸਾਹਿਤ/ਜੁਝਾਰਵਾਦੀ
ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਉਹਨਾਂ ਲੋਕਾਂ ਦੀ ਕਵਿਤਾ ਨਹੀਂ, ਜਿਹਨਾਂ ਜ਼ਿੰਦਗੀ ਨੂੰ ਕੱਚੇ ਰਾਹਾਂ ਤੇ ਖੜ੍ਹਕੇ ਨਿਹਾਰਿਆ ਨਹੀਂ। ਇਸੇ ਕਰਕੇ ਇਹ
ਕਵਿਤਾ ਉਹਨਾਂ ਲੋਕਾਂ ਦੇ ਸੁਹਜ-ਸੁਆਦ ਨੂੰ ਮੂੰਹ ਨਹੀਂ ਲਾਉਂਦੀ, ਸਗੋਂ ਆਪਣੇ ਲੋਕਾਂ ਦੇ ਹੱਕ ਵਿਚ ਡੱਟ ਕੇ ਖੜ੍ਹੀ, ਸ਼ੋਸ਼ਕਾਂ ਨੂੰ
ਲਲਕਾਰਦੀ ਹੈ:

ਮੇਰੇ ਤੋਂ ਆਸ ਨਾ ਕਰਿਉ
ਕਿ ਮੈਂ ਖੇਤਾਂ ਦਾ ਪੁੱਤ ਹੋ ਕੇ
ਤੁਹਾਡੇ ਚਗਲੇ ਹੋਏ ਸਵਾਦਾਂ ਦੀ ਗੱਲ ਕਰਾਗਾਂ।
ਜਿਹਨਾਂ ਦੇ ਹੜ੍ਹ 'ਚ ਰੁੜ੍ਹ ਜਾਂਦੀ ਹੈ
ਸਾਡੇ ਬੱਚਿਆਂ ਦੀ ਤੋਤਲੀ ਕਵਿਤਾ
ਤੇ ਸਾਡੀਆਂ ਧੀਆਂ ਦਾ ਕੰਜਕ ਜਿਹਾ ਹਾਸਾ
ਮੈਂ ਤਾਂ ਜਦ ਵੀ ਕੀਤੀ-ਖਾਦ ਘਾਟੇ
ਕਿਸੇ ਗਰੀਬੜੀ ਦੀ ਹਿੱਕ ਵਾਂਗੂੰ ਪਿਚਕ ਗਏ ਗੰਨਿਆਂ ਦੀ ਗੱਲ ਹੀ ਕਰਾਗਾਂ।
ਮੈਂ ਦਲਾਨ ਦੇ ਖੂੰਜੇ 'ਚ ਪਈ ਸੋਣੀ ਦੀ ਫਸਲ
ਤੇ ਦਲਾਨ ਦੇ ਬੂਹੇ 'ਤੇ ਖੜ੍ਹੇ ਸਿਆਲ ਦੀ ਹੀ ਗੱਲ ਕਰਾਗਾਂ^{੧੮}

ਨੰਗਿਆਂ ਪੈਰਾਂ ਦੀ ਕਵਿਤਾ ਚਿੱਕੜ ਵਿੱਚ ਲਿਖੀ
ਬੇਨਾਮ ਕਵੀਆਂ ਨੇ
ਜਿਨ੍ਹਾਂ ਨੂੰ ਮਹੀਨੇ ਦਾ ਨਾਂ
ਸਿਰਫ਼ ਕਰੋਹੀਆਂ ਦੀ ਖੁਰਾਕ ਤੋਂ ਯਾਦ ਆਇਆ^{੧੯}

ਜੁਝਾਰਵਾਦੀ ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਵਿਚ ਹਾਸ਼ੀਆਗਤ ਲੋਕਾਂ ਦੀ ਦਿਨੋ - ਦਿਨ ਨਿੱਘਰਦੀ ਜਾ ਰਹੀ ਜ਼ਿੰਦਗੀ ਦਾ ਦੁਖਾਂਤਕ ਵਰਤਾਰਾ ਉੱਭਰਵੇਂ ਰੂਪ ਵਿਚ ਦ੍ਰਿਸ਼ਟੀਗੋਚਰ ਹੁੰਦਾ ਹੈ। ਭਾਰਤੀ ਰਾਜਨੀਤਕ ਸੱਤਾ 'ਤੇ ਕਾਬਜ਼ ਸਾਮਰਾਜੀ ਜ਼ਹਿਨੀਅਤ ਵਾਲੀਆਂ ਦੇਸੀ ਪਾਰਟੀਆਂ ਦੀਆਂ ਨੀਤੀਆਂ ਸਰਮਾਏਦਾਰ - ਪੱਖੀ ਅਤੇ ਲੋਕ - ਵਿਰੋਧੀ ਰਹੀਆਂ ਹਨ, ਜਿਸ ਕਾਰਣ ਹਾਸ਼ੀਆਗਤ ਲੋਕਾਂ ਦੀ ਜ਼ਿੰਦਗੀ ਬਦ ਤੋਂ ਬਦਤਰ ਹੁੰਦੀ ਗਈ। ਇਹ ਲੋਕ ਆਪਣੀ ਸਥਿਤੀ ਪ੍ਰਤੀ ਤੇ ਉਸ ਦੇ ਅਸਲ ਕਾਰਣਾਂ ਪ੍ਰਤੀ ਅਗਿਆਨੀ ਤੇ ਅਚੇਤਨ ਹੋਣ ਕਾਰਣ ਨਿਤਾਣੇ ਤੇ ਮੰਦੇ - ਹਾਲ ਹੁੰਦੇ ਗਏ। ਫਲਸਰੂਪ ਆਰਥਿਕ ਅਸਾਵਾਂਪਣ ਤੇ ਵਰਗ - ਪਾੜਾ ਵੱਧਦਾ ਗਿਆ। ਜੁਝਾਰਵਾਦੀ ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਹਾਸ਼ੀਆਗਤ ਲੋਕਾਂ ਦੇ ਜੀਵਨ - ਯਥਾਰਥ ਨੂੰ ਚਿਤਰਿਤ ਤੇ ਵਿਸ਼ਲੇਸ਼ਿਤ ਕਰਨ ਵਿਚ ਮੋਹਰੀ ਤੇ ਨਿਰਪੱਖ ਭੂਮਿਕਾ ਨਿਭਾਉਂਦੀ ਰਹੀ ਹੈ। ਜੁਝਾਰਵਾਦੀ ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਦੀ ਇਸ ਭੂਮਿਕਾ ਦੇ ਪ੍ਰਥਾਇ ਇੱਥੇ ਕੁੱਝ ਕਾਵਿ-ਸਤਰਾਂ ਦਰਜ ਕਰਨੀਆਂ ਪ੍ਰਸੰਗਕ ਹੋਣਗੀਆਂ:

ਰੋਜ਼ ਹੀ ਇਕੋ ਸਮੇਂ ਉਠਦਾ ਹੈ
ਕਿਸਾਨ ਤੇ ਕੁੱਤੇ ਦੇ ਢਿੱਡ ਵਿਚ
ਅੰਤਲੀ ਬੁਰਕੀ ਦਾ ਝੋਰਾ
ਰੋਜ਼ ਹੀ ਏਸੇ ਤਰ੍ਹਾਂ ਹੁੰਦਾ ਹੈ
ਰੋਜ਼ ਹੀ ਦੱਬ ਦੋਂਦੀਆਂ ਧੀਆਂ - ਧਿਆਣੀਆਂ
ਗਿੱਲੇ ਗੋਹੇ ਵਿਚ
ਕੱਚੀ ਕੁਆਰੀ ਜ਼ਿੰਦਗੀ ਦੀ ਅੱਗ....
ਘੁਮਿਆਰ ਦਾ ਚੱਕ ਰੋਜ਼ ਹੀ ਮਿੱਟੀ 'ਚੋਂ ਫੜਦਾ ਹੈ
ਜ਼ਿੰਦਗੀ ਦੇ ਝਨਾਂ ਅੰਦਰ ਰੁੜ੍ਹ ਗਈ ਸੋਹਣੀ ਦੇ ਨਕਸ਼।¹⁰

ਬਸਤੀਆਂ ਕਿ ਨੰਗੇ ਪੈਰ
ਮਾਵਾਂ ਜਿੱਥੇ
ਕੋਰੇ ਉੱਤੇ ਤੁਰਦੀਆਂ
ਚੱਲੀਆਂ ਮਜ਼੍ਹਰੀ ਨੂੰ,
ਬਸਤੀਆਂ, ਜੁਲਾਹਾ ਜਿੱਥੇ ਦਿਨ ਰਾਤ
ਖੱਡੀ ਨੂੰ ਦੁੜਾਂਵਦਾ
ਇਉਂ ਡਿੱਗੇ ਤੜਕਸਾਰ ਸੌਣ ਨੂੰ
ਕੱਪੜੇ ਦੀ ਮਿੱਲ ਦਾ ਜਿਉਂ
ਭਾਰਾ ਪਹੀਆ ਲਤੜ ਜਾਏ।
ਚਾਹ ਵੇਲੇ ਰੋਣ ਬੱਚੇ
ਰੋਟੀ ਵੇਲੇ ਰੋਣ ਬੱਚੇ
ਬਸਤੀਆਂ ਕਿ ਸੁਬਾ ਸ਼ਾਮ
ਭੁੱਖਾਂ ਵਾਲਾ
ਬੁੜਾਂ ਵਾਲਾ
ਦੁਖ ਹੌਲਾ ਕਰਨ ਲਈ
ਲੜਨ ਗੁਆਂਢਣਾਂ....।¹¹

ਜੁਝਾਰਵਾਦੀ ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਦਾ ਮੋਹ ਤੇ ਹਮਦਰਦੀ ਸਦਾ ਲਿਤਾੜੇ ਤੇ ਨਿਤਾਣੇ ਵਰਗ ਨਾਲ ਰਹੀ ਹੈ। ਇਹ ਸਦਾ ਇਹਨਾਂ ਦੀ ਦਸ਼ਾ ਵਿਚ ਸੁਧਾਰ ਦੇ ਮਨਸ਼ੇ ਨਾਲ ਜਿੱਥੇ ਸਿਸਟਮ ਨਾਲ ਆਢਾ ਲੈਂਦੀ ਹੈ, ਉੱਥੇ ਇਹ ਉਹਨਾਂ ਦੇ ਹੱਕ ਵਿਚ ਡਟ ਕੇ ਖੜਨ ਦੀ ਵੀ ਹੈ।

ਸਮਾਜ ਦੀ ਆਰਥਕ ਮੰਦਹਾਲੀ ਤੇ ਭੁੱਖ ਨੰਗ ਦੇ ਸ਼ਿਕਾਰ ਵਰਗਾਂ, ਭਾਵੇਂ ਉਹ ਪੇਂਡੂ ਜਾਂ ਸ਼ਹਿਰੀ ਮਜ਼ਦੂਰ ਹੈ ਤੇ ਭਾਵੇਂ ਮੁਜਾਰਾ ਜਾਂ ਛੋਟਾ ਕਿਸਾਨ ਹੈ, ਦੇ ਜੀਵਨ ਦੇ ਵਿਭਿੰਨ ਦੁਖਾਂਤਕ ਦ੍ਰਿਸ਼ਾਂ ਦੀ ਪੇਸ਼ਕਾਰੀ ਜੁਝਾਰ-ਵਿਦਰੋਹੀ ਕਵਿਤਾ ਦੀ ਵਰਣਨਯੋਗ ਵਿਸ਼ੇਸ਼ਤਾ ਹੈ।¹²

ਜੁਝਾਰਵਾਦੀ ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਵਿਚ ਮੰਦਹਾਲੀ ਤੇ ਲਾਚਾਰਗੀ ਦੇ ਬੋਝ ਹੇਠ ਲਿਤਾੜਿਆ ਬਚਪਨ, ਧੀਆਂ-ਧਿਆਣੀਆਂ ਦਾ ਹੰਝੂਆਂ ਥਾਣੀਂ ਵਹਿੰਦਾ ਹਾਸਾ, ਵਿਹਾਉਲੀ-ਉਮਰੇ ਤਰਸਦੀਆਂ ਗੀੜਾਂ, ਬਚਪਨ ਤੋਂ ਬੁਢਾਪੇ 'ਚ ਸਿੱਧਾ ਦਾਖਲਾ ਤੇ ਚਾਹਤਾਂ-ਇੱਛਾਵਾਂ ਤੇ ਅਧੂਰੀਆਂ ਸੱਧਰਾਂ ਦੇ ਕਰੁਣਾਮਈ ਦਰਦ ਦੀ ਕਾਵਿ-ਪ੍ਰਸਤੁਤੀ ਹੋਈ ਹੈ। ਇਸ ਪ੍ਰਥਾਇ ਕਵਿਤਾ ਦੀਆਂ ਕੁੱਝ ਪੰਕਤੀਆਂ ਇੱਥੇ ਦਰਜ ਕਰਨੀਆਂ ਉੱਚਿਤ ਰਹਿਣਗੀਆਂ:

ਬਹੁਤੀ ਲੰਮੀ ਖੁਦਕਸ਼ੀ
ਕਰਦੇ ਰਹੇ ਹਾਂ ਉਮਰ ਭਰ

... ..

ਪਤਾ ਨਹੀਂ ਕੈ ਦਫਾ ਖੇਤਾਂ 'ਚ
ਖੁਦ ਬਿਜ ਬਿਜ ਰਹੇ ਵਿਕਦੇ
ਬਹੁਤ ਲੰਬੀ ਖੁਦਕਸ਼ੀ ਕਰਦੇ ਰਹੇ ਹਾਂ
ਅਜੇ ਵੀ ਵਕਤ ਹੈ ਯਾਰੋ
ਸੜਕ ਦੀਆਂ ਰੋੜੀਆਂ ਤੇ ਘਸ ਗਏ ਪੰਜੇ
ਪਤਾ ਨਹੀਂ ਕੈ ਮਣਾਂ ਫਾਲੇ ਘਸਾ ਕੇ ਝੁਕ ਗਈਆਂ ਪਿੱਠਾਂ
ਖਿੰਡਰੀ ਹੋਂਦ ਨੂੰ ਮੁੜ ਕੇ ਬਣਾ ਸਕਣ।
ਕੋਈ ਤਲਵਾਰ ਦੀ ਸੰਜੀਵਨੀ ਸੁੰਘਾ ਸਕਣ...।¹³

ਸਾਡੇ ਜਿਸਮਾਂ ਵਿਚ ਜੋਕਾਂ ਨੇ ਨਹੀਂ ਸਗੋਂ
ਪਾਲਤੂ ਮਗਰਮੱਛਾਂ ਨੇ ਡੂੰਘੇ ਦੰਦ ਗੱਡੇ ਹੋਏ ਨੇ।¹⁴

ਜਾ ਰਿਹਾ ਏ ਲੰਮਾ ਲਾਰਾ
ਮੋਢਿਆਂ ਤੇ ਚੁੱਕੀ ਕੁੱਲੀਆਂ ਦੇ ਬਾਂਸ
ਇਹ ਭੁੱਖਾਂ ਦੇ ਮਾਰੇ ਕੌਣ ਆਰੀਆ ਹਨ ?
ਇਹ ਜਾ ਰਹੇ ਨੇ ਰੋਕਣ
ਕਿਸ ਭਾਰਤ ਦੀ ਜ਼ਮੀਨ... ?¹⁵

ਜੁਝਾਰਵਾਦੀ ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਵਿਚ ਸਾਧਨ-ਵਿਹੂਣੇ ਤੇ ਸਰੋਤ-ਵਿਹੂਣੇ ਜਨ-ਸਾਧਾਰਣ ਦੀ ਜੀਵਨ ਸਥਿਤੀ ਦਾ ਬੜਾ ਮਾਰਮਿਕ ਚਿੱਤਰ ਸਾਕਾਰ ਹੁੰਦਾ ਹੈ। ਜਨ-ਸਾਧਾਰਨ ਦੀ ਇਸ ਹਾਸ਼ੀਆਗਤ ਸਥਿਤੀ ਦੇ ਕਾਰਣਾਂ ਨੂੰ ਲੱਭਣ ਤੇ ਇਹਨਾਂ ਵਿਚਲੇ ਅੰਤਰ-ਵਿਰੋਧਾਂ ਨੂੰ ਦੇਖਣ-ਸਮਝਣ ਦੀ ਚੇਤਨਾ ਵੀ ਜੁਝਾਰਵਾਦੀ ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਸੰਚਾਰਿਤ ਕਰਦੀ ਹੈ:

ਚਲੋ ਯਾਰੋ ਕਿ ਹੁਣ ਇਹ ਚੌਂਕ ਛੱਡੀਏ
ਹੁਣ ਇਹ ਚੌਂਕ ਚੌਰਸਤਾ ਨਹੀਂ ਹੈ
ਹੁੰਦਾ ਸੀ
ਜਦੋਂ ਸਰਬੰਸ ਜੀਂਦਾ ਸੀ
ਜਦੋਂ ਨੀਹਾਂ 'ਚ ਪੱਥਰ ਚਿਣੇ ਜਾਇਆ ਕਰਦੇ ਸਨ
ਪੁੱਤਰ ਨਹੀਂ
ਜਦੋਂ ਸੂਲੀ 'ਤੇ ਕਾਲਾ ਚੋਰ ਚੜ੍ਹਦਾ ਸੀ,
ਸੁਰਖ ਸੂਰਜ ਨਹੀਂ।¹⁶

ਜੁਝਾਰਵਾਦੀ ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਦਾ ਵਿਚਾਰਧਾਰਕ ਆਦਰਸ਼ ਮਨੁੱਖਾਂ-ਬਰਾਬਰੀ ਉੱਤੇ ਆਧਾਰਿਤ ਸਮਾਜਿਕ-ਰਾਜਨੀਤਕ ਪ੍ਰਬੰਧ ਦੀ ਸਿਰਜਣਾ ਦਾ ਆਦਰਸ਼ ਹੈ। ਇਸ ਕਰਕੇ ਆਪਣੇ ਇਸ ਆਦਰਸ਼ ਦੀ ਪ੍ਰਾਪਤੀ ਦੇ ਮਨੋਰਥ ਲਈ ਜੁਝਾਰਵਾਦੀ ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਹਾਸ਼ੀਆਗਤ ਲੋਕਾਂ ਵਿਚ ਚੇਤਨਾ ਪੈਦਾ ਵੀ ਕਰਦੀ ਹੈ ਤੇ ਪ੍ਰਚੰਡ ਕਰਨ ਦਾ ਕਾਰਜ ਵੀ ਕਰਦੀ ਹੈ।

ਸਮਕਾਲੀ ਪੰਜਾਬੀ ਸਾਹਿਤ ਵਿਚ ਹਾਸ਼ੀਆਗਤ ਲੋਕਾਂ ਦੀ ਵੇਦਨਾ ਦਾ ਜੋ ਮਾਰਮਿਕ ਚਿੱਤਰ ਜੁਝਾਰਵਾਦੀ ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਵਿਚ ਆਪਣੀ ਪੂਰੀ ਇਤਿਹਾਸਿਕ ਪਿੱਠ-ਭੂਮੀ ਸਮੇਤ ਸਾਕਾਰ ਹੋਇਆ ਹੈ, ਉਹ ਇਸ ਧਾਰਾ ਤੋਂ ਪੂਰਬਲੀਆਂ ਧਾਰਾਵਾਂ ਵਿਚ ਨਹੀਂ ਹੋਇਆ। ਜੁਝਾਰਵਾਦੀ ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਦੇ ਕਾਵਿ-ਪਾਠ ਵਿਚ ਹਾਸ਼ੀਆਗਤ ਲੋਕਾਂ ਦੇ ਸਮਕਾਲੀ ਸਰੋਕਾਰ ਪੂਰੀ ਸ਼ਿੱਦਤ ਨਾਲ

ਚਿਤਰਿਤ ਹੁੰਦੇ ਹਨ। ਇਸ ਧਾਰਾ ਦੀ ਕਵਿਤਾ ਨੇ ਹਾਸ਼ੀਆਗਤ ਜਨ ਦੀ ਚੇਤਨਾ ਦੇ ਸਿਰਜਣ ਤੇ ਪੁਨਰ-ਸਿਰਜਣ ਦੀਆਂ ਸੰਭਾਵਨਾਵਾਂ ਨੂੰ ਵੀ ਜਾਗਰਿਤ ਕੀਤਾ ਹੈ।

ਅਸੀਂ ਆਪਣੀ ਵਿਚਾਰ- ਚਰਚਾ ਨੂੰ ਜੁਝਾਰਵਾਦੀ ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਦੇ ਚਰਚਿਤ ਕਵੀ 'ਪਾਸ਼' ਦੇ ਟੁਣਕਦੇ ਬੋਲਾਂ ਨਾਲ ਸਮਾਪਤ ਕਰਨਾ ਚਾਹਾਂਗੇ:

ਕਵੀ ਹਾਂ ਨਾ
ਮੇਰੇ ਸੀਨੇ 'ਚ ਹਰ ਇਕ ਦਿਸ਼ਾ ਪੱਛਮ ਹੈ।
ਸ਼ਬਦ ਜਦ ਕੁੱਟੇ ਹੋਏ ਤੇਰੀ ਤਕਰੀਰ ਦੇ
ਮਤਿਆਂ ਦੀ ਧੁੱਪ 'ਚ ਸੜਦੇ ਹਨ
ਮੇਰੀ ਕਵਿਤਾ ਦੀ ਛਾਂ
ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੀ ਮੌਤ ਸੰਗ ਲੜਦੀ ਹੋਈ
ਆਪਣੇ ਜੁੱਸੇ ਦੀ ਨਜ਼ਾਕਤ ਖੋਅ ਬਹਿੰਦੀ ਹੈ।

ਹਵਾਲੇ ਤੇ ਟਿੱਪਣੀਆਂ:

1. ਡਾ. ਯੋਗਰਾਜ, ਨਵੀਂ ਪੰਜਾਬੀ ਸ਼ਾਇਰੀ, ਸਮਕਾਲੀ ਸੰਦਰਭ, ਪੰਨਾ-12
2. ਗੁਰਭਜਨ ਗਿੱਲ, ਮੋਰ ਪੰਖ, ਪੰਨਾ,-13
3. ਰੁਪਿੰਦਰ ਮਾਨ, ਇਨਕਾਰ-ਸਵੀਕਾਰ, ਪੰਨਾ-43
4. ਡਾ. ਬਲਜੀਤ ਕੌਰ, ਵੀਹਵੀਂ ਸਦੀ ਦੀ ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ: ਸਰੂਪ ਤੇ ਵਿਕਾਸ, ਪੰਨਾ-1
5. ਪਾਸ਼, ਹਾਂ ਉਦੋ, ਉਡਦੇ ਬਾਜਾਂ ਮਗਰ, ਪੰਨਾ-35
6. ਲਾਲ ਸਿੰਘ ਦਿਲ, ਕਵਿਤਾ, ਨਾਗ ਲੋਕ, ਪੰਨਾ -75-76
7. ਸੰਤ ਰਾਮ ਉਦਾਸੀ, ਬੰਦਨਾ, ਚੁਨੱਕਰੀਆਂ ਸੀਖਾਂ, ਪੰਨਾ-5-6
8. ਪਾਸ਼, ਇਨਕਾਰ, ਕਾਵਿ ਭੂਮਿਕਾ, ਸਾਡੇ ਸਮਿਆਂ ਵਿਚ।
9. ਪਾਸ਼, ਬਰਸਾਤ, ਖਿਲਰੇ ਵਰਕੇ, ਪੰਨਾ-32
10. ਪਾਸ਼, ਰੋਜ਼ ਹੀ ਏਸੇ ਤਰ੍ਹਾਂ ਹੁੰਦਾ ਹੈ, ਉਡਦੇ ਬਾਜਾਂ ਮਗਰ, ਪੰਨਾ- 73-74
11. ਲਾਲ ਸਿੰਘ ਦਿਲ, ਲਾਲ ਪੂਰਬ, ਨਾਗ ਲੋਕ, ਪੰਨੇ- 65-66
12. ਬਲਜੀਤ ਕੌਰ, ਵੀਹਵੀਂ ਸਦੀ ਦੀ ਪੰਜਾਬੀ ਕਵਿਤਾ: ਸਰੂਪ ਤੇ ਵਿਕਾਸ, ਪੰਨਾ-188
13. ਦਰਸ਼ਨ ਖਟਕੜ, ਲੰਬੀ ਖੁਦਕ ਸੀ ਅਸੀਂ ਜਿਉਂਦੇ ਅਸੀਂ ਜਾਗਦੇ, ਪੰਨ- 64-65
14. ਪਾਸ਼, ਕਾਤਲ, ਲੋਹ-ਕਥਾ, ਪੰਨਾ-45-46
15. ਲਾਲ ਸਿੰਘ ਦਿਲ, ਲਾਲ ਪੂਰਬ, ਨਾਗਲੋਕ, ਪੰਨਾ-29-30
16. ਸੁਰਜੀਤ ਪਾਤਰ, ਚੌਕ ਸ਼ਹੀਦਾਂ ਵਿਚ ਉਸਦਾ ਆਖਰੀ ਭਾਸ਼ਣ, ਅਸੀਂ ਜਿਉਂਦੇ, ਅਸੀਂ ਜਾਗਦੇ, ਪੰਨਾ-106-07

ਸਵਰਨ ਚੰਦਰ ਰਚਿਤ ਨਾਵਲ 'ਕੱਖ ਕਾਨ ਤੇ ਦਰਿਆ' ਦਾ ਥੀਮਕ ਅਧਿਐਨ

ਡਾ. ਸਤਿੰਦਰ ਕੌਰ*

ਪਰਵਾਸ ਇੱਕ ਅਜਿਹਾ ਵਰਤਾਰਾ ਹੈ ਜਿਸ ਦੇ ਕਈ ਕਾਰਨ ਹੋ ਸਕਦੇ ਹਨ ਪਰ ਇਨ੍ਹਾਂ ਵਿੱਚੋਂ ਸਭ ਤੋਂ ਪ੍ਰਮੁੱਖ ਅਤੇ ਬੁਨਿਆਦੀ ਕਾਰਨ ਆਰਥਿਕਤਾ ਹੀ ਰਿਹਾ। ਜਦੋਂ ਕਿਸੇ ਵਿਅਕਤੀ ਨੂੰ ਆਪਣੇ ਦੇਸ਼ ਦੇ ਆਰਥਿਕ ਹਾਲਾਤ ਸੰਤੁਸ਼ਟ ਨਹੀਂ ਕਰਦੇ ਤਾਂ ਉਸ ਕਿਸੇ ਹੋਰ ਸਥਾਨ ਵੱਲ, ਜਿੱਥੇ ਉਸ ਨੂੰ ਵਧੇਰੇ ਕਮਾਈ ਹੋਣ ਦੀ ਆਸ ਹੁੰਦੀ ਹੈ, ਆਪਣਾ ਘਰ ਘਾਟ ਤਿਆਗ ਕੇ ਤੁਰ ਪੈਂਦਾ ਹੈ। ਪਰਵਾਸੀਆਂ ਦੇ ਜੀਵਨ ਦਾ ਇਹ ਕੌੜਾ ਸੱਚ ਹੈ ਕਿ ਇਹ ਭਾਰਤੀ/ਪੰਜਾਬੀ ਆਰਥਿਕ ਮਜ਼ਬੂਰੀਆਂ ਕਾਰਨ ਹੀ ਪਰਵਾਸੀ ਬਣੇ ਹਨ। ਕੁਝ ਲੋਕ ਰੋਜ਼ੀ-ਰੋਟੀ ਖਾਤਰ ਅਤੇ ਕੁਝ ਆਪਣਾ ਪਦਾਰਥਕ ਜੀਵਨ ਉੱਚਾ ਚੁੱਕਣ ਲਈ ਵਿਦੇਸ਼ੀ ਧਰਤੀ 'ਤੇ ਵਿਚਰਨ ਲਈ ਮਜ਼ਬੂਰ ਹੋਏ। ਪਰਵਾਸੀ ਪੰਜਾਬੀ ਨਾਵਲਾਂ ਵਿੱਚ ਪੰਜਾਬੀਆਂ ਦੀ ਅਜਿਹੀ ਸਥਿਤੀ ਦਾ ਵਰਨਣ ਆਮ ਮਿਲਦਾ ਜਾਂਦਾ ਹੈ।

ਸਵਰਨ ਚੰਦਨ 'ਨਵੇਂ ਰਿਸ਼ਤੇ', 'ਕੱਚੇ ਘਰ', 'ਕੱਖ ਕਾਨ ਤੇ ਦਰਿਆ', 'ਕਦਰਾਂ ਕੀਮਤਾਂ' ਅਤੇ 'ਸਮਾਂ' ਆਦਿ ਨਾਵਲ ਲਿਖ ਕੇ ਚਰਚਿਤ ਨਾਵਲਕਾਰ ਵਜੋਂ ਸਥਾਪਿਤ ਹੋਇਆ ਹੈ। 'ਕੱਖ ਕਾਨ ਤੇ ਦਰਿਆ' ਉਨ੍ਹਾਂ ਦਾ ਤੀਸਰਾ ਨਾਵਲ ਹੈ। ਇਹ ਨਾਵਲ 'ਚ ਇੰਗਲੈਂਡ ਵਸਦੇ ਪਰਵਾਸੀ ਪੰਜਾਬੀਆਂ ਨੂੰ ਅਨੇਕਾਂ ਸਮੱਸਿਆਵਾਂ ਨਾਲ ਸਿੱਝਣਾ ਪਿਆ ਹੈ। ਉੱਥੋਂ ਦੇ ਗੋਰੇ ਲੋਕਾਂ ਦਾ ਰਵੱਈਆ ਭਾਰਤੀਆਂ ਉਨ੍ਹਾਂ ਪ੍ਰਤੀ ਨਫ਼ਰਤ ਵਾਲਾ ਰਿਹਾ ਹੈ। ਇੰਗਲੈਂਡ ਦੇ ਪੱਛਮੀ ਸਭਿਆਚਾਰ ਵਿੱਚ ਪ੍ਰਵਾਸੀਆਂ ਨੂੰ ਭਿੰਨ-ਭਿੰਨ ਪੱਧਰਾਂ 'ਤੇ ਤਣਾਉ ਭੋਗਣਾ ਪਿਆ ਹੈ।

ਪੱਛਮੀ ਰਹਿਤਲ ਨਾਲ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੀ ਜ਼ਿੰਦਗੀ ਭਿੰਨ-ਭਿੰਨ ਪੱਧਰਾਂ 'ਤੇ ਟਕਰਾਉਂਦੀ ਹੈ। ਕੁਝ ਪਰਵਾਸੀ ਪੰਜਾਬੀ ਆਪਣੀ ਅਣਖ ਕਰਕੇ ਉੱਥੋਂ ਦੇ ਸਿਸਟਮ ਵਿੱਚ ਭਿੰਜ ਨਹੀਂ ਸਕਦੇ ਅਤੇ ਕੁਝ ਸਥਿਤੀਆਂ ਨਾਲ ਸਮਝੌਤਾ ਕਰਕੇ ਗੁਜ਼ਾਰਾ ਕਰ ਲੈਂਦੇ ਹਨ। ਆਪਣੇ ਸਭਿਆਚਾਰ ਪ੍ਰਤੀ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਮਨ ਅੰਦਰ ਮੋਹ ਵੀ ਜਾਗਦਾ ਹੈ। ਇਹ ਨਵੇਂ ਸਭਿਆਚਾਰ ਨੂੰ ਅਪਣਾਉਣਾ ਵੀ ਚਾਹੁੰਦੇ ਹਨ ਅਤੇ ਪੁਰਾਣੇ ਨੂੰ ਛੱਡਣਾ ਵੀ ਨਹੀਂ ਚਾਹੁੰਦੇ ਹਨ। 'ਕੱਖ ਕਾਨ ਤੇ ਦਰਿਆ' ਨਾਵਲ ਵਿੱਚ ਵੀ ਇਸੇ ਸਭਿਆਚਾਰਕ ਸੰਕਟ ਨੂੰ ਪੇਸ਼ ਕੀਤਾ ਗਿਆ ਹੈ। ਬੇਗਾਨੇ ਮੁਲਕ ਵਿੱਚ ਧਨ ਦੀ ਵਧੇਰੇ ਲਾਲਸਾ, ਉਨ੍ਹਾਂ ਲਈ ਘੋਰ ਦੁਖਾਂਤ ਬਣ ਜਾਂਦੀ ਹੈ। ਪਿੰਡਾਂ/ਕਸਬਿਆਂ ਵਿੱਚੋਂ ਉੱਠ ਕੇ ਰੋਜ਼ੀ-ਰੋਟੀ ਖਾਤਰ ਇੰਗਲੈਂਡ ਪਹੁੰਚੇ ਪੰਜਾਬੀਆਂ ਦੀ ਤ੍ਰਾਸਦੀ ਨੂੰ ਇਹ ਨਾਵਲ ਸਫਲਤਾਪੂਰਵਕ ਢੰਗ ਨਾਲ ਪੇਸ਼ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਇਨ੍ਹਾਂ ਪਰਵਾਸੀ ਪੰਜਾਬੀਆਂ ਦੇ ਬੱਚਿਆਂ ਨੂੰ ਸਕੂਲਾਂ ਵਿੱਚ ਨਸਲੀ ਵਿਤਕਰੇ ਦਾ ਸਾਹਮਣਾ ਕਰਨਾ ਪੈਂਦਾ ਹੈ। ਬੱਚਿਆਂ ਦੀ ਅਜਿਹੀ ਦੁਰਗਤੀ ਤੋਂ ਮਾਪੇ ਅਣਜਾਣ ਹੁੰਦੇ ਹਨ। ਮਾਪਿਆਂ ਨੂੰ ਘਰਾਂ ਤੋਂ ਬਾਹਰ ਕੰਮ ਕਰਨ ਵਾਲੀਆਂ ਥਾਵਾਂ 'ਤੇ ਵੱਖਰੀ ਕਿਸਮ ਦਾ ਤਣਾਉ ਹੰਢਾਉਣਾ ਪੈਂਦਾ ਹੈ।

ਇਸ ਨਾਲ ਦੀ ਪਾਤਰ 'ਐਮਾ' ਜਿਸ ਦਾ ਲੰਡਨ ਆਉਣ ਤੋਂ ਪਹਿਲਾਂ ਨਾਂ ਅਮਰਜੀਤ ਸੀ। ਮਾਪਿਆਂ ਲਈ ਉਹ ਅੰਬੋ ਸੀ। ਵਿਦੇਸ਼ਾਂ ਵਿੱਚ ਪਹੁੰਚਦਿਆਂ ਹੀ ਪੰਜਾਬੀ ਆਪਣੇ ਬੱਚਿਆਂ ਦੇ ਨਾਮ ਅੰਗਰੇਜ਼ੀ ਢੰਗ ਦੇ ਰੱਖ ਲੈਂਦੇ ਹਨ, ਤਾਂ ਜੋ ਉਨ੍ਹਾਂ (ਗੋਰੇ) ਲੋਕਾਂ ਨੂੰ ਸੌਖ ਰਹੇ। ਸਕੂਲ ਵਿੱਚ ਐਮਾ ਨੂੰ ਨਸਲੀ ਵਿਤਕਰੇ ਕਰਕੇ ਕਈ ਨਾਵਾਂ-ਕੁਨਾਵਾਂ ਨਾਲ ਬੁਲਾਇਆ ਜਾਂਦਾ ਸੀ, ਨਾ ਹੀ ਇੱਥੋਂ ਦੇ ਮੁਲਕ ਦੀ ਪੜ੍ਹਾਈ ਐਮਾ ਦੀ ਸਮਝ ਵਿੱਚ ਆਉਂਦੀ। ਐਮਾ ਨੂੰ ਅੰਗਰੇਜ਼ੀ ਦਾ ਅਭਿਆਸ ਨਾ ਹੋਣ ਕਾਰਨ ਕਈ ਮੁਸ਼ਕਿਲਾਂ ਦਾ ਸਾਹਮਣਾ ਕਰਨਾ ਪਿਆ:

ਮੇਰਾ ਸਵੈ-ਵਿਸ਼ਵਾਸ ਹੀ ਹੱਥੋਂ ਤਿਲਕਦਾ ਜਾ ਰਿਹਾ ਸੀ। ਕੋਈ ਵੀ ਗੱਲ ਕਰਨ ਲੱਗਿਆਂ ਮੈਨੂੰ ਯਕੀਨ ਨਾ ਹੁੰਦਾ ਕਿ ਉਹ ਠੀਕ ਸੀ ਜਾਂ ਗਲਤ। ਔਕੜਾਂ ਸਮੇਂ ਉਹਦੀ ਆਪਣੀ ਭਾਸ਼ਾ ਪੰਜਾਬੀ ਨੇ ਹੀ ਉਹਦਾ ਸਾਥ ਦਿੱਤਾ ਸੀ।¹

ਐਮਾ ਦੇ ਮਾਪੇ ਇੰਗਲੈਂਡ ਆਉਣ ਸਾਰ ਮਨ 'ਚ ਇੱਕ ਭਰਮ ਪਾਲ ਲੈਂਦੇ ਹਨ ਕਿ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੀਆਂ ਜੜ੍ਹਾਂ ਲਾਉਣ ਵਾਸਤੇ ਇੱਥੇ ਆਪਣਾ ਘਰ ਲੈਣਾ ਬਹੁਤ ਜ਼ਰੂਰੀ ਹੈ। ਇਸ ਘਰ ਨੂੰ ਖਰੀਦਣ ਲਈ 'ਐਮਾ' ਨੂੰ ਬਲੀਦਾਨ ਦੇਣਾ ਪੈਂਦਾ ਹੈ। ਐਮਾ ਦਾ ਪਿਤਾ ਧੀ ਕੋਲੋਂ ਵੱਧ ਤੋਂ ਵੱਧ ਪੈਸਾ ਵਸੂਲਣਾ ਚਾਹੁੰਦਾ ਸੀ, ਤਾਂ ਜੋ ਇੰਗਲੈਂਡ ਵਿੱਚ ਐਸ਼ ਇਸ਼ਰਤ ਦੀ ਜ਼ਿੰਦਗੀ ਬਤੀਤ ਕਰ ਸਕੇ।

ਮਕਾਨ ਦੀ ਕਿਸ਼ਤ ਤਾਂ ਏਨੀ ਸੀ ਕਿ ਮਾਂ-ਪਿਉ ਦੋਹਾਂ ਦੀ ਆਮਦਨ ਨਾਲ ਵੀ ਪੂਰੀ ਨਹੀਂ ਸੀ ਹੁੰਦੀ। ਮਾਪਿਆਂ ਵਿਚਕਾਰ ਇਸ

*ਅਸਿਸਟੈਂਟ ਪ੍ਰੋਫੈਸਰ, ਪੰਜਾਬੀ ਵਿਭਾਗ, ਜੀ.ਐਚ.ਜੀ. ਖਾਲਸਾ ਕਾਲਜ, ਗੁਰੂਸਰ ਸੁਧਾਰ

ਗੱਲ ਬਦਲੇ ਝਗੜਾ ਹੋ ਜਾਂਦਾ ਅਤੇ ਘਰ 'ਚ ਤਣਾਉ ਵਧਣ ਲੱਗਦਾ। ਐਮਾ ਦਾ ਪਿਤਾ ਇੱਕ ਦਿਨ ਐਮਾ ਨੂੰ ਖਿੜ ਕੇ ਕਹਿੰਦਾ ਹੈ:

ਤੂੰ ਕਿਤੇ ਕੰਮ ਵੀ ਕਰੇਂਗੀ ਕਿ ਐਂਵੇ ਵੇਹਲੀ ਲੰਡੋਰ ਈ ਫਿਰੇਂਗੀ।^੧

ਐਮਾ ਨੇ ਫੈਕਟਰੀਆਂ ਵਿੱਚ ਅਰਜ਼ੀਆਂ ਦਿੱਤੀਆਂ। ਕੌਮੀ ਪੱਧਰ ਦੇ ਆਰਥਿਕ ਮੰਦਵਾੜੇ ਨੇ ਐਮਾ ਦੀ ਨੌਕਰੀ ਖੋਹ ਲਈ। ਪਿਤਾ ਦੀਆਂ ਗੱਲਾਂ ਨੇ ਉਸ ਦਾ ਅੰਦਰਲਾ ਵਲੂੰਧਰ ਦਿੱਤਾ ਸੀ। ਉਸ ਨੇ ਦ੍ਰਿੜ ਨਿਸ਼ਚਾ ਕਰ ਲਿਆ ਸੀ:

ਮੈਂ ਬਾਪੂ ਦੀ ਕਮਾਉ ਧੀ ਬਣਕੇ ਵਖਾਉਣਾ ਤੇ ਅਗਲੀ ਹੀ ਸਵੇਰ ਐਮਾ ਨੇ ਕਮਾਈ ਦੀ ਤਲਾਸ਼ ਵਿੱਚ ਫਾਰਮਾਂ ਵੱਲ ਰੁਖ ਕੀਤਾ। ਹਰ ਕਿਸੇ ਨੂੰ ਐਮਾ ਦੇ ਜਿਸਮ ਦੀ ਤਲਬ ਸੀ, ਉਹ ਚਾਹੁਣ ਵਾਲਿਆਂ ਦੀ ਤਲਬ ਠੰਢਾ ਕਰਦੀ। ਕਦੀ ਮਾਡਲ ਬਣ ਕੇ। ਕਦੀ ਬਲਯੂ ਫਿਲਮਾਂ 'ਚ ਕੰਮ ਕਰਕੇ ਤੇ ਕਦੀ ਅਰਬਾਂ ਨਾਲ ਰਾਤਾਂ ਗੁਜ਼ਾਰ ਕੇ, ਉਹ ਖੂਬ ਕਮਾਈ ਕਰ ਰਹੀ ਸੀ। ਐਮਾ ਦੇ ਗਾਹਕ ਖੁਸ਼ ਸਨ, ਪਰ ਉਸਦਾ ਅੰਦਰਲਾ ਰਾਜ਼ੀ ਨਹੀਂ ਸੀ। ਐਮਾ ਨੇ ਵਿਕਣਾ ਕਬੂਲ ਕੀਤਾ, ਕਾਹਦੇ ਲਈ? ਤਾਂ ਜੋ ਧਰਮੀ ਬਾਬਲ ਪੈਸਿਆਂ ਤੋਂ ਭੁੱਖਾ ਨਾ ਰਹੇ।^੨

ਐਮਾ ਦੇ ਦਿਲ ਦੀ ਹਾਲਤ ਨੂੰ ਉਸ ਦੇ ਮਾਪੇ ਜਾਣਨ ਦੀ ਕੋਸ਼ਿਸ਼ ਹੀ ਨਹੀਂ ਕਰਦੇ। ਇਸੇ ਲਈ ਐਮਾ ਵੀ ਇਹ ਧੰਦਾ ਚੁੱਪਚਾਪ ਕਰੀ ਜਾ ਰਹੀ ਹੈ, ਕਿਉਂਕਿ ਉਸ ਨੂੰ ਪਤਾ ਹੈ ਕਿ ਉਸ ਦਾ ਬਾਪ, ਉਸ ਦੀ ਕੋਈ ਗੱਲ ਸੁਣਨ ਨੂੰ ਤਿਆਰ ਨਹੀਂ। ਕਦੀ-ਕਦੀ ਉਹ ਉੱਚ-ਉੱਚੀ ਰੋਂਦੀ ਕਰਲਾਉਂਦੀ ਰਹਿੰਦੀ:

ਧੀਆਂ ਹੁੰਦੀਆਂ ਈ ਕਿਹੜੇ ਕੰਮ ਨੂੰ? ਬਾਪ ਦੀ ਪੱਗ ਬਚਾਉਣ ਲਈ, ਦਾਗ ਭਾਵੇਂ ਲੱਗ ਜਾਣ, ਪਰ ਸਿਰ ਤੋਂ ਨਾ ਡਿੱਗੇ।^੩

ਐਮਾ ਪੱਛਮੀ ਰਹਿਣੀ-ਬਹਿਣੀ ਵਿੱਚ ਏਨੀ ਮਸਤ ਹੈ ਕਿ ਉਹ ਹੁਣ ਪੰਜਾਬੀ ਬੋਲੀ, ਪੰਜਾਬੀ ਵਿਰਸਾ ਭੁੱਲਦੀ ਜਾ ਰਹੀ ਹੈ। ਉਹ ਮਾਡਲਿੰਗ ਦੌਰਾਨ ਬਣੀ ਸਹੇਲੀ ਕੈਰਲ ਨੂੰ ਸੱਚ ਦਸਦੀ ਹੋਈ ਕਹਿੰਦੀ ਹੈ:

ਇਹ ਮੰਨਣ ਵਿੱਚ ਵੀ ਮੈਨੂੰ ਗੁਰੇਜ਼ ਨਹੀਂ ਕਿ ਮੈਂ ਹੌਲੀ-ਹੌਲੀ ਦੇਸੀ ਸਭਿਅਤਾ ਦਾ ਅਸਰ ਤਿਆਗਦੀ ਜਾ ਰਹੀ ਸਾਂ।^੪

ਇੰਗਲੈਂਡ ਦੇ ਸਿਸਟਮ 'ਚ ਫਿੱਟ ਹੋਣ ਲਈ ਦੇਸੀ ਸਭਿਅਤਾ ਨੂੰ ਤਿਆਗਣ ਵੀ ਜ਼ਰੂਰੀ ਹੈ। ਉਸ ਨੇ ਆਪਣੇ ਆਮ ਨੂੰ ਵੇਚ ਕੇ ਮਾਪਿਆ ਦਾ ਘਰ, ਖਾਸ ਤੌਰ 'ਤੇ ਪਿਤਾ ਦੀ ਪੈਸੇ ਦੀ ਭੁੱਖ ਨੂੰ ਤਾਂ ਪੂਰਾ ਕਰ ਦਿੱਤਾ, ਪਰ ਆਪਣੀ ਹੋਂਦ ਨੂੰ ਕਬਰ ਵਿੱਚ ਪਈ ਲਾਸ਼ ਸਮਝਦੀ ਹੈ:

ਤੇ ਮੇਰੀ ਮਾਂ ਅਗਲੇ ਬੁੱਧਵਾਰ ਆ ਰਹੀ ਹੈ। ਮੈਨੂੰ ਨਰਕ 'ਚੋਂ ਕੱਢਣ ਲਈ। ਮੇਰੀ ਮਈਅਤ ਨੂੰ ਇਸ ਕਬਰ 'ਚੋਂ ਕੱਢ ਕੇ ਸ਼ਾਇਦ ਗੰਗਾ ਪਰਵਾਹ ਕਰਨ ਲਈ।^੫

ਪੱਛਮੀ ਦੇਸ਼ ਵਿੱਚ ਪੈਸਾ ਮਨੁੱਖ ਨੂੰ ਦਿਨੋ-ਦਿਨ ਨਿਗਲ ਰਿਹਾ। ਮਨੁੱਖ ਕਦਰਾਂ ਕੀਮਤਾਂ ਦਾ ਘਾਣ ਹੋ ਰਿਹਾ ਹੈ। ਮਾਪੇ ਸੁਆਰਥੀ ਹੋ ਕੇ ਆਪਣੇ ਹੀ ਬੱਚਿਆਂ ਦਾ ਖੂਨ ਚੂਸਦੇ ਹਨ। ਭਾਰਤੀਆਂ ਦੀ ਅਜਿਹੀ ਸੋਚ ਪੂੰਜੀਵਾਦੀ ਮੁਲਕ ਦੀ ਦੇਣ ਹੈ। ਨਾਵਲ ਵਿੱਚ ਇੰਗਲੈਂਡ ਦਰਿਆ ਦੇ ਸਮਾਨ ਦਿਖਾਇਆ ਗਿਆ ਹੈ, ਜਿੱਥੇ ਭਾਰਤੀਆਂ/ ਪੰਜਾਬੀਆਂ ਦੀਆਂ ਐਮਾ ਵਰਗੀਆਂ ਧੀਆਂ ਕੱਖਾਂ ਕਾਨ ਵਾਂਗ ਇਸ ਦਰਿਆ ਦੀ ਭੇਟ ਚੜ੍ਹ ਜਾਂਦੀਆਂ ਹਨ।

ਹਵਾਲੇ ਅਤੇ ਟਿੱਪਣੀਆਂ:

1. ਸਵਰਨ ਚੰਦਨ, ਕੱਖ ਕਾਨ ਤੇ ਦਰਿਆ, ਪੰਨਾ 50, 53
2. ਉਹੀ, ਪੰਨਾ 123
3. ਉਹੀ, ਪੰਨਾ 125, 130, 146, 152
4. ਉਹੀ, ਪੰਨਾ 131
5. ਉਹੀ, ਪੰਨਾ 28
6. ਉਹੀ, ਪੰਨਾ 162

(dis)locating human: A Rupture in Cognition and the future of Humanities

Dr. Karan Singh*

Abstract

This paper attempts to dislocate 'human' from the discourse of humanities through its questioning of the centeredness of human element within the scope, definition and future of humanities. For it some eclectically chosen insights from postmodernism and animism are used here as a platform from which humanities as a discipline is investigated in its historical development through enlightenment and liberalism. Humanism as a genus of rationality, freedom and progress in its dependence on a particular concept of reality, lies open to the charge of presenting a linear and simplistic view of mankind and its pursuits. What becomes a fatality in the process is the composite nature of reality with its attendant contingency and complexity. The present discussion also attempts to chart out a vision of future for humanities in the light of foregone assessments, reconfigurations and observations.

Key words: Humanism, folklores, animism, postmodernism.

I

The first reference to *humanitas* as a study of liberal arts such as philosophy, rhetoric, poetry etc. is found in Aulus Gellius (c. 125– c. 180), a Latin scholar who complains of the word as being used by men of letters to designate liberal studies instead of its general use in delineating attributes of fellow feeling in the society. 'Humanity', in its use as attribution of oppositional logos to 'beastliness', shares with its antithesis patterns of group behaviour and thus assumes a contested space wherein its exclusivity claims are counter balanced by nuances of common ancestry. A resistance to creation of 'humanities' as a presence can be seen not only in the existence of its alter ego but also in the Saussurean value of the term which connotes attributes of pack behaviour in homo-sapiens. Humanities in its sense of human's (or man's?) situatedness echoes Biblical injunction regarding primacy of human material over non-human one:

“And God said, Let us make man in our image, after our likeness: and let them have dominion over the fish of the sea, and over the fowl of the air, and over the cattle, and over all the earth, and over every creeping thing that creepeth upon the earth.

So God created man in his own image, in the image of God created he him; male and female created he them.

And God blessed them, and God said unto them, Be fruitful, and multiply, and replenish the earth, and subdue it” (Genesis 1.26-28).

*Associate Prof., PG Dept. of English, Govt. College, Mahendergarh, Haryana.

Without inviting essentialism, it can be argued that the attributes of many 'primitive' religions towards empirical reality had been more polyphonic and multi-layered. The anthropomorphism of these cults which was seen by early anthropologists such as Edward Taylor an attribution of human characteristics to an essentially abstract principle and thus becoming uncouth and primitive, can be counter argued as representation through symbolic threads the oneness of human and non-human thus effectively dislocating the singularity of human and by implication subverting prioritizing of spirit over matter. This idea has its further natural corollary in the assertion that the impulse towards organization which revealed itself in organised religions was ontologically a misrepresentation of an amorphous mass of contesting images.

Historically, among other causes the development of Humanities as a conglomeration of diverse disciplines was made possible by two major interrelated impulses within the European political, philosophical system of thought. The first initiation was the rise of Enlightenment in Europe with its attendant scientific and rational spirit due to obvious Greco-roman influence. While the enlightenment ideas were happily embraced by rising bourgeois class which was the chief beneficiary of industrialization and scientific 'progress', the historically dominant aristocratic class, whose entrenched position was threatened with the rising tide of science and industry, ensconced itself within liberal ideas enshrined in the studies of humanities. The rampant overgrowth of scientism which penetrated to every nook and corner of European society in 17th century was already making these entrenched guardians of culture uncomfortable and made them hail humanities as a structure of universal values and 'dispassionate' pursuit of knowledge. With its secular counterpart, in theology the 'personal god' philosophy of Protestantism led to understanding of God through personal intervention and human concerns. In a way both these streams viz. Enlightenment as rational, secular movement and Protestantism as its religious corollary contributed to the same impact on the development of human knowledge. The complexity, obscurity and boundary-resistant definition of human knowledge paved way to the rationality, clarity and neat categorization under these influences. The rise of Enlightenment and its revelation in the branches of humanities rejected middle ages as dark ages, unworthy of emulation and championed its own vision of historiography and progress. It can be a matter of contestation how much the view of neo-classicists towards their original forefathers was a projection of their own needs since Greco-roman civilization was a very complex culture within which human and non-human are often found in close proximities. Erich Auerbach's comparison of representations by Homer in *Odyssey* with that of narrative style used in *Old Testament* is revealing in sketching the direction European realism/naturalism took in later ages: "The two styles, in their opposition, represent basic types: on the one hand fully externalised description, uniform illumination, uninterrupted connection, free expression, all events in the foreground, displaying unmistakable meanings, few elements of historical development and of psychological perspective; on the other hand, certain parts brought into high relief, others left obscure, abruptness, suggestive influence of the unexpressed, "background" quality, multiplicity of meanings and the need for interpretation, universal-historical claims, development of the concept of the historically becoming, and preoccupation with the

problematic” (Leitch 1046). While the Biblical style, the critic seems to argue, wanders and mystifies, thus making for thick description, a portraiture; Homer’s narration presents a photographic realism where every detail becomes vivid and is foregrounded.

Humanistic studies situate man as the focal point of empirical reality which is largely seen as perception and sense based and ignore the contingent mass of unrelated phenomenon which surrounds him. The impenetrable mass of floating simulacra without any obvious pattern and causes is relegated to non-existence and as pattern seeking animals human beings are encouraged to search pattern and causes in them. The result of conscious demystification and foregrounding of sensory experiences by human sciences was that the idea of composite nature of human existence, wherein unpredictability and irrationality in human psyche are its inalienable part, was sacrificed at the altar of structural and cognitive. This pattern seeking conscience in making our existence bearable through vision of form and pattern created rigid boundaries between human and animal, human and non-human as well as between different disciplines of knowledge. In its search for absolutes, what was forgotten was that this imposition of form is a treacherous and self deluding exercise with its base resting on nothing substantial.

Animism as an essential feature of most of pagan religions poses a challenge to above discussed human centric conception of universe. Animism finds connection between human and non-human world through its presentation of this universe as a composite one in which human beings are just one element out of many. A too much emphasis on human truth seeks to cloud and obscure the complexities of the inherent connection between human, superhuman, animal and natural world. To see everything from a human point of view is to see only a part of the reality which hides and makes obscure more than it seeks to reveal. Nietzsche’s presentation of human truth as fundamentally unstable originates from his acceptance of incongruity between the thing, its sensory perception and its metaphoric transformation by human beings. These corresponding metaphors and metonyms congeal into what is termed as reality through repetition and pattern seeking consciousness of human beings: “Everything which distinguishes man from the animals depends upon this ability to volatilize perceptual metaphors in a schema and thus to dissolve an image into a concept” (Nietzsche 892). At the center of this perception lies man who is the creator as well created being making “the entire universe as the infinitely fractured echo of one original sound—man; the entire universe as the infinitely multiplied copy of one original picture—man” (Nietzsche, *On Truth* 893). The truth of reality does not lie in any a priori transcendental claim, rather it can be found only within “the petrification and coagulation of a mass of images which originally streamed from the primal faculty of human imagination like a fiery liquid, only in the invincible faith this sun, this window, this table is a truth in itself” (Nietzsche, *On Truth* 893). Due to incongruity of human sense faculties with the otherness of things, there can be only multiple perspectives between human and non-human material without any connection:

It is even a difficult thing for him to admit to himself that the insect or the bird perceives an entirely different world from the one that man does, and that the question of which of these perceptions of the world is more correct one is quite meaningless, for this would have to have been decided previously in accordance with the criterion of the correct perception, which means, in accordance with a criterion which is not available” (Nietzsche, On Truth 893)

Derrida’s discussion of the gaze of cat which makes him pose a fundamental question of ‘who am I’ is predicated upon the conception of animals as representing an otherness only through which a sense of human identity develops. The gaze of an animal while bestowing upon us an identity also strips and questions the cultural paraphernalia with which human beings distinguish themselves from other fellow animals and reveals his/her fundamental ‘bestiality’:

As with every bottomless gaze, as with the eyes of the other, the gaze called animal offers to my sight the abyssal limit of the human: the inhuman or the ahuman, the ends of man, that is to say the border crossing from which vantage man dares to announce himself to himself, thereby calling himself by the name that he believes he gives himself. And in these moments of nakedness, under the gaze of the animal, everything can happen to me, I am like a child ready for the apocalypse, *I am (following) the apocalypse itself* [je suis l’apocalypse même], that is to say the ultimate and first event of the end, the unveiling and the verdict. (Derrida 381)

When counterpoised against Lacan’s conception of imaginary and symbolic order it reveals Lacan’s anthropocentric understanding of an unbridgeable gap between humans and animals. Lacan reconfirmed hierarchy between humans and non-humans through his understanding of mirror stage as a positive development towards recognition of self from its earlier stage of undifferentiated existence. The disjunction which sought to affirm human superiority over other forms of life, accentuated itself with the rise of enlightenment with its celebration of human rationality as the prime faculty of human distinction and creation of a self-enclosed world. Animism, which in its earlier definitions saw human development in the form of a ladder with animals at the lowest rung and monotheistic religion, particularly Christianity, at the pinnacle, was instrumental in keeping everything which was to deal with interaction between human and non-human as a sign of superstition and a childish behaviour. The result was that folk narratives and tribal belief system was pushed to the periphery while cultured and genteel representations took the center stage. The exclusivity and abstruseness of human perspective was championed as a cultural sign and the alibi of senses became supreme with what cannot be perceived being relegated to the realm of not existing. Despite its neglect by hegemonic Eurocentric representations, paranormal and extra-sensical continued to exist at the side-show in the form of fantasy genre, in ghost-stories and particularly in folk narratives.

II

Postmodernism as a concerted movement of diverse impulses in various fields questioned some of the basic assumptions of humanism through its subversion of universalistic tendencies inherent in it and criticised metanarratives as essentially a drive towards totalitarianism and homogenization. Since humanism champions reason and rationality as tools of human advancement, the critique of humanism by postmoderns was in tandem with their indictment of enlightenment which was alleged to have championed exclusivity in the name of progress and historical development. Postmodernism revealed that in its search for human progress and development, what humanism advocated was the ethnocentric ideas and ideals. It is pertinent to mention in this connection that the rise of humanism is coupled historically with the expansion of imperialism and slavery which gave truth to the claims of postmodernist writers that the advocacy of humanism was a sham and a ploy for justification of European expansion into Asia and Africa. The value and knowledge system championed in the name of humanities were heavily tilted against native traditions and beliefs which were considered superstitious and an obstacle against progress of humanistic ideals.

The water-tight separation between science and humanities as a creation of enlightenment sought to straightjacket human experiential knowledge into exclusive compartments. As the aim of humanism in alliance with Enlightenment was to develop “universal morality and law, and autonomous art according to their own inner logic.” (Habermas 9) the dialectic between diverse disciplines of art and science created artificial boundaries based on cognitive and imaginative faculties and rejected inseparability of Science, Ethics and Arts. Under postmodernism the possibility of an objective Science based on laws of an independent existing reality were severally interrogated along with the acceptability of universal and rational ethical principles. Any attempt to separate the aesthetics of art from realms of science, ethics or culture has been ruled as self-defeating as even scientific knowledge is seen as fictional because there are no ‘objective’ facts. Descartes’ rejection of Reason in individual subjectivity is based on the premise that subjectivity is itself constructed out of historically variable rational operations. Nietzsche’s criticism of metaphysics who said that “there is only a perspectival knowing” (Nietzsche, Genealogy 3) while championing perspectivism and difference denies the possibility of grand narratives in which knowledge and ethics can be safely situated. Postmodern critics like Lyotard refuted the idea that there is some ‘reality’ to which the concepts refer, for them the concepts construct and produce the very reality they try to describe. The contemporary critical thinking prefers performance and rhetoric over intrinsic or universal truth while moving towards models based on dissensus instead of consensus. For Jean Baudrillard, Post-modernism is a hyperinflation of the aesthetics because artifice is at the very heart of reality and Post-modern critics, led by Michael Foucault, blamed Enlightenment and by implication its ally humanism guilty of totalitarian impulses. Foucault’s criticism of humanism which seeks to see ‘man’ as a coherent and repository of meaning is allied with his positioning of the role of author in literature.

He highlighted “the historical contingency of the belief that we are ‘individuals’ with unique natures, possessing coherent interior identities, motives, desires and conscious intensions that cause our actions. Humanism claims for each individual the capacities that literary criticism ascribes to authors” (Leitch 1470). The destruction of self which designated French poststructuralism as ‘antihumanistic’ underlined a need to explore relationship between knowledge and power which is responsible for creating subject positions within social structures. Foucault, with his incisive awareness of the existence of oppositional space as a genuine one, articulated a need to reevaluate the ideas and ideals championed by humanism. He made modern man aware of the fragility of structural existence, and sensitised present generation about the existence of ghosts within the castle of structural existence making reality a facade and human chimera.

The sacrifice of ‘otherness’ at the altar of pragmatic, empirical postionality by humanists led to veneration of cognitive impulses which are basically metonymic. The fractured vision of life and universe which focused on the given version of reality, making it sense-based and definite catered to structural schemata. It revered codification in place of fluid and transitional. With its creation of binaries, what became unavailable was the ‘becoming’ moment, the luminal period which sought to defy it. As against the fixity of man-centered universe, what Foucault and other critics pointed out was the subjugation of oppositional other at the deification of the logos.

Freedom, when seen against the location of man within the ontological uncertainty of universe, also becomes problematic concept. Human beings are viewed as surrounded by opaque matter which resists all attempts at classification and separation. Thus freedom loses much of its value as a cherished goal within human position which itself becomes a contested one. Iris Murdoch aptly voices these doubts over the signification of liberty in human existence: “That rag freedom! Freedom may be value in politics, but it’s not a value in morals. Truth yes. But not freedom. That’s a flimsy idea, like happiness. In morals we are all prisoners, but the name of our cure is not freedom” (Murdoch 97).

If incarceration is primordial metaphysical condition of human beings, hybridity is perhaps the only destiny they can claim. Dora Haraway’s reflections on cyborg as a combination of the organic and the inorganic, science and art, fictionality and fact indicated a critique of humanism since cyborg is “a cybernetic organism, a hybrid of machine and organism, a creature of social reality as well as a creature of fiction.” It is a creature of post gender world without oedipal complexes, Marxian qualms of labour, dualisms of mind and body or consciousness and cosmos. Cyborg in this sense becomes a hybrid organism, a meeting ground for postmodernism and post-humanism since it is science as well as art, machine as well as human: “The cyborg offers a different kind of radical fictionality: that there is no truth to discover, no unitary consciousness to which we might return: there is only endless fictiionality, endless construction of shifting subjectivities, technological productiveness, only as absolute condition of Uncertainty” (Waugh 354). Cyborg with its suggestions of multiple and floating subjectivities effectively reads against self-contained universe of humanism.

III

Humanism's advocacy of a truncated idea of reality was taken over by humanities in its subsequent systematic development as a branch of study. This idea of reality derived its power from an oppositional structure of mythical, mystical and religious against which it assumed a positive value. With man firmly implanted at the center, who traversed through liberal values of democracy, rationality and freedom, modern man aspired to delineate a progression through an endless epoch from slavery to freedom, savagery to enlightenment and bewildering chaos to order and structural. Driven by political power and greedy of acquisition, the enlightened mind relegated everything 'different' into recesses of ignorance and primitive. This triumphant march of 'mankind', situated only in selected continents and realised in certain races as well as typified by gender, was hailed by many modern thinkers and philosophers a breaking dawn for humanity. What were unceremoniously and surreptitiously thrown in dusty corners of history were the atrocities and pogroms in the name of ideals of humanism. To say that it was done is not so destabilizing as the fact that it was done with all the conviction of a good intent by the imperialists of knowledge who believed with all the force of moral argument that they were the visionaries of a new age. It required the wholesale massacre of world wars coupled with the natural fatigue of these ideals, which made thinkers revision the short-sightedness of humanistic ideals. The environmental degradation which raised the spectre of annihilation in the complacent minds forced modern man to revisit some of the dominant ideas connected with humanism and made critics and thinkers realize that the idea of human centrality would have to be demystified by shifting attention to corners where other realities lie stifled and muted. It would be worthwhile to explore the co-existence of human and non-human world in their mutual dependencies as well as contradictions by qualifying study of human within the complexities of our organic existence in concurrence with other species. It would not only reinforce the ecological vision, but also make us see the channels which pass undetected through the boundaries of value and knowledge.

In the context of foregone discussion on postmodern's questioning of the continued relevance of humanism which is located in absolutists notions, insistence on human knowledge and rejection of a whole gamut of experiences, the future of humanities in the contemporary world would rely upon the direction it takes in the present era. Would it continue to tread the old path, which means imitating truncated views on knowledge, value and culture? Would it continue to sing panegyrics to the system of beliefs which originated within the parameters of a historically bounded socio-cultural-economic system and which were projected as universal categories? The future of Humanities would depend upon the ossification of knowledge within/without the disciplines as well as cultural boundaries. A reconfiguration of disciplines is pertinent to the continued relevance of humanities and a way out can follow only by making humanities porous and complementary.

The interpenetration of disciplines, not the intermingling of them, would have to be the future recourse of humanities. The insights borrowed from various domains of human knowledge must be interspersed and not seen as a collation of isolated islands of knowledge system. Further, the

boundary line between knowledge and belief need to be redrawn and remapped. Whatever is customary in one epistemological system may be exclusive in other one and a whole epistemology of folk and tribal belief system needs to be tapped, not as an archaic system of beliefs and values but as an alive and throbbing ontological and epistemological set situated in its local environment. Along with it the myriad potentialities of diverse faiths need to be explored in conjunction with cognitive accomplishments of mind. The dethroning of humanity from its exclusive seat of investigation might shift us close to finding answers for many ecological dilemmas as it would be naive to see ecological disorders in contemporary world as specifically economic and industrial problems. The impulse to centralize human concerns, as available in modern historiography, with its attendant image of humanity as a guzzler of natural resources has been chiefly responsible for the mass extinction of multiple organisms and creation of homo-sapiens centered universe. A movement towards making human beings a part of biological schemata of the universe, without assigning domination and power to him, would be to realise true spirit of democracy. For envisioning a meaningful future for humanities, a rupture in cognitive hegemony is necessitated along with a return to the view of our universe as multilayered and contradictory. For it 'man' must not occupy the only fit object for the study of mankind but a part of the canvas, as an adjunct disappearing at the margins of the stage which is larger than what his petty existence can claim to understand.

Works Cited:

- Derrida, Jacques. "The Animal That Therefore I Am." Trans. David Wills. *Critical Inquiry*. 28. 4 (2002): 369–418.
- 'Genesis.' *The Holy Bible. King James Version*. New York: Ivy Books, 1991.
- Habermas, J. "Modernity v. Postmodernity." *New German Critique*. 22 (1981): 9.
- Leitch, Vincet B., ed. *The Norton Anthology of Theory and Criticism*. New York: W.W. Norton and Company, 2010.
- Murdoch, Iris. *The Unicorn*. 1963. London: Chatto and Windus; London: Vintage 2000.
- Nietzsche, Friedrich. "On Truth and Lies in a Nonmoral Sense." 1873. *The Rhetorical Tradition: Readings from Classical times to the Present*. Ed. Patricia Bizzell and Bruce Herzberg. Boston, M.A.: Bedford Books, 1990.
- Nietzsche, F. *The Genealogy of Morals*. Trans. W. Kaufmann. New York: Random House, 1969.
- Waugh, Patricia. "Postmodernism and Feminism." *Modern Literary Theory*. Ed. Philip Rice and Patricia Waugh. New Delhi: Heritage Publishers, 2011.

The Transgressive Rumbblings in Manju Kapur's *A Married Woman*

Seema Somani*

Abstract

In recent literary theory, the term "Transgression" has been given new dimensions by literary theorists as the question of transgression can be addressed only in terms of limitation and restrictions. These limitation and restrictions are constructed within the ambit of culture, politics, language, economy and society. These cultural locations and social surroundings construct an area of limitations for woman. The proposed paper is an attempt to study the gradual changes in the positioning of New Indian woman who does not teeter on the borders of a constructed identity, but one who asserts her existence, transgresses the stereotypical notions of femininity and subverts the normative function of society. Following the global image of woman, she has become the part of corporate world, confident in behaviour, comfortable in unisex mode of dressing, and rational in language usage. Thus, shedding the feminine mask, she has transgressed her gender role by adapting new 'performative tasks and masks'. This transgressing female in Manju Kapur's *A Married Woman* (2002) is the subject of my present paper.

Key Words: Transgression, Gender, Performance, Gay, Lesbian, Margin.

Etymologically, the term 'transgression' has been defined as the process of 'crossing over'; of moving from an ordered rational state to an unordered and irrational state. The act of transgression is termed as passing over a boundary or a limit or to defy any law, either civil or moral. In the Christian tradition it has also acquired moralistic tones of judgment (Adam's transgression and his subsequent punishment). In the contemporary era (with the influence of deconstruction) transgression is an important concept in feminist domain because it instigates the idea of boundary crossing. Many philosophers, literary critics, and feminist scholars have deliberated about female transgression. For Simone de Beauvoir, female transgression involves spatial transgression which means what place they occupy in the world (Home), what their place should be (Public Domain). Most of the influential texts forming the 'female tradition' delineated by Virginia Woolf, Ellen Moers, Elaine Showalter and others contain such transgressive rumbblings.

In Indian context, the word 'transgression' acquires different connotations as it becomes a symbol for the deviant behaviour more than the idea of gender transgressions (Gay and Lesbian) popular in European culture. On Indian literary scene, Bankim Chandra Chatterji is considered as the forerunner of Indian female transgressive fiction. His first work *Raj Mohan's Wife* (1864) arises from the central conflict between the inevitability of moral codes and constructs and their transgressions. While portraying his iconoclastic heroine, Matangini, he raises the issues of widow-marriage and wife's extra-marital affairs as female transgressions.

*Assistant Prof., Dept. of English, Gopi chand Arya Mahila college, Abohar.

This phenomenon of change can be traced in the novels of post-feministic Indian writers such as Shashi Deshpande, Anita Desai, Manju Kapur, Shobha De, Tasleema Nasreen, Arundhati Roy, Kiran Desai, Daisy Abey and others. The proposed paper seeks to portray this female transgression in Manju Kapur's, *A Married Woman* (2002). Her novels are replete with the ideas of myth-breaking and boundary-crossing by putting forth new iconic image of Indian woman. The theme of transformed morality, identity, subjectivity, and sexuality find a comprehensive treatment in Kapur's novels. Not only this, she has also dared to deal with the issues of homosexuality, lesbianism and transgression. Caught in the normative net of gender roles, her female characters take liberties, obstruct, bend and cross gender boundaries. Their 'rebellious and deviant behaviour' is mainly indicator of emergent new forms of femininity. The above subject comes within the purview of gender discourse; technically defined as 'feminism'.

The novel under scrutiny *A Married Woman* (2002) is focused on the new transgressive woman in the post modern Indian society. At a monthly meeting of a Delhi literary club in 2001, Manju Kapur declared that she was engaged in writing a 'lesbian' novel. At the onset, though Kapur's claim sound boastful and blunt, but she kept her word. She not only publicly announced the lesbian nature of her second novel, being written by her in India, where until then scant lesbian or gay writing existed, but also established herself as a mighty pen for transgressive voices.

In this new narrative, Kapur has tried to delineate the emerging new women grounded in oriental reality. The Paper deliberates upon Manju Kapur's idea of love, both platonic and prohibited, reaching even to the extent of lesbianism through the story of 'Astha', the leading character of the novel, who dares to challenge the constraints of middle class family and shows courage to break the barrier in search of emotional satisfaction and self-identity. Astha sets out on her quest for a more meaningful life in her lesbian relationship, a safety valve provided by post feminist mindset. The paper will also discover how the subtle and the marginal character has rejected the centre and created a new narrative in an orthodox society like India.

Kapur's novel '*A Married Woman*' is set against the time leading up to the destruction of the Babri Masjid in India in 1992. Simultaneously, it deals with the crisis of a middle-class woman caught in an unhappy marriage. The story revolves round Astha an educated, upper middle class, working woman of metro city Delhi. As a girl, she was brought up with large supplements of fear, a typical Indian family trait. Thus Astha has had her share of schoolgirl heartaches, but once over them, she looks forward to marry life with a nice, romantic dream boy, she happily agrees to an arranged marriage with an America-returned MBA, Hemant, who belongs to a bureaucrat family. Soon the monotony of conventional married life upsets Astha. After the initial years of marriage, Astha begins to find marital life oppressive and feels suffocated in the routine of repetitive responsibilities as wife and mother. Astha starts teaching in a public school after much resistance from her husband and her parents, the most

convenient and commonly available profession to the suffocated house wives in India. Her restlessness further increases because of her insensitive, indifferent and even infidel husband, who makes her lose her self confidence; and her life becomes a metonymic extension of the 'migraines' which she begins to suffer frequently.

A transition takes place in the otherwise calm life of Astha with the coming of an intellectual theatre personality, Aijaz Akhtar Khan. Aijaz asks Astha to write a script on the burning issue of Ramjanama Bhoomi and Babri Masjid. This responsibility gives her a sense of personal worth. She feels extremely elated that someone has trusted her potential. Even at home, in order to escape from the monotony of daily routine of family life, she paints and writes poems. But no one in the family appreciates her abilities. It is Aijaz's trust which motivates her to think beyond the horizon. He makes her think about the ongoing socio-political activities which become her future interest. Astha, been a mother of a son and a daughter, for the first time tastes the forbidden fruit of the outside social life. She realizes that other than home and family she can contribute to social causes like empowerment of the nation. By doing so she has transgressed the usual mould of femininity: a satisfied wife, a blessed mother of two siblings, a comfortable home to live, a small family to live with, an average profession to name, a husband quite understandable, what more she needs, being judged by the parameters of Indian house wife, she has more than an average middle class woman can claim.

But soon this ferocious relationship is over as Astha gets the horrendous news of Aijaz's murder. Babri Masjid is demolished in Ayodhya and there is a lot of turmoil throughout the country. During one of such processions Astha comes into contact with Pipeelika (whose name is pared down to Pipee, Pip and finally P as the intimacy grows), the widow of the theatre activist Aijaz. She feels great empathy to Pipeelika and a powerful physical relationship is established between them. This relationship is a challenge for her husband and family. They both live together and deep emotional attachment develops between them. Astha is on the verge of losing her conventional marriage. The lesbian relationship that develops between the two fills her life with fresh air, joy and vibrant health. No more migraines, no longer the feeling of being worthless. But Astha declines Pipee's proposal to start a lasting partnership with her on the ground that she has a family and she has children. In the end, Pipee leaves for the United States, purportedly for higher studies—to do her Ph.D and Astha returns back to her family.

To be a woman who declares herself openly as a lesbian is to be a rebel, a transgressor ready to take the abnormal course of action. Geeti Thadani connects the phenomenon of lesbian invisibility in India to what she calls the "myth of tolerance". She points out that lesbians do not exist overtly at all in India, even if they survive it is in the undergrounds. According to the critical principles outlined above, in *A Married Woman*, Astha's physical relationship with Pipee can be regarded out rightly as lesbian bonding between two women, even though the narrative does not use the word 'lesbian' for either of them and this taboo

project has been dealt judiciously. The author has depicted these sexual matrix convincingly, where reader's empathy gets settled upon Astha, who is like a sex doll but bereft of the boon of love other than physical with her husband. She, being love lorn, seeks this fulfillment in Pipee, a vibrant young girl.

Both ladies find a safety valve in lesbianism for their repressed desires. They enjoy being together; they desire each other, revel in each other's bodies and celebrates this notion privately. There exists a passionate sexual compatibility between the two. The narrator overtly describes this, 'they had been skin on skin, mind on mind with nothing in between' (p. 303)¹. A mere touch is enough to give orgasmic delight: '[Pipee] closed her hands over me, and I could scarcely breathe with the pleasure,' effuses Astha (p. 256)². This behaviourism finds an echo in the works of lesbian theorist Catharine Stimpson for whom, 'Lesbianism represents a commitment of skin, blood, breast and bone.'³

But in *A Married Woman* while Astha and Pipee have shared intimate moments together during their love making, the relationship is not allowed to cross the expected trajectory. At the end of the novel, the author making Pipee abruptly leave for the U.S. to pursue her Ph.D. is a narrative strategy which Patricia Juliana Smith calls 'lesbian panic.' Kapur seems to lose nerve for this bold solution and ends the novel on an unconvincing note which seems arbitrary and lacking in consistency. Smith defines lesbian panic thus:

'In terms of narrative, lesbian panic is, quite simply, the disruptive action or reaction that occurs when a character—or conceivably an author—is either unable or unwilling to confront or reveal her own lesbianism or lesbian desire.' Caught in this state, the female character indulges in an action which causes 'emotional or physical harm to herself or others. This destructive reaction may be as sensational as suicide or homicide, or as subtle and vague as a generalised neurasthenic malaise. In any instance, the character is led by her sense of panic to commit irrational or illogical acts that inevitably work to the disadvantage or harm of herself or others.'⁴

The more Astha resists the conventional feminine role, the more hysterical the narrative voice gets. Hemant, totally on his guards, tries to repudiate the changing gender order through the expression of dogmatic and derogatory axioms, such as the following one, an extreme statement even at this time: "Please. Keep to what you know best, the home, children, teaching. All this doesn't suit you." (p. 116)⁵ This line suggests that women's inferior position in society is not a biological fact but a created one. Civilization defines what is feminine, determines how women should behave, and perpetuates the oppression of women. The social position and roles that civilizations have assigned to women have kept them in an inferior position to that of men. It is the patriarchal civilization that relegates women to the margins. Here, Astha has tried to step out the cultural territories laid for her and transgressed her cultural mould.

The process of spatial transgression on the part of protagonist can be traced through Astha's visualization of an ideal space of homoerotic desire: a space simultaneously separate from and connected with the domestic."Astha: I have a fantasy,....I have a room, small but private, where my family pass before my eyes. It is very light, before me is a wall which divides the house, but I can see my children, that satisfies me, though to them I am invisible, that satisfies me too. This room will be our room, you with me, living in harmony. Our lives are separate, different things call to us, different demands are made on us, but always that solid base beneath as, like two flies caught in a sticky pool they cannot leave."⁶

The visualization of a room of one's own, in these lines, embodies a juxtaposition of the personal and the familial. It is an imagined utopia that contains desires of erotic and maternal, a space bounded by one-way glass that might render the subject invisible for the audience/objects. A private place from where she may watch others but others might not perceive her presence. The space simultaneously functions as a trap, a "sticky pool" of desire to which the desiring subject submits willingly, and it can provide "solid base" of a stable erotic relationship. This paradoxical spatial metaphor— in which visibility and invisibility gets mixed together— sums up the subject position of transgressive Indian woman. The visibility in prototype societal roles— as a wife, daughter, sister, friend— is put against the invisibility as lesbian lover, a transgressive stance upon the part of a domestic home maker. It is a space of unconscious desires in Id, carefully preserved in the psyche of an Indian woman.

Should we look at *A Married Woman* as a transgressive text?The answer is ambivalent. As a transgressive heroine, Astha's angst is tiresome and problematic to the plot. Astha does not appear out and out rebellious sort and all she wants is to marry a romantic, rich guy. Even more troublesome is Astha's sudden makeover into a political animal, by virtue of her meeting a political activist, Aijaz Akhtar Khan, who alerts her to the growing religious fundamentalism in India. Her transformation into a flag-waving, protest marcher fighting sectarianism is farcical. Like Pipee she is not a lesbian only, rather her sexual orientations make her bisexual. Apart from her sexual alliance with Pipee, her commitment to heterosexuality is further reinforced by her steadfastness in continuing with her husband and family irrespective of her meaningless existence.

At best she wants to straddle both the worlds—and paradoxically the heterosexual world becomes one of compulsion and the lesbian world an incidental happening, which she enjoys as a personal choice. Neither she is prepared to acknowledge her double sexuality to the world by 'coming out,' nor is she prepared to give up on her children and husband and home. She is not a woman whose sexual desire is focused only on another woman. Astha's bonding with Pipee is not a free choice exercised by a woman who would take the initiative to start and sustain a lesbian relationship. It could be interpreted, in a certain sense, as an intuitive act stemming from resentment of her particular situation. On the other hand, Virmati, the heroine of *Difficult Daughters*, is more consistent character. Astha isn't.

Here I would like to refer to what renée c. hoogland thinks of Alice Walker's *The Color Purple* (1982). According to hoogland, in spite of the subtle lesbian code in the title and in spite of Celie being a lesbian, *The Color Purple* is not a lesbian text because lesbian sexuality is de-politicized and reduced to a 'matter of private preference [which] implies that...[it] has no significance outside the privacy of the bedroom.'⁷

For Kapur and for Astha, family means the traditional heterosexual union, as ordained by patriarchy—an exploitative and oppressive institution. And note worthily, Astha prioritizes this family over the family which Pipee suggests: a union of two women, an egalitarian, symbiotic lesbian relationship. Astha's refusal to give up on family, home, children is inexplicable in view of the false, oppressed 'migrained' existence she leads, except in terms of the lesbian panic which thwarts the possibility of their joyful life together—a life free of 'migraines.' And since the relationship remains private, Rich's concept of 'lesbian continuum' does not apply. Although the novel approaches the 'woman-identified experience' of which Rich writes, but the narrative ultimately fails to liberate the women—or at least Astha from 'compulsory heterosexuality.'⁸ The novel ends on a note of defeat for Pipee, and for transgression.

It is quite bold of Kapur to create the new narrative in the Indian homophobic socio-cultural context, where Deepa Mehta's film *Fire* (1996), which depicts a lesbian romance, ignited fire (both literally and figuratively) and Karan Razdan's film *Girlfriend* (2004), which deals with lesbian bonding on the butch-femme model, was condemned as pornography. It is interesting to note the emergence of New Woman in the realm of social, economic, cultural and sexual aspects in the novels of Manju Kapur. Her creative genius has given birth to some of the iconoclastic and most memorable female characters like Virmati, Astha and Nisha,, who shook the domain of feminism and changed the very terminology of woman's life. These women characters gave a jolt to the male oriented society that has suppressed and victimized women since long times ago. These women protagonists revolt silently but fiercely and unlock the fetters of slavery which prevent them from being the part of global world, ruled by men. These characters emerge as the indicators of the process of change and transition. They show how women are adopting and adapting the ways of modernity by coming out of the shadow of the age old traditionalism. With this new attitude and confidence they enter into the long prohibited territory of men's world. Their new thinking and attitude give them new recognition and social worth as an individual.

Admittedly, *A Married Woman* fails entirely in matching up to the requirements of a lesbian narrative, if viewed through the prism of Western lesbian theory. Astha steps out the doll house in search of happiness and freedom which her married life denies. She finds that her homely married life is pregnant with 'Nos' So she goes in search of 'Yes' which she finds in outside social world. As a wife, she wants that Hemant should spare some time for her, appreciate her talent either in paintings or poetry ,give an equal consideration in

DAV SHODHDHARA

every decision making process ,provide some personal space in her own house, which is totally denied by Hemant. But she finally rejoins the same house at the end though more self assured and developed now.

References:

1. Kapur, Manju, *A Married Woman*, New Delhi: India Ink, 2002.p.303
2. *Ibid.*, p.256.
3. Catharine R. Stimpson, 'Zero degree deviancy: the lesbian novel in English,' in *Critical Inquiry* 8(2) (Winter 1981):363-79; Terry Castle, 'A polemical introduction'; Christine White, "'Poets and lovers evermore": interpreting female love in the poetry and journals of Michael Field,' in *Textual Practice* 4(2) (1990):197-212.
4. Smith, Patricia Juliana. *Lesbian Panic: Homoeroticism in Modern British Women's Fiction*. New York: Columbia UP, 1997.
5. Kapur, Manju, *A married Woman*, New Delhi: India Ink, 2002.p.116
6. *Ibid.*, p.227.
7. Renée c. hoogland, *Lesbian Configurations*, New York: Columbia University Press,1997,p. 21
8. Rich, Adrienne,*Compulsory Heterosexuality and Lesbian Existence*,1980. p.648-49.

Impact of Literature on Society

Anita*

Every language has its own literature. A majority of world's National literature can be broadly classified into English, Greek, Latin, Roman, African, Indian, American, French, Irish, Spanish, Chinese, Italian, Japanese, Persian, Sanskrit, Nepali, Russian, African-American, Canadian literature, etc. Literature is a form of language that deeply influences the minds of people of all ages. Moreover, literature is also studied as a scientific language for various aspects like grammar, usage, lexis, semantics, pragmatics, etc. Literature being the mirror of society, a book written in a particular time defines the people, their thoughts, and the influences of that era. Literature means something that is written for refreshing and inspiring the mind. It records the thoughts and feelings of great minds. It attracts in two ways—through its matter and through its manner. The matter must be such that those who read it are interested in some way. The manner must be such as will be pleasing to the reader and adds to his fund of knowledge. Literature is a term used to describe written or spoken material. Broadly speaking, 'literature' is used to describe anything from creative writing to more technical or scientific works, but the term is most commonly used to refer to works of the creative imagination, including works of poetry, drama, fiction, and nonfiction. Literature may be defined as the serious and systematic expression of the sincere ideas about various spheres of life, renewed or invented in the mind of the author. We live in a society. That is, there are relations and interrelation between men who live in the society. We like to hear about our fellow men that live in society, their thoughts and feelings, their likes and dislikes. Naturally, if we have the power of language to express the feelings, we are well on the way to create literature. In other words, the subject matter of literature is society in some form or other. The poet expresses his feeling and we who read his poetry are interested and feel at one with him and ourselves. After all, society is this bond of fellowship between man and man through communication that the poet or writer seeks. If literature expresses social sympathies, naturally it is bound to exercise some positive influence on our mind and attitude. Society reacts to literature in a living way. An inspiring poem creates general influence on society. It rouses our feelings and enthusiasm for welfare.

The influence of literature on society is felt directly or indirectly. Literature somewhat maintains its unique characteristics despite the dominance of one culture. It is because the literature is predominantly spread via one country's own language, while the culture is through various means of media. Literature is written by distinct languages differing among nations, but it is able to maintain its uniqueness somewhat. The novels of Dickens had an

*Assistant Prof. Dept. of English, D.A.V College, Abohar.

indirect influence in creating in society a feeling for regulating and removing social wrongs, calling for necessary reforms. Sarat Chandra's novels have gone a long way in breaking conservatism as regards women in our society. It is, however, clear that if we are interested in literature, and its influence is bound to move us amply. Literature is made out of the lore of life. No doubt, the realistic artist brings to a focus the oddities and cruder aspects of life overmuch. But to know life fully, not only the bright side but also the seamy and dark side of life is to be known. Thus, society creates literature. It may be described as the mirror of the society. But the quality and nature of the reflection depends upon the writer's attitude of mind, whether he is progressive in his outlook or reactionary. Naturally, conservative-minded writer will stress those aspects of social life, which put the traditional ways of life in the best possible way. For example, he will set a high value on reverence for age-old ideals, respect for religion, chastity of woman and so on. On the other hand, a progressive writer will tend to show how old ideals act as restraints on the natural freedom of the human mind, cripple the free movement of man and women in an unrestricted atmosphere, set for liberating new ideals and moving society that looks forward to newer ways of life.

Literature is a very powerful tool that is used to make a huge impact on society or in someone's perspective. Literature comes in different forms and each literature form fits in a certain category or role to help understand the true meaning of it. From playwrights to short stories, each one has moral lesson, a message or a reflection of the author. I have witnessed the power of literature several times. Literature has moved teens to better beings; it has motivated unfortunate people to fame, used as an educational process of teaching and most of all, entertainment. Back in the day, plays were of the most famous forms of entertainment. Without television and radio present, plays served as a substitute to entertain certain groups of people like the royal family or just for the whole public. This was one way of making money by the actors and the authors that wrote the play. Today, Literature is still being used as a form of entertainment and educational intentions. Hollywood made a lot of money by revising the great masterpieces of famous authors such as 'Romeo and Juliet' by William Shakespeare. Also, they made movies out of hundreds of literary works for educational purposes and better understanding of the literary piece. Each form of literature has its own style. The style determines how it influences the audience to absorb the true meaning and moral of the story or poem. William Shakespeare and Benjamin Franklin were truly persuasive while Washington Irving and Edgar Allan Poe mixed mystery and adventure to their works. The style touches the readers which really makes a good relationship from the reader to the author's literary masterpieces.

Literature has been crucial to communities since language was tailored and used by people as a form of communication. Literature takes the reader out of their world and brings them into the author's world. Literature can bring people of different backgrounds, cultures, and ways of life together. When we relate through a piece of literature, it really makes us think that we are not alone and that someone else has been through what we are going through. The way authors are able to grab us with how the characters are feeling or

what they are looking at brings the reader into that story. If we read a piece of literature that contains information on other cultures we then see how they live, what works for them and what doesn't? As a reader, we learn how other cultures live, which in turn makes us as a society think about the way that we live our own lives.

Literature has played an important role in the shaping of the nation's culture and ideology. Having an extremely influential past, literature indirectly affects the television world that has swept over the minds of the baby boomers and their offspring. The roots of literary influence are embedded in the very being of the nation and the citizens that call it their home. Through the bold and brilliant work of many influential authors, literature has dramatically dominated the minds and hearts of an ever-changing American culture.

Some of the earliest forms of literature are the myths that have been passed down through history. Myths directly represent the culture and time period from which they were born. Ideological meanings can be assigned to history through the myths that evolved from a particular society. Present day politics has its roots in the mythology that was passed down through Greek and Roman cultures. The myth is the primary language of historical memory. The demonstration of the influence mythology has had on times gone by and the present is a perfect example of the powerful affect that fictitious words can have on a group of people. As the new world was found and the nation was settled, literature has had an enormous impact on colonial style, which influenced the newly born Americans and the Europeans still living in the old world. Writers of the eighteenth century had two primary legacies: the romantic revolution and the historical texts, which included histories, sermons, pamphlets, diaries, and biographies.

Literature has had a major impact on the development of society. It has shaped civilizations, changed political systems and exposed injustice. Literature is thought provoking; it allows us to raise questions and gives us a deeper understanding of issues and situations. Literature gives us a detailed preview of human experiences, allowing us to connect on basic levels of desire and emotion. However, just as it has constructed societies, the writings and works of certain authors have degraded societies to their most primitive form. "The foundation of every state is the education of its youth," said Kevin Nawn, assistant professor of English at the American University in Dubai. But what is today's youth reading? Are they reading at all? Notes spoke to university students and professors about the importance of literature for the young generation. While most students agreed that literature is crucial for the advancement of society. "By reading narratives, we can empathize and understand others," said Judith Caesar, English professor at the American University of Sharjah (AUS).

Literature plays role in influencing human thought, the disregard for literature is a main component of ignorance and constituents like stereotypes, judgments and preconceived notions about different people and cultures. "Literature is the study of human nature. We see human nature through tragedy and romance, joy and sorrow, in epiphanies and denial, in moments of heroism and in moments of cowardice," said Sa'ad Farooqi, an English

DAV SHODHDHARA

literature major at AUS. Literature teaches us to analyze a character, allows us to reach inside his or her mind so we see what drives a character, what shapes his or her beliefs and how one relates to others. They see the intricacy of human experience, giving them an open mind and an open heart. However, today's youth can only reach this point of enlightenment through seeking knowledge - by being well read and cultured individuals. Nevertheless, the impact of technology on youth is unquestionable. These new forms of expression give students a quick and convenient method of both expressing themselves and seeking information.

Works Cited:

Bartleby.com. "Common Sense by Thomas Paine". Brief Facts about Thomas Paine and his works. [Http://www.bartleby.com/133/](http://www.bartleby.com/133/).

Essay on the connection between literature and society www.preservearticles.com/201103284772/literature-and-society.html

Essay Paper on Literature and it's Effect on Society - Custom Essay
www.professays.com/...literature/essay-paper-on-literature-and-its-effect-on-society-2/

Literature is the mirror of society | GulfNews.com gulfnews.com/literature-is-the-mirror-of-society-1.86134

US History Organization. "Common Sense by Thomas Paine". Information about Common Sense. <http://www.ushistory.org/paine/commonsense/>. (18 Mar) How Literature Impacts Society

Maharishi Swami Dayanand Saraswati: a splendid crusader for religious and social awakening

Varinder Setia*

“I have not come to preach any new dogmas or religion, nor to establish a new order, nor be proclaimed a new Messiah or Pontiff. I have only brought before my people the light of the Vedic wisdom which is instrumental for social and cultural awakening of India.”

Swami Dayanand Saraswati occupies a high up place in the galaxy of world teachers. A reflective Vedic scholar, a thorough social reformer, a powerful agent of change, a great campaigner of equality & justice, Swami Dayanand Saraswati is hailed as a savior of mankind, the strength of the weak, exploited & marginalized and a companion of the orphan & widow. With him ushered in a new era, an era of renaissance. Influencing Indian nationalism and society to a considerable extent, he was a tireless emancipator of mankind and a great supporter of people. Swami Dayanand, founder of the Arya Samaj, was one of the few great men of the world who sacrificed everything for emancipation of mankind. Having left his house in quest of knowledge and truth, he faced immense hardships and difficulties, resisting all temptations, he studied the ancient scriptures, particularly the Vedas which he regarded as a source of Divine Knowledge and engrossed himself in the eradication of social & cultural evils present in his time.

At a time when it was not even thinkable to put a question mark on the prevailing social practices, Swami Dayanand Saraswati emerged as one of the most revolutionary socio-religious reformers in the history of modern India. As a founder of Arya Samaj in 1875, Swami Dayanand propagated egalitarian approach of the Vedas at a time when extensive casteism was prevalent in the society. By undertaking a whirlwind tour of the entire India, this great sage made fiery speeches condemning the caste system and its ill effects on Indian society. Swamiji emphasized the political need of this division of society. In his words, caste is— “a political institution made by the rulers for the common good of the society and not a natural or religious distinction. It is not a natural distinction, for the four castes were not created by God as distinct species of men; but all men are of equal nature, of the same species, and brothers”. In a similar vein, Dayanand denounced untouchability and labeled it as inhuman and unsocial. He cited the Vedas where the practice of untouchability was not at all present. We must keep in mind the social milieu of that time in able to understand the significance of these steps for the upliftment of society. It is accepted fact that even today; our society has not been able to fully counter the menace of Casteism. We need to appreciate that social reformers like Dayanand put up a valiant effort to counter this huge obstacle in the growth of Indian society.

*Assistant Prof., Dept. of English, DAV College, Abohar.

Dayanand Saraswati was the first leader in the field of theology who welcomed the advances of sciences and technology. To him, the Vedas as the source book contain the seed of science, and to him, the Vedas promote the philosophy of dynamic realism. The establishment of Arya Samaj was meant to promote social service and spirit of brotherhood among the diverse sections of society. By emphasizing the value of becoming a true Aryan (Man having Superior traits), Swamiji tried to rejuvenate the splendid legacy of our forefathers. The great social organization Arya Samaj, postulates in principle equal justice for all men and all nations, together with equality of the sexes. It rejects a hereditary caste system, and only recognizes professions or guilds, suitable to the complementary aptitudes of men in society. Swamiji gave new interpretations to reform the stagnant Hindu thought through his book “Satyaprakash” (The Light of Truth). He profusely quoted the Vedas and other religious texts to insist that salvation was not the only motto of a Hindu or Arya, as was believed. To lead a fruitful worldly life, working for a noble cause was important, and he preached that salvation was feasible through social service. These revolutionary ideas brought a sea change in the general public’s perception about social evils like casteism.

In the words of great philosopher and first Vice President of Independent India Dr. S. Radhakrishnan, “*Among the markers of modern India who had played an important role in the spiritual uplift of people and kindled the fire of patriotism, among them Swami Dayananda occupied the chief place.*” Apart from condemning caste system, Swamiji fought vigorously against idol worship, ritualism, fatalism, infanticide, sale of grooms etc. By highlighting the marvelous aspects of great Vedas, Swami Dayanand raised voice against ritualistic religious practices. In his opinion, those religious performances would lead to social, economic, political and religious deterioration of India. Swamiji denounced polytheism or worship of God in different forms. He emphasized that this polytheism had brought the division in Hindu society. Putting emphasis on monotheism and to devote oneself to the formless God, he wrote in the ‘Satyarth Prakash’ —

“ there is only one god with all those attributes generally ascribed to him by monotheists. He is the creator first of the Vedas, then of the world, hence the Vedas are eternal as compared with the world, but non-internal as compared with God.” Thus, Dayanand brought uncompromising revolution in the field of religion. He told that inner purity is essential for spiritual development. Religion, to a great extent, was to regulate the body, mind and spirit of a man. So, religion, truth, purity, emancipation, law, moral conduct were synonymous to him.

He wholeheartedly preached for the service of mankind and upliftment of downtrodden sections of society. Through his religious discourses, Swamiji advocated the true liberation of women and upliftment of depressed classes. Swamiji was also aware and apprehensive about the growing influence of Christian missionaries and Islamic organizations. One of

the objectives of Arya Samaj was to prevent conversion of Hindus to other religions and to reconvert those Hindus who had been converted to other religions like Islam and Christianity through a pacificator ceremony called Shuddhi. Highlighting the superiority and supremacy of Vedas, Swamiji staunchly advocated for Shuddhi movement to reconvert the other sects to Hindu order. Swami Dayananda Saraswati sincerely believed that through the spread of Vedic education the urge of regeneration of Indian society could be met. As a true nationalist, he was the first to insist on people to use only Swadeshi things manufactured in India and to abandon the foreign things. He was the first to recognize Hindi as national language of India. Dayananda Saraswati was the strong votary of democracy and self government. He declared that good Government was no substitute for self-government. Such drastic steps in the then conservative society speak volumes about the magnificent contribution of Swami Dayanand for social & cultural awakening. Swami Dayananda represented a transitional stage and inaugurated future developments with his vision of a complete overhaul of Hindu Society. The Arya Samajists stood for social equality and championed social solidarity and consolidation. The Arya Samaj movement through its multi-dimensional activities weakened the hold of orthodox and conservative elements. It also contributed more than the rational movement of Brahmo Samaj to the development of a new national consciousness in India.

As a feminist, Dayanand championed the cause of women. Dayanand protested against the evils such as Child marriage, restrictions on women education and widow remarriage. By citing the high position of women during Vedic period, Swamiji argued in favour of the equal rights of women with men. He explained that an illiterate woman will be a liability to her husband, children and for the whole family. By asserting the right of women over property, women education, opposition to child marriage, condemnation of polygamy and polyandry, Swamiji emerged as a crusader of women rights and freedom from the clutches of dominant patriarchal society of that time.

Aware about the ill effects of Lord Macaulay's idea on English education, Dayanand put stress on the Vedic education which was based on morality. Equality of treatment in the educational institution was advocated by Dayanand. Emphasis was to be laid down on character building of the pupils championing the moral-based education. Dayanand wrote in the Satyarth Prakash—"It is the highest duty of parents, tutors and relatives to adorn children with good, sound education, nobility of character, refinement of manner and amiability of temper....". As a fervent champion of nationalism, Swamiji tried to inject a sense of pride and dignity in every Indian by unfolding the glorious cultural heritage of this land before them. "India for Indians" was his doctrine. He also emphasized that until and unless India broke the manacles of economic and political slavery of the Europeans, it cannot achieve sovereignty. These ideas were truly revolutionary and outstanding for the development and well being of the then society.

As a firm believer in the concept of democracy, Swamiji vehemently condemned imperialism and colonialism. He cited Veda and told that everybody was equal before the law—the king and the subjects. In his words —“... the relationship between the ruler and the ruled should be based on mutual respect and responsibility. The ruler should treat their people as their own sons and daughters, the latter should respect the former as their father.....”.

Much before Mahatma Gandhi, Swami Dayanand Saraswati had thought about the village administration and economic advancement of the villages. As a nation builder, the necessity of a common language for nurturing national unity was felt by him. This venture of Dayanand facilitated the common men to go through the inner meaning of the Veda in native language. Swamiji's ideas of 'Swadeshi' and 'Swaraj' later on enthused Bal Gangadhar Tilak, Lala Lajpat Rai and Aurobindo Ghosh. His Suddhi Movement established a new landmark in the area of Hindu reformative movement. We can say that Swami Dayanand Saraswati is certainly one of the most powerful personalities who has shaped modern Indian society and is responsible for its moral revitalization and religious resumption. Our society owes a lot to this great and inspiring personality to make us realize the true meaning of being an Indian.

References:

Autobiography of Dayanand Saraswati, New Delhi: Manohar, 1978.

en.wikipedia.org/wiki/Dayananda_Saraswati

en.wikipedia.org/wiki/Satyarth_Prakash

BawaA, S,(1979)Dayananda Saraswati, Founder of Arya Samaj,. Published by EssEss Publications.

Kumar, Raj (2003). Swami Dayananda Saraswati: Life and Works”. *Essays on modern Indian Abuse* .Discovery Publishing House.p. 62. ISBN 81-7141-690-X

Lazarus P. B.(1876).Dayanand Saraswati Commentary on Yajurved .

PandeyD. (1985)Swami Dayanand Saraswati, .Published by Publications Division, Ministry of Information and Broadcasting, Govt. of India.

www.aryagan.org/satyarth-prakash.html

www.aryasamajjamnagar.org/download/satyarth_prakash_eng.pdf

www.aryasamajjamnagar.org/satyarthprakash/satyarth_prakash.htm

www.culturalindia.net > Reformers

www.dayananda.org

www.iloveindia.com › *Famous Indians* › *Social Reformers*

www.maharishidayanand.com ›

www.sabhlokcity.com/.../satyarth-prakash-the-light-of-truth-by-swami-d...

www.satyarthprakashnyas.org/

www.vedicgranth.org/home/the-great-authors/.../satyarth-prakash

www.youtube.com/watch?v=1HOSR0Ym440

Gendered Narratives of Chekhov and Shaw

Sarika Goyal*

Victorian women have been much debated upon. The queen Victoria, a symbol of a good natured woman, a care-taker of family and nation was almost a model of a gentle human being and a lady with womanly virtues. The ordinary women folk were wives, mothers, ballerinas, coquettes, workers in industry or fallen as per the morality standards set by Victorians. The patriarchy exercised maximum control over the lives of women. Men of letters introduced women folk to clubs, including reading clubs and commented on their follies. With the opening of new vistas for industry, trade, education, scientific and geographical exploits and colonial expansion under the garb of enlightenment, more freedom was enjoyed by women. To exercise a constant check, Tennyson advised them to confine to home, hearth and needle. The queen was eulogized as a symbol of modesty and chastity. With men turning to be explorers or warriors, the women behind faced more charges of adultery.

Both Anton Chekhov and Bernard Shaw shared more or less the same cultural code prevalent throughout Europe and its neighbouring nations, were contemporaries but distanced in space (one being Irish and the other Russian), exhibit striking similarities and differences in the portrayal of their women characters. Both of them were renowned playwrights of their times though Chekhov was more famous as a short story writer as Shaw was as an orator and an essayist. 'A Marriage Proposal' and 'Arms and the Man' have indeed secured a niche for themselves in the arena of world classics. Surrounded by learned men, actors, dramatists, writers, orators and other men of talent, their private lives had far more women in the personal spheres and this led to a specific treatment of women in both the writers. The present paper seeks to explore the finer recesses of the hearts of their protagonists and the various nuances displayed to portray the other making these narratives [cis]gendered.

When one talks of Anton Chekhov, one can't forget Natalia Stepanovna, a short tempered woman, a manager of home affairs but lacking womanly sense to woo a future husband. Chekhov came from a family background where women were kept as surfs, were abused and even beaten, but Chekhov portrays them in a different shade. Some deeper frustration and depression made his women weak, objectified and on a lower pedestal as compared to men. They are gendered as the other, the soft, the vulnerable, assenting to their own serfdom but nurturing deeper bodily passions. The men are flirts, hurl curses at wives, dominate

*Assistant Professor, Dept. of English, DAVC, Abohar

over their passions and likes and enjoy their charm and at times are the admirers of feminine beauty. Let me elaborate some points by selecting some of his stories.

In 'The lady with the lapdog', Gurov has an illicit relation with Anna (the story bears a striking resemblance to his personal life). He was "cold and uncommunicative with men and free with women" (31), and as an unfaithful husband 'almost always spoke ill of women' calling them 'the lower race'. Liharev in the story 'On the road', on a chance meeting with a woman in a tavern objectifies the fairer sex furthermore. He says to a fellow man, 'I tell you that woman has been and always will be the slave of man'. 'She is the soft, tender wax which a man always moulds into anything he likes. . . My God she dies among strangers because she is an unquestioning devoted slave' (107). Perhaps he did not like the forgiving nature of women but had understood over the years that it is the very marrow in their bones. He believes that women have 'unrepining martyrdom in the tears that would soften a stone' and 'all forgiving love which brings light and warmth into the chaos of life'. Here Chekhov comes close to the idea of Shavian women as agents of life force. Though Chekhovian women lack ideas or philosophy; Shavian counterparts are seekers of truth, stick to some ideals or philosophy, are best under the tutelage of males. Raina is guided for a more practical life by Bluntschli. Through her, 'Shaw unwraps the romantic illusions that cover disastrous wars and unhappy marriages' (Jain, 55).

Love is praised as the most sacred emotion by the poets, but when it moves to commitment, most of the male writers come up with nasty comments. In a Chekhovian story 'Love', the narrator is engaged to a girl named Sasha and maintains that women are foolish, far less educated and blinded by emotions. The narrator pays her a visit some days before marriage and finds her busy with linen, calico, muslin, wool and other boring objects. The fiancé feels ignored but it elucidates that women are not without brains, the life after marriage requires clothing, bedding and dresses (befitting for a newly-wed bride) and she in love with the object and idea of love keeps it aside. Most men get attached only after marriage and the narrator remarks, 'Yes, it is a bore to be engaged! I'm glad it's over' (88). As far as the selection of a life partner is concerned, the narrator in the same story observes, 'In my love lace days, I have cast off women for a stain on their stockings, or for one foolish word. . . and now I forgive everything' (89). Here everything is still trivial i.e. munching loudly, talking for long over nothing important etc., when Sasha becomes a wife.

Shaw finds marriage laws to be 'inhuman' forcing bolder and 'rebellious spirits to form illicit unions'. He pronounces rather indirectly that in spite of the legal bond, both parties should be 'free to sip every flower and change every hour'. In exalting words, quite natural for an orator, he finds human beings as enslaved as farm stock in marriage with the difference that 'children are more troublesome and costly than chickens and calves'. Charles Lamb, another contemporary of his, finds them to be abuses hurled on the bachelors. Love, for Shaw, is 'the most violent, most insane, most delusive and most transient of passions' that makes lovers swear that they will remain in that 'exhausting condition' forever and

therefore doesn't get sympathy and relief from society. If love is insane, then marriage is no 'magic spell' that can change two human beings immediately. For him, rings, veils and vows are no incantations to lure the other person into affection for some minutes. He even considers that daughters of mothers try every trick for 'husband hunting'. He may sound like a reformer when he proposes that 'to a woman without property or marketable talent a husband is more necessary' but he like a satirist remarks, "to ask a young man his intentions when he has no intentions; to pretend that your daughter is a musician when she has with the greatest difficulty been coached into playing three piano-forte pieces which she loathes; to use your own mature charms to attract men to the house; to keep all the skeletons carefully locked up in the family cupboard until the prey is duly hunted down and bagged' (Popova).

Chubukov in 'The marriage proposal' assists his daughter Natalia in hooking a husband but in most of his stories, women hunt men themselves. Anna Pavlovna in the story 'Husband' resembles Mathilde Loisel of Guy de Maupassant's *The Diamond Necklace*. She had been 'dreaming of a life of luxury and gaiety, and never doubting that her husband was to be a prince or at the worst, a baron' (92). The same story expounds the love of women towards the men in uniform. The tax-collector's wife was going to a ball to honour soldiers of a regiment. The ladies compete with each other to grab the attention of soldiers for an evening dance. For Raina also, war was romance and Sergius her hero (*Arms and the Man*).

Another peculiarity where Shaw turns out to be a propagandist is in his concept of 'New Woman'. Shaw's new woman was determined to make a living without angling for a husband or otherwise selling her charms (Jain, 27). He criticised the 'ordinary conforming female' like Ibsen. His women were fallible, had temper tantrums, infatuations other than those resulting in marriage (punishable by Victorian code of conduct) and had lapses from decorum (instead of draping, long and loose gowns with braided hair, they preferred comfortable clothes and short hair). The question now arises that if a new woman was so conscious of her fortune, why does she hunt men like Ann in 'The Philanderer' who is termed 'lady Mephistopheles' coaxing you to 'your own destruction' (Jain, 52)? Why does she show unscrupulous or promiscuous behavior like Mrs. Warren?

Shaw supports his own claim that the society provides squalid work atmosphere to women in factories and other places making them starved, ugly and undersized. Mrs. Warren asks her daughter, 'What did they get by their respectability' (Jain, 101)? The women find even prostitution a profession for respectable earning whereas 'marriage is a degrading bargain by which a woman sells herself to a man for the social status of a wife and the right to be supported and pensioned in the old age' (Jain, 73). In the story 'An Enigmatic Nature', it is the luxurious lifestyle that allures a woman into prostitution. The woman does not want to lead the life of a 'suffering soul in some page of Dostoevsky'. She, instead, 'yearned for something extraordinary, above the common lot of women' (Chekhov, 54).

Shaw lacked maternal love and filial affection and thrived on women's affections but drew back from commitment. His marriage with Charlotte was also platonic and that led to his flirtations. It is alleged against him that love affairs fed his writing machine, through his women characters like Major Barbara, who act as driving force; he has created unsentimental women or 'men in petticoats'. But it is equally true that Shaw affected lives of many women (all educated, talented and supportive of his ideal of new woman) but was tyrannical like Higgins (Pygmalion) who says, 'I am seasoned. Women cannot enchant and enthrall me'.

Chekhov also preferred passing liaisons and visits to brothels over commitment. He also wanted a wife 'who, like the moon, won't appear in my sky everyday' (Wikipedia). It is surprising that a man who lacked commitment could write so much about 'marriage customs, role of marriage brokers, barriers of rank and wealth' (Knieff, 23). His family members believed in proverb of the peasants, 'Beat your wife as you beat your old sheep skin coat', yet he was not much successful as far as his relations with women were concerned. Knieff concludes that he was able to find out the reason of estrangement of partners and that was lack of mutual understanding and banality (100). He could make out that women become trivial for men after 2-3 years of intimacy.

Russian Tundra with all its virgin hue is a living hell with snowstorms, poverty and starvation. The lack of food is labeled witchery on the part of women Savely Gykin tells his wife in the story 'The Witch', 'I know that it's all your doing, you she-devil! The snow storm and the post going wrong' (71).

Virginia Woolf in *A Room of One's Own* rightly opines, 'however, the majority of women are neither harlots nor courtesans. . . But what do they do then? . . . For all the dinner cooked; the plates and cups washed; the children sent to school and gone out into the world. . . No biography or history has a word to say about it'.

Categorising these narratives as gendered, I believe that these and similar texts by the same writers should be analysed to 'liberate new significances' and to 'decode woman as sign' (Kolodny, 163). These will also shed light on how gender is socially constructed and how is it 'performed'? Can there be any method to ungender these texts rich in certain expletives? Can they be labeled as misogynist (People have measured skulls of women to find out they have low brain; Chekhov)? Or should they be studied as cisgendered narratives emphasizing separate identities and characteristics of men and women? These texts also stand in comparison to the narratives written by women authors like George Eliot, Bronte sisters and other Victorian women, who can be characterized as new women as per Shavian terminology. In the postmodern and post colonial world, gender has been intrinsic to national imagining. And considering the England of Elizabeth and Victoria and Russia of Czars and the peasants' uprising and the rise of upper middle class during industrialization demand a closer understanding of the gendering of various narratives.

Works Cited:

- Abrams Indeed, Lynn. Ideals of Womanhood in Victorian Britain. 20 March, 2015. http://www.bbc.co.uk/history/trail/victorian_britain/women_home/ideals_womanhood_01.shtml
- Anton Chekhov. 23 March,2015. https://en.wikipedia.org/wiki/Anton_ChekhovJain, Sangeeta. Women in the Plays of George Bernard Shaw. New Delhi: Discovery, 2006.
- Knieff,Nancy JaneShumate. Unhappiness inLove andMarriage in the fiction of Anton Chekhov. 22 Apr, 2015.www.digitallibrary.unt.edu/ark:/67531/metadc131008/m1/1/1
- Kolodny, Annette. From ‘Dancing through the Minefield: Some Observations on the Theory, Practice and Politics of a Feminist Literary Criticism’ in Modern Literary Theory. Eds. Patricia Waugh and Philip Rice. NY: Hodder Arnold, 2001.4th Ed.
- Masterpieces of World Fiction. Selected Stories by Anton Chekhov. New Delhi: Rupa, 2014.
- Popova, Maria. George Bernard Shaw on Marriage, the Oppression of Women and the Hypocrisies of Monogamy. 23March2015.<http://www.brainpickings.org/2013/07/26/george-bernard-shaw-on-marriage.htm>
- Virginia Woolf, A Room of One’s Own. 20 Oct, 2015. <https://www.goodreads.com/work/quotes/1315615-a-room-of-one-s-own>

Decentralisation: The National Context

Dr. Vandana Munjal*

Introduction

Democratic decentralisation is often founded upon the notion that the democratisation and empowerment of local political bodies will create institutions that are more accountable to local citizens and more appropriate to local needs and preferences. However, international experience has shown that even the most ambitious attempts at decentralisation have failed to overcome regional and local dimensions of poverty and inequality. Moreover, the power to decide local development initiatives is often highly dependent on a state apparatus that respects the autonomy of local political institutions.

India is a very large and complex country with states that are larger than most countries in the world. Rural decentralization is essentially a state affair, and each state is following its own model. Five, at times six levels of government are involved,⁸ with over 1.5 million locally elected politicians making decisions that affect over 700 million people, 400 million of which are poor. Many books and papers have been published since 1990 on decentralization in India. These cover a wide range of topics, from electoral processes, to local finances, to gender exclusion, to local delivery of health or veterinary services. Politically rural decentralization is a sensitive matter. It is at the core of Constitutional debates, is addressed by Central Finance Commissions (CFC), is key to the delivery of rural development and safety net programs, and it involves amounts of money that although not large, are, at the margin, important for bankrupt states.¹

The 73rd Amendment to the Constitution formally recognised a third tier of government at the sub-State level, thereby creating the legal conditions for local self-rule – or Panchayati Raj. Since then, the process of decentralisation has been highly variable, ranging from ambitious attempts at Gram Swaraj in Madhya Pradesh to political re-centralisation in Karnataka. Early experiences have also revealed considerable uncertainty and confusion about the precise political, administrative and fiscal powers Panchayats have in relation to the States, line ministries, and local user groups. This, in part, reflects the fact that the 73rd Amendment gave the State governments considerable autonomy to interpret and implement the constitutional reforms.

Decentralisation is often founded upon a wider critique of central state planning, which holds that large and centrally-administered bureaucracies represent an inefficient and potentially destructive means of allocating resources within society. Two assertions are generally used to substantiate this claim. One argues that central state agencies lack the

*Head, P.G. Dept. Of Political Science, DAV College, Abohar.

‘time and place knowledge’ to implement policies and programmes that reflect people’s ‘real’ needs and preferences. A second and related assertion is that time and place gaps give local officials unlimited ability to distribute resources and extract ‘rent’ as they see fit. Such outcomes are believed to be particularly prone in poor countries, where government represents a vital source of wealth, and mechanisms to ensure accountable governance are often poorly enforced. In theory, decentralisation would undermine these opportunities by creating institutional arrangements that formalise the relationship between citizens and the state, giving the former the authority to impose sanctions on the latter. Decentralisation is also thought to create the conditions for a more pluralist political arrangement, in which competing groups can voice and institutionalise their interests in local democratic forums. Finally, it is argued that decentralisation creates institutions that are more amenable to local needs and preferences. However, a problem that is well-recognised in the literature on decentralisation is that the devolution of power will not necessarily improve the performance and accountability of local government. Indeed, in many cases, decentralisation has simply empowered local élites to capture a larger share of public resources, often at the expense of the poor. Reflecting on these relatively long-standing problems, an important strand of scholarship in the decentralisation literature has argued that the underlying distribution of assets and entitlements will have an important bearing on the extent to which marginal groups are able to take advantage of the mechanisms and opportunities created by decentralisation, and improve their ability to gain access to the resources provided by the bureaucratic state. Within rural areas, such assets and entitlements would include land, land tenure, formal property rights, and full rights of citizenship. An important hypothesis that emerges from this scholarship is that societies in which the distribution of assets and entitlements is relatively equal will produce more effective and accountable forms of governance.²

The case for democratic decentralisation is also predicated upon the notion that greater participation in local political affairs will improve the quality and reach of government services, particularly ones aimed at improving the lives of poor and politically marginal groups in society. For proponents of democratic decentralisation, a central challenge of improving the delivery of public services becomes one of ‘crafting’ institutions which can maximise participation in political life. In the context of poverty reduction, access to the resources and benefits that governments provide is associated with systems of governance that empower poor and vulnerable groups in society.

Central to much thinking about governance and accountability is the notion that effective and responsive governments require strong and vibrant civil societies to keep them in check. Perhaps the most recent and influential manifestation of this is Robert Putnam’s assertion that societies with high levels of social capital will organise to demand better government. Underlying this proposition is the notion that ‘civic engagement’ – participation in a wide range of political and non-political organisations – correlates strongly with effective

and responsive government between Centre and States as well as States and local governing institutions.³

The debates in the Constituent Assembly on Panchayati Raj were more fundamentally grounded. There were two differing viewpoints one of Gandhi and other of Ambedkar. The fundamental difference in philosophies of these two thinkers was on parliamentary democracy – Ambedkar believed the unit of development should be the individual while Gandhi believed the unit of development should be the village. A compromise was forged and in 1948, PRIs found place in the non-justifiable part of the Constitution: ‘The State shall take steps to organize village Panchayats and endow them with such powers and authority as may be necessary to enable them to function as units of self-government’. The Indian Constitution did not provide guidance on how to develop the PRIs. This responsibility fell to a series of national Committees that addressed issues of implementation of the Constitutional mandate. The first was the Balwantrai Mehta Commission in 1957. The committee believed that community development would only be effective when the community was involved in the planning, decision, and implementation process. The committee suggested that the basic unit of democratic decentralization was to be at the block level since the area of jurisdiction of the local body should neither be too large nor too small. The block was large enough for efficiency and economy of administration, and small enough for sustaining a sense of involvement in the citizens. Further, the Zilla Parishad should play an advisory role. The committee focused on the rural sector and recommended that the functions of PRIs should cover the development of agriculture in all its aspects, the promotion of local industries and other services such as drinking water, road building, etc. Constitutional Debates Gandhi in the issue of the Harijan of July 26, 1942: “My idea of village swaraj is that it is a complete republic, independent of its neighbors for its vital wants, and yet interdependent for many others in which dependence is a necessity. Thus the village’s first concern will be to grow its own food crops and cotton for its cloth. It should have a reserve for its cattle, recreation and playground for adults and children. The village will maintain a village theatre, school and public hall. It will have its own waterworks ensuring a clean water supply. This can be done through controlled wells or tanks. Education will be compulsory up to the final basic course.⁴ As far as possible every activity will be conducted on a co-operative basis. There will be no caste, such as we have today with their graded untouchability. Non-violence with its technique of satyagraha and non-cooperation will be the sanction of the village community. The Panchayat of five persons annually elected by the adult villagers, male and female, possessing minimum prescribed qualifications will conduct the government of the village. These will have all the authority and jurisdiction required. Since there will be no system of punishments in the accepted sense, this Panchayat will be the legislature, judiciary, and executive combined to operate for its year in office. Any village can become such a republic without much interference. Ambedkar’s in the Constitutional Assembly Debates in November 1948: It is said that the new Constitution should have been drafted on the ancient Hindu model of a state and that

instead of incorporating Western theories the new Constitution should have been raised and built upon village Panchayats and District Panchayats... They just want India to contain so many village governments. The love of the intellectual Indian for the village community is of course infinite if not pathetic... I hold that the village republics have been the ruination of India. I am therefore surprised that those who condemn provincialism and communalism should come forward as champions of the village.⁵ What is the village but a sink of localism, a den of ignorance, narrow-mindedness and communalism? I am glad that the Draft Constitution has discarded the village and adopted the individual. "The PRI structure was introduced in most parts of the country as a result of the Balwantraji Mehta Report. However, it did not develop the requisite democratic momentum and failed to cater to the needs of rural development."⁴ Reasons for this were:

- (i) political and bureaucratic resistance at the state level to sharing of power and resources with the local level institutions,
- (ii) the takeover of these institutions by the rural elite who cornered a major share of the benefits of the various welfare schemes,
- (iii) the lack of capability at the local level, and
- (iv) the absence of political will of the grassroots leaders.

The K.Santhanam Committee in 1963 was appointed to look solely at the issue of PRI finances. Its recommendations have influenced the thinking and the debate to date on this issue:

- (i) the Panchayats should have special powers to levy special tax on land revenues, home tax, etc;
- (ii) all grants and subventions at the state level should be consolidated and untied; and
- (iii) a Panchayat Raj Finance Corporation should be set up which would look into the financial resources of PRIs at all three levels, provide loans and financial assistance to these grassroots level governments and also provide support for non-financial requirements of villages.

The Asoka Mehta Committee was appointed in 1978 to address the weaknesses of PRIs. The committee identified the unsympathetic bureaucracy. Involvement in planning and implementation on a sizeable scale, fuzziness with respect to the role of PRIs and the domination of PRIs by elites as the key constraints in the way of PRIs. The Committee recommended the district as the administrative unit in the PRI structure, responsible for planning, coordination, and resource allocation and integrating urban and rural issues, reservations for scheduled castes (SCs) and tribals, participation of political parties in elections and financial devolution. The states of Karnataka, Andhra Pradesh and West Bengal, passed new legislation based on the Committee's Report. But 1978 onwards was an unstable period in State politics, and PRI institutions were unable to develop their own political dynamics.⁶

The GVK Rao Committee was appointed in 1985 to again revisit the obstacles in the way of effective PRIs. It recommended that PRIs at the district level and below be assigned responsibilities for planning, monitoring and implementation of rural development programs and that the block development office should be the spinal cord of rural development. More thinking on PRIs was initiated by the L.M.Singhvi Committee in 1986. The Gram Sabha (village assembly) was considered the base of decentralized democracy. The PRIs were to be viewed as institutions of self-government which would facilitate the participation of the people in the process of planning and development. It recommended that local self-government should be Constitutionally recognized, protected and preserved by the inclusion of a new chapter in the Constitution. It also viewed with dismay the irregularity of elections and engaged with the issue of the role of political parties in Panchayat elections, stating that a non-involvement should be consensual rather than through legislative fiat.⁷ The role of political parties in Panchayats has since then divided the advocates of PRI into two camps. On the one side are those such as Jayaprakash Narayan, writing within the Gandhian tradition of partyless democracy, who saw 'selfgovernment through faction-fighting will not be self-government but self-ruination', and on the other are those such as Asoka Mehta who support the involvement of political parties since it enables candidates, from weak economic backgrounds, to effectively compete with the backing of a strong organization. Constitutional status for PRIs was opposed by the Sarkaria Commission. But the idea gained momentum in the late 1980s especially because of the endorsement by the late Prime Minister Rajiv Gandhi who introduced the 64 th Constitutional Amendment Bill in 1989.⁸ Rajiv Gandhi's commitment to the PRI route to rural development seems to have emerged through a series of workshops he had as Prime Minister with District Collectors, where he got a sense of the insensitivity of District Administration and of wastage of funds for rural development. The 64th Amendment Bill caused much anxiety among opposition parties because they perceived it to support the partisan agenda of Rajiv Gandhi and it was defeated in the Rajya Sabha. Various other committees were instrumental for the design of rural decentralization in India, namely on decentralized planning. The ML Dantwala Group of the Planning Commission issued guidelines in 1978 for block level planning. The report of the Economic Advisory Council of the Prime-Minister on 'Decentralization of Development Planning and implementation in the States' was issued in 1983, and the Working Group on District Planning of the Planning Commission issued its report in 1994. The concern with decentralized planning stemmed from 'the slow rate of benefits flowing from the infrastructure already built up, as indicated by the" slow growth of productivity, and insufficient percolation of benefits to the poor and the socially disadvantaged sections, despite the proliferation of several poverty alleviation programs'. Centralized planning, it was felt, had not solved the 'basic problems of poverty, unemployment and inequality'.⁹

The 73rd Amendment only in 1993, with the 73rd Constitutional Amendment, were local governments in rural areas at the district, block and village levels, the PRIs, made an effective reality all over India. The 73rd Amendment is based on a political idea –

decentralized democracy. In it citizen participation is seen as key in both decision making and effective service delivery. This goal of reclaiming the state by the citizen has become important at this stage of India's development, not just because the bureaucracy and political class have reduced the state to a rent-seeking state, but also because the state's delivery mechanisms are showing signs of atrophy. The Ninth Five-Year Plan (1997-2000) states: "Past experience has shown that many development projects and programs, having laudable objectives, have failed to deliver the result because of the inadequacies of design and implementation. Time and cost overruns have become widespread and substantial in public sector infrastructure and investment projects. It is common knowledge that the benefits intended to be delivered to the people through development programs in the social sectors have not fully reached the beneficiaries because of the weakness in administrative planning and delivery mechanism"¹⁰. The 73rd Amendment Act was passed on December 22, 1992, on the basis of general consensus. After ratification by more than half of the State Assemblies and after obtaining the assent of the President the Act came into force on 24 April 1993. There are some radical features in the Act. They try to address some of the problems encountered by PRIs in previous years, by (i) granting PRIs Constitutional status, (ii) empowering socially and economically disadvantaged groups, Dalits, Adivasis, and women, (iii) ensuring free, fair, and regular elections, (iv) keeping terms fixed, Ninth Five Year Plan 1997-2000, 'Development Goals, Strategy and Policies.

A substantial literature on rural decentralization in India indicates that the profound social divisions existing in rural India are the biggest obstacle to inclusive and poverty reducing rural decentralization. Currently, decentralization efforts address this issue only through reservations and by targeting programs. Neither measure appears currently to be particularly effective in terms of improving opportunities for poor and vulnerable people, especially women and tribals, to meet their own social and economic development objectives. The two-state study reported in this section took an empirical snapshot of the relations between social structure and political participation and found gender, landlessness and ethnic origin to be a factors of exclusion, but caste and size of landholdings not to be. As importantly, the study identified education and access to information as two factors which have the most important attributes determining a person's inclusion in Gram Panchayat business. In addition to this it was clear that the returns to time invested in the Panchayat are very limited for poorer people – Gram Panchayats have few funds, there is little opportunity to determine how those funds are allocated, mechanisms of accountability are non-functional and, as yet, the Gram Panchayat's have little influence over the administration or line departments' quality of service.

References:-

1. Agnihotri, V.K et al. (1993): 'Human Resources for Development for Panchayats.
2. Anand, S and S. Kothari (1999): 'Minor Forest Produce and Community Control over Natural Resources under Adivasi Self-Rule', unpublished paper, Lokayan, New Delhi.
3. Gaiha, Raghav, P. D. Kaushik and Vani Kulkarni. 1998. Jawahar Rozgar Yojana, Panchayats, and the Rural Poor in India, Asian Survey, November.
4. Institute of Social Sciences (1999): Reported in Panchayati Raj Update, Vol. 65, May 1999, New Delhi.
5. Jain, S.P. (1999): 'Gram Sabha — Task Before the Nation' in: Ministry of Rural Development (1999), The Year of the Gram Sabha , Kurukshetra .
6. Krishna, S. (1993): Restructuring the Institutional Arrangements to Strengthen the Panchayati Raj, The Administrator.
7. Planning Commission (1997): Ninth Five Year Plan 1997-2000, Development Goals, Strategy and Policies, Government of India, New Delhi.
8. Madhava Menon, N.R. (1995): Democratisation of the polity and restructuring of the judicial system at the grass roots, Kurukshetra.
9. Mahipal (1997): 'Panchayati Raj in India: Issues and Challenges', Kurukshetra.
10. www.wikipediaencyclopedia.com

Security Dilemmas and the Need to Belong: A Reading of Saadat Hasan Manto's “Hattak” (“Insult”)

Navdeep Kaur*

A sense of security is central to every person's physical, intellectual, emotional, economic and spiritual well-being. Acts that threaten the security of women represent a complex social problem. The root of the problem lies in attitudes, behaviours and institutions that sustain unequal power relations between men and women. These hierarchical gender relations promote exploitation of women. Because of the assumed subordinate status of women, much of the gender exploitation is considered normal and enjoys social sanction. The cultural and social factors are interlinked with the development and exploitation of women and violent behaviour towards them. Men take up stereotyped gender roles of domination and control, whereas women take up that of submission and dependence. Many women have a constant sense of being weak and feel a need of protection whether physical, social or economic. The community – social, economic, religious and cultural institutions – provides the mechanism for perpetuating male control over women's sexuality, mobility and labour. Gender based violence contributes to a sense of fear and anger among women. Women may modify their activities to lessen the perceived risk thereby hampering their access to education and employment opportunities, and limiting their freedom to participate as equal citizens in community life.

Literature has acted as a powerful medium to articulate the security concerns of women from time to time. It was nearly seven decades ago that Saadat Hasan Manto (1912-1915) had the vision to present glimpses of the lives of women who face threats to their security from different quarters. In a number of Manto's stories, there is a sense of urgency to voice the concerns and dilemmas of women who have been segregated from the mainstream society. These women are consumed like commodities to satisfy the male sexual needs. Manto creeps into the psyche of these female sex workers and unravel their economic, social and religious, psychological and emotional concerns and worries. “A writer of his caliber did not have to be a woman to perceive the dehumanization of a society which nourished the callous male exploitation of female sexuality” (Kumar 103). In his stories, he represents the fraught and uncertain lives of women who are compelled to remain out of general sight of ‘respectable society’. Society has produced the infernal world of flesh trade; it also provides full sustenance to it but denies acknowledging the existence of its inhabitants. Manto's choice of sex workers as protagonists of his stories earned him a label

*Assistant Prof. (English), Panjab Uni. Constituent College, Sikhwala, Sri Muktsar Sahib.

of “a prince of pornographers” (Sadiq 305) and he was severely criticized in the literary circles of his times. Referring to his choice, Manto observes, “If any mention of a prostitute is obscene then her existence too is obscene. If any mention of her is prohibited, then her profession too should be prohibited”. He defends his choice to talk of sex workers in his discursive writing, “We can talk about barbers, washer men, vegetable sellers and inn-keepers. We can tell tales about thieves, petty criminals, dupes... We can spin yarns about djinns and fairies... why can't we think of the prostitute? Why can't we pay attention to her profession?” (qtd. in Narang 74). He declares that a sex worker is a part and product of our society hence a writer can talk about her existence. Manto maintains that the house of a prostitute is like a dead body which society carries on its shoulders. This dead body may be highly decomposed, stinking, terrifying and frightening but it is related to the society and there is no harm in looking at its face. Manto's choice to make these women the subjects of his stories is a conscious socio-political act of empathy with the down-trodden sections of society who survive on the periphery; who are the victims of individual's exploitation at the hands of fellow human beings.

This paper shall focus on Manto's short story entitled “Hattak” (“Insult”). The story can be read as a study in patriarchal violence that targets woman in multiple forms. The author tries to map the internal struggle within the female psyche in the text. The story can be regarded as the protagonist's journey through life looking for validation and a place to belong. The narrative describes the manner in which female sex worker's need to belong forces her to conform to violence. The author also explores the abject treatment meted out to a woman who is, in turn, helpless to fight her circumstances because of her economic dependence on her male customers.

The story “Hattak” appeared in a collection of short stories entitled *Manto ke Afsane* in 1940. It was later adapted as a radio play by Manto, when he was working with All India Radio, Delhi in 1940-42. The story deals with the life of a female sex worker named Sugandhi. It focuses on one incident that illuminates Sugandhi's entire life. Manto, no doubt, captures mute acceptance of a victim's status by her in the text. But the story does not depict her as a meek and hunted victim throughout, she shows the courage to step out of the ‘ghettos’ of silence in order to articulate her resistance to the social machinery that works in collusion with her male exploiters. She stands up to confront the exploitative forces; she ventures out and refuses to cater to the needs of her callous and double faced male clients. Sugandhi realizes that speaking out against exploitation is the only way to be at peace with her inner self.

Manto takes us to the very centre of a sex worker's existence, to her dreary room in the beginning of the story. The squalor of her room reflects the squalid and sordid situation of her life. The room is littered with odds and ends, the back of the only cane chair in the room is dirty from overuse, the black cloth covering the gramophone is in tatters, the mangy dog is resting on dried and withered *chappals*, and the parrot's cage is strewn with

stale peels of fruit. Her name ‘Sugandhi’ meaning ‘sweet fragrance’ bears a special significance with reference to the conditions of her room as well as her life. The parrot and the dog are her only constant companions and hence provide her a sense of emotional security. There is a portrait of Lord Ganesha, adorned with fresh and wilted flowers. The presence of oil lamp and incense sticks on a small shelf near the portrait is proof of her faith in the god. Her religious faith provides her an additional sense of security and also the strength to survive in the hostile world.

Sugandhi is lying face down on her bed; a thoroughly drunk client has just left her. The ‘sanitary’ inspector of the Municipal Committee has just left her after shaking the ribs and bones of her body. A lump of flesh, turned bluish from excessive squeezing, bulges out of her right underarm. He did not stay for the night because he had “high regards for his wife who loved him a lot”¹ (Manto 165). There is brutality in Sugandhi’s encounter with her customers as these men cannot dissociate violence from their sexual acts and hence pinch her blue and black. Sugandhi’s ‘physical labour’ is nothing other than a physical assault. But she does not give it much thought as it gives her sound sleep. The bestial treatment meted out by men to Sugandhi suggests that for the patriarchal subject she is a mere subject of sexual gratification. Sugandhi tolerates this violent and cruel behaviour as she is forever hungry for love and so melts into submission at the slightest suggestion of warmth from a man.

Sugandhi has created a make-believe world of love and lies to sustain her existence. She expects to be desired as well as loved by someone. She does not consider her work as a flesh trade in which she is an object for sale. She has, right above the table on the wall, four framed pictures of different men who are her regular clients. She thinks that she is in love with all of them. But in reality the men give her only coins and not love. Madho, a *hawildar* from Pune, manipulates and exploits the situation to his advantage. He lures and deceives her through the use of various tactics. He takes away her earnings by playing a wicked game of husband-wife. He exercises control over Sugandhi not through the use of brute force but he achieves control over her through discourse. He says to her, “Do you realize what you are bargaining for? ... for seven and a half rupees you’re promising to give me such a thing that you cannot give and I have come to take such a thing that I cannot take.” He adds, “I want a woman; but do you, at this moment, want a man?” (Manto 169). He comforts her with his soothing words and provides her the much needed emotional security through his regular visits, unfulfilled promises of financial help and meaningless utterances. Madho, thus, uses her as a tool in order to ease his own life’s burden. Sugandhi is happy to live this lie as there is no possibility of living its truth. Manto describes her situation in these words, “those who cannot get real gold, settle for gold-plated imitations” (Manto 170).

The things that Sugandhi desires most in life are security and love. She yearns to belong to another human being. The crux of her misery lies in her desire to ‘belong’. Martin Heidegger considers the concept of “belonging” to have negative connotations. In *Being and Time*, he states that only non-human identities are said to be “belonging to the world” (13). Similarly, he considers “belonging to others” to be an irresponsible act for these ‘others’ control the

consciousness of the particular person, thereby depriving her or him of its own accountability. Sugandhi wants to belong; she tries to belong to Madho. Madho becomes a compulsion for her and she melts at a slightest gesture of affection by him. She wants to rub love all over her body so that the physical relation permeates to the inner world of emotions and sentiments.

The moment of realization arrives in Sugandhi's life when she is rejected with a mere '*ooun*' by a *Seth*, a 'gentleman' who has come to the 'Prostitute Quarters' in the middle of the night. For the *Seth*, she is an object of desire; her body becomes an object – inspected, surveyed, judged and finally rejected by the buyer. Her sensibility is totally numbed for a moment, but soon she regains her consciousness. These moments of humiliation make her realize the need to demolish the make-believe world, so consciously created and maintained by her. Her rejection by the *Seth* fills her with the feelings of anger and frustration. Her attempts to avenge her insult are thwarted as the *Seth* leaves her in this bewildered state, even before she could comprehend the situation. She feels as if the *Seth* has spat on her face and has said, "ten rupees for this woman, what's wrong with a mule" (Manto 174). A strong desire to re-enact the whole episode in order to avenge her insult catches hold of her. She wishes that the *Seth* would come to her once again and at the sound of "*ooun*" she would pounce on him like a wild cat and scratch his face with her nails. She would tear her clothes, stand before him stark naked and say, "This is what you came for, didn't you? Take it without paying the price but what I am, whatever is hidden inside me, neither you nor your father can take that" (Manto 177). She finds it hard to handle the intensity of her anger and helplessness. 'What's the lack in me?', she asks this question of each and every object around her.

Sugandhi seeks to escape the feeling of humiliation and insult and hence directs her anger towards Madho, a patriarchal subject who symbolizes her physical, emotional and economic exploitation at the hands of inconsiderate society. She steps out of her zone of peace, security and silence to confront her exploiter and to make sense of her world in its reality and entirety; therein lays her emancipation. Sugandhi throws away Madho's picture out of the window of her room thus snapping all connections with him. The completely docile Sugandhi turns into a strong person and pulls out her client's pictures and throws them violently in the street. She rejects them all because they are ugly. She expresses her complete rejection of them with an "*ooun*". She rejects Madho completely whom she used to refer to as her husband. She laughs and repeats Madho's dialogues to develop her revenge. She questions Madho's authority over her and drives him out of her house. She finally wakes up from her self-imposed slumber to voice her silence as she is now prepared to face the truth of her existence.

A close reading of the story reveals the author's attempts to capture and represent in his fictional narrative the feeling of insecurity as experienced by a female sex worker. He narrates her sufferings through an authentic portrayal of the miserable plight of woman. Here, the author does not highlight her as a mere symbol of sexual gratification but seeks to

show her inner strife as well as the struggle waged by her against her exploiter in order to survive in the hostile world. Manto's story acts as a potent weapon to disturb the established modes of existence through a sensitive focusing on generally excluded members of society.

It can be safely maintained that the story points to a range of factors and conditions that undermine the security of women. The story advocates the need to address the root cause that poses a threat to the existence of woman in a male dominated society. It emphasizes the need to change underlying attitudes, values and structures that view woman as potential victim and facilitate insecurity as well as inequality. The story stresses the need of an initiative, on the part of the woman, for her liberation. The author maintains that a woman should not remain a passive and mute spectator of her miserable condition rather she should confront, challenge and ouster her exploiter. The story advocates that woman should shed her silence and false sense of security in order to gain emancipation and empowerment.

Works Cited:

- Heidegger, Martin. *Being and Time*. Trans. John Macquarrie and Edward Robinson. Massachusetts: Blackwell, 2005.
- Kumar, Sukrita Paul. "Surfacing from Within: Fallen Women in Manto's Fiction." *Life and Works of Saadat Hasan Manto*. Ed. Alok Bhalla. Shimla: Indian Institute of Advanced Studies, 2004.
- Manto, Saadat Hasan. *Dastavez* (in Hindi). Vol. 1. New Delhi: Rajkamal Prakashan, 1993.
- Narang, Harish. "Ideology, Aesthetics and Architectonics of Manto." *Life and Works of Saadat Hasan Manto*. Ed. Alok Bhalla. Shimla: Indian Institute of Advanced Studies, 2004.
- Sadiq, Muhammad. *Twentieth Century Literature*. Karachi: Royal Book Company, 1983.
- (All translations of the story are mine.)

Emerging Trends in Indian Democracy

Dr. Sharda Nain*

Abstract:

India holds an enviable record in institutionalising democracy in the form of Constitutionalism, a competitive party system, regular elections, rule of law, codification of political and civil rights, and guarantees of free press and a vibrant civil society. But even as India satisfies conditions that permit it to claim the label of democracy with some justification; a majority of the people continue to suffer from unimagined hardships, with the most vulnerable among them-the poor among the scheduled castes and tribes, hill people, forest dwellers, tribals, and women particularly the girl child- at tremendous risk in matters of both lives and livelihoods. In the closing decades of the twentieth century there has been an almost complete intellectual triumph of the twin principles of marketization and democratization . A paradigm shift of this extent and magnitude would not have occurred in the absence of some broad consensus among policymakers and intellectuals around the globe on the desirability of such a change. There seems to be a two-fold causal nexus between marketization and democracy. The first is more direct, stemming from the fact of both systems sharing certain values and attitudes in common. But there is also a second more indirect chain from marketization to democracy, which is predicated via three sub-chains (i) from marketization to growth, (ii) from growth to overall material development welfare and (iii) from material development to social welfare and democracy. We examine each of these sub-links in detail with a view to obtaining a greater understanding of the hypothesized role of free markets in promoting democracies. In the later part of the paper we examine the socio-economic outcomes governing the quality of democracy in a specifically Indian context.¹

Introduction

A future historian writing of our times, would most likely describe the closing decades of the twentieth century as marking the complete intellectual triumph of the three principles of :

(i) Marketization, i.e. the liberalization of domestic markets from the extensive government controls; (ii) Globalization: This implies freer international mobility of goods, services, financial capital and perhaps, more arguably, labour by the dismantling of the regime of extensive and high tariffs, quotas, current and capital account restrictions which had been in place since the end of World War II; (iii) Democratization: or the process by which from the mid-1980s, several autocratic regimes were replaced by regimes granting greater political liberty to its citizens.

*Asst. Prof., P.G. Dept. Of Political Science, D.A.V. College, Abohar.

Public opinion has always been regarded as an essential pillar of a vibrant democracy. Its quality is governed by a host of factors, some historical and others societal, whereas its effectiveness depends directly on the influence that intellectuals are allowed to exert on the decision-making processes of that society. Formal theories of how public opinion shapes the course of democracies may be found in Easterlin , Putnam et al, Avner & Putterman etc. but we adopt a more informal mode of analysis here.² One can distinguish at least four major avenues through which intellectual opinion can contribute to national policy in a modern democracy.

1. Direct participation in the political process
2. Serving as advisors and consultants on official and semi-official bodies concerned with policy formulation.
3. Serving as public representatives on boards of banks, institutes, companies etc. and
4. Influencing public opinion and acting as its watchdog through books and popular media vehicles, especially newspapers and T.V. All of these four possible roles have been steadily eroded in India, over the past thirty years or so, till we find today, that the intellectual has been virtually expelled from the national consciousness.

Direct participation of intellectuals in the political process, while a common feature of the Independence struggle, seems to have steadily declined over the years in direct proportion to the increasing role played by money power in the electoral process and the growing nexus between crime and politics. But while the withdrawal of the intellectual from the political arena is possibly in line with trends elsewhere, the gradual eclipse of the advisory role of the intellectuals in policy-making bodies seems to be a specifically South Asian feature. This has not been without an impact on the general quality of these organisations, which have become pale shadows of their former selves. Their autonomy has been seriously eroded. Several of them are today dominated by social scientists , who predictably end up acting as apologists for policies determined by the political leadership, instead of functioning as independent and disinterested advisers. The politicization of the top policy-making bodies has in due course filtered downwards. The role of public representatives on boards of banks, companies etc.³ had traditionally been allotted to distinguished senior professionals, experts or academics. However, over time, political appointees on boards have become a well-established norm. Liberalisation and the growing importance of the corporate sector has in turn, implied a desire by big businesses to exercise control on banks and other financial institutions. The list of board members of several financial institutions appears today like the Who's Who of corporate India . The above noted features have left intellectuals only one avenue for expressing their involvement with social concerns viz. the popular media comprising primarily newspapers. But as discussed above, the Indian media today

is largely dominated by the interests of large business, and fully preoccupied in its role as an endorsement of official policy.

Beginning in the 1970s, there is in evidence in India, a progressive deterioration in the rule of law, with political protection and patronage seeping into vital arms of the state machinery including civil services, police and even the judiciary. There is no escaping the fact that tardy judicial reforms, huge backlogs of civil and criminal cases, and the criminal-politician nexus, have seriously eroded public confidence in the rule of law. As discussed above in the context of corruption marketization was widely anticipated to act as a check on these tendencies. However, while marketization has to some extent emasculated the enormous power wielded by the bureaucracy in the prereforms era, it has given rise to vested corporate interests, which have built up their own extensive networks within various arms of the government, and are often successful in influencing legislation to their advantage in matters bearing on their interests.⁴ This lobbying power can often become substantial at the state levels, though by the very nature of the subject, concrete evidence is hard to come by.

Emerging interpersonal inequality in the wake of reforms in the Third world has attracted a great deal of attention from policymakers and academics alike. Several explanations have been advanced for the disequalizing impact of liberalization and globalization : (i) So far as trade liberalization is concerned, the so-called Wood thesis leads us to expect a narrowing of wage differentials in Last Developed Countries , a conclusion hardly borne out by the empirical data available. One plausible resolution of this paradox revolves around the inappropriate choice of technologies in Last Developed countries. The import of First World technologies in Last Developed Countries often leads to a scarcity rent for skilled labour, aggravating wage inequality see Lindert and Williamson. stresses an alternative line of explanation in terms of the political economy of distribution, in a world of mobile capital and immigration inflexibilities. (ii) In assessing the distributive impact of globalization on Last Developed Countries, a key factor is not usually accounted for. This refers to the domestic policy changes which have to be initiated to render the country an appealing destination for foreign investors. Labour market reforms typically involve relaxation of safety norms, reducing job security, and weakening of collective bargaining mechanisms. These have obvious impacts on wage dispersion. Tax reforms have been characterized by a rolling down of corporation taxes and taxes on trade, with a corresponding rise in indirect taxes. This has been accompanied by a reduction in the progressivity of direct taxes, especially at the top end. This has had some adverse impact on inequality. Privatization and disinvestment, wherever it has occurred on a significant scale, has often led to rapid concentration of national assets in the hands of a small elite, high service charges by the privatized utilities, employment restructuring and erosion of regulatory control. Such a combination of factors has considerable potential for an unfavourable distributional impact. (iii) Domestic financial sector reform tends to raise the share of financial services

in the GDP. A particularly puzzling feature, for which there seems to be no analytical explanation is the relative rise in financial sector salaries as compared to salaries in the manufacturing sector. Another factor contributing to inequality is the redistributive impact of the budget which in a largely deregulated financial environment could transfer labour incomes to holders of state bonds. (iv) The liberalization of cross-border direct investment flows, as well as bank loans and portfolio investments has three potential consequences for inequality.⁵ Firstly, there is the “disciplining” effect on domestic policy, involving tax reforms and restraints on organized labour which have already been discussed above. Secondly, capital inflows are likely to lead to real exchange rate appreciation, which shifts resources to the non-tradeables sector and encourages sub-contracting and wage cuts in the tradeables sector to preserve profit margins. Thirdly, increasing openness of the capital account increases the vulnerability of the domestic economy to financial crises. These crises have pronounced disequalizing effects, especially in countries with weak institutions and social safety mechanisms⁶. For India, data on interpersonal inequality is extremely scanty. However, in spite of this obvious limitation, a few empirical exercises have been attempted. The central features from empirical studies such as Mundle & Tulasidhar (1998), Ravallion and Datt (1999) and Jha (2000) are that in the 1990s there has been a moderate rise in both rural and urban inequality, accompanied by a decline in urban poverty, but the widening of the rural-urban income gap has implied a significant increase in overall inequality.

Environmental policy is plagued by two interacting market failures, relating to environmental depletion and environmental technology. The invisible hand, of itself, often fails to fully internalize pollution externalities and hence, pollution levels exceed the social optimum, in the absence of state intervention. In a representative democracy, where governments lean heavily on industry support, the level of taxation on pollution or enforcement of environmental standards will most likely fall short of bridging the wedge between private and social marginal costs. Similar problems beset the use of natural resources. Market prices will rarely reflect the true of natural resources, and governments will be reluctant to enforce such prices so that there is likely to be an accelerated rate of resource depletion.

The issue of corruption, though a key constituent of discussions on development, has suffered from a dearth of systematic analysis based on reliable data. Policy initiatives to tackle the issue have also correspondingly been slow and ad hoc. Globalization has meant that the issue of corruption can only be resolved through sustained international cooperation, and here, once again, the very nature of the enterprise has impeded progress.

1. Influence Market Corruption, which involves efforts on the part of private interests to gain control of policy processes, using the politicians and bureaucrats as middle-men.

2. Elite Cartel Corruption, encompasses a network of political, business, military and ethnic elites, aimed at preserving their hegemony in a largely poor and illiterate society.

3. Oligarch and Clan Corruption, corresponds to a corruption nexus revolving around a handful of government or military officials and entrepreneurs, whose power derives from personal resources.

4. Official Moghuls typically characterize several African or Latin American dictatorships, wherein officials brazenly plunder society for personal gain.

Of course, nobody is denying that the origins of corruption in India are historical, dating well back to pre-British times. But confining ourselves to the modern period, corruption issues first started coming to wide public attention in the 1970s. This was attributed by a wide section of contemporary commentators to the license-permit Raj then prevailing. As a matter of fact, the rent-seeking hypothesis seemed to serve as a convincing explanation of this type of corruption. One of the major arguments in favour of reforms, espoused by early proponents was that reforms would make a serious dent into corruption, if not eliminate it altogether. In retrospect, however, this claim turned out to be remarkably naïve. Corruption did not recede with the scaling down of controls, but resurged with redoubled vigour. The primary reason for this seems to have been overlooked in the literature viz. that the character of corruption was metamorphosed in the transition to a liberalized economy.⁸

Beginning from the middle of the nineteenth century right up to the Second World War, there were two diametrically opposed utopian visions – the capitalist vision in which democracy and capitalism were seen as mutually reinforcing, and its Marxian antithesis that only the elimination of markets and private property could result in the emancipation of the working classes and the establishment of a genuine democracy. It is interesting to note that whereas Marxist intellectuals have long abandoned this orthodox Marxist position, the laissez faire proponents have, if anything, become even more orthodox in their emphasis on market forces. Apart from the economic efficiency arguments put forth in favour of the laissez faire economy, several prominent thinkers have seen markets as reinforcing the democratic forces in a society. This was viewed as operating through two channels – via a common set of values and attitudes shared by the two systems and an indirect linkage of marketization and democracy via growth, material prosperity and welfare. However we have tried to show that in general, societies may exhibit distinct preferences towards increased material prosperity and democratic institutions, depending on the stage of their development. In particular, material welfare need not always be followed by greater democratic aspirations. Thus the proposition that marketization enhances democracy via a benevolent chain based on growth, social welfare and a shared value system, is fraught with far too many qualifications, to claim general validity.

References:

1. Chadda, M. (2000) : Building Democracy in South Asia , Vistaar Publications, New Delhi
2. Ray, N. and B. Chaudhury (2004) : Understanding Social Choice through PL Factor of Indian Dirty Industries, New DelAustin, Granville. 1999. Working a Democratic Constitution: The Indian Experience. Oxford University Press, Delhi: Ministry of Statistics & Programme Implementation, Government of India.
3. Austin, Granville. 1999. Working a Democratic Constitution: The Indian Experience. Oxford University Press, Delhi
4. Chandhoke, Neera. 1995. State and Civil Society: Explorations in Political Theory. Sage, Delhi.
5. Dreze, Jean, and Amartya Sen. 2002. India. Development and Participation. Oxford University Press, Delhi
6. Dyson Tim, Robert Cassen, and Leela Visaria. 2004. Twenty-first Century India: Population, Economy, Human Development, and the Environment. Oxford University Press. Delhi
7. Economic and Political Weekly, 2004. Special issue on “Poverty Reduction in 1990s: Towards a Better Understanding”. Vol 38. No 4. pp 296-412
8. www.wikipediaencyclopaedia.com

Stress and Role of Yoga to Relieve Stress

Dr. Urmil Sethi*

Stress and strain are physics terms. This is an all important psycho- spiritual aspect of yoga. Yoga is not only the science of all sciences but a glorious part of our cultural heritage. Mankind had always tried to attain peace and happiness through whatever means that it can easily get. The urgency of getting an ideal method of attaining such a mental peace has become great in view of the tremendous increase in the stress and strain of life in people. The rapid industrialization and urbanization leading to excessive crowding, too much of competition, excessive hurry and worry are some of the important factors which intimately lead to physical and mental changes. Initially a man tries to adept himself to face such a strain. If a situation is allowed to continue for a long time, the person fails to adept himself and starts getting the manifestations such as palpitation in psychosomatic changes one by one and ultimately became victim of one of the psychosomatic stress disorders such as hypertension, chronic heart disease, peptic ulcer, diabetes mellitus, ulcerative, colitis etc. The incidence is still increasing or is affecting more and more in younger generation.

Stress is something that denormalises a person or deforms from the normal state. Our body has five layers and stress is present in every one. Strain is the tendency of an organism to come to the normal state. It is an effort to become normal. A healthy system is elastic system. It is less deformed under stress, It regains normal state quickly and completely. According to Dr. Hanseelye, “Stress is the non specific response of the body to any demand upon it”. Stress is virtually a subjective experience as our psyche instinct reacts actively to a subtle emanation of anxiety, fear, anger disorders, hatred and other bad emotions.

Stresses are of every layer of the body:

i) **Stress of the body:** Disease causing factors are Un-cleanliness; Overwork and under work; Over eating and under eating. Medical research about eating describes that more people fall ill or die because of over eating rather than under eating. With under eating man also becomes diseased. Less amount of proteins, vitamins etc affect our body. In hills calcium fluoride is less in water and tooth decay is possible there. Moreover, potassium Iodine is also less in hills and thyroid gland function is affected with it; it can be due to (Foreign matter in the body) When extra material enters our body then we become diseased. For example living like Bacteria, semi living like virus and dead like onion. Juice, chilly and cosmetics and any other intoxicant thing and then the probable reasons for getting stress disease by a particular person depends upon his genetic factors. If parents have some disease the children may have that disease also.

*Associate Prof., DAV College of Education, Abohar.

ii) **Stress of prana** :- The stress of the prana occurs due to Impure or polluted air. When pure air does not reach our body or we live in impure air, which is not good for us, then we become diseased person; Less blood circulation i.e. When prana does not reach the different parts of body. Blood Circulation is less than normal. Then it causes disease and Wrong Posture. Wrong posture becomes the cause of prana stress. If proper postures are not used, the disease occurs in liver, internal sex glands and intestines etc.

iii) **Mental stress or emotional stress**: - Mental stress and strain is the major problem of today, adversely affecting the health of the entire fast-moving world. Man is faced with tremendous rise of inner and outer forces, making him perplexed, anxious, angry and moody when he feels frustrated due to non-fulfillment of his desires and expectations. Naturally this results in mental and emotional imbalances, causing disharmony in his life and making him susceptible to various psychosomatic, mental and nervous ailments of functional and chronic type. It arises due to the feeling of non achievement, lack of security and problem of self image.

Mental stress is more in examinations among the students. Headache, pain in stomach and high blood pressure are normal diseases to some in the examination days. In western countries, it is checked by Semester system and continuous cumulative records cards.

There can be stress due to feeling of belongingness or Stress of losing someone dear. This type of stress arises among all the children, men and women e.g. If the child does something wrong or he does not do what his mothers asks him to do. Then mothers wording that I will not become your mamma affects and child he does what the mother wants because of the stress of losing mother is aroused in the child.

Stress arises when sudden unpleasant news comes such as loss in business, war or any calamity; Over-straining of Nerves, senses and body organs; Occupational demands such as distasteful work or jobs creating severe demands, interims of responsibility, time and performance; Poverty, Lack of family adjustment or harmony, unemployment etc; lack of self control and personality integration, poor physical and mental health; rising incidence of conflicts due to social, caste or religious prejudices with underlying feeling of superiority, hatred, resentment etc and other numerous problems like population, and knowledge explosion, rapid social change, outmoded methods of edu; custom, belief etc. and technological advancement make the man intellectually and technically giant but emotionally pigmy.

IV) **Intellectual Stress:-**

1. Physical, prana, mind and emotions keep it involved, consumed most of the psychotics or mental energy and very little time and energy is left to devote to the basic issues of life. This stress is on Gyanamaya kosha.

We do not reduce our desires and complexities but we grow our complexities. We should sit for ourselves for some time and our anxieties will be removed, but in our life, we do not sit for some time to have some intellectual problems, we should find out its ways to solve it. But we see that some problems do not define even the area of reason and the result is that they confuse. Why

we do not feel anand ? Why there is stress? The answer is that we do not know how to have the best of everything. Vivekananda said, “Bliss is in the enjoyment. It is after all the state of mind. It is not in the material input. If we have positive approach and start feeling happy and better in whatever circumstances, we shall have the enjoyment all the same.” We should believe in simple living and enjoyment in this.

Diseases arising out of stresses :-

1. Our organism is basically an elastic organism. When the situation of stress is continued for a long time, one starts getting the manifestations of psychosomatic changes one by one such as irritability, nervousness, sleeplessness etc.

2. If the process is not checked in time, he gets some additional manifestations such as palpitation, increased pulse rate, rise of blood pressure etc. When body, mind and intellect cannot cope with stress situation and then have low and high B.P.

3. As these changes continue, he ultimately becomes a victim of the psychosomatic stress disorders such as hypertension, chronic heart disease, peptic ulcer, diabetes mellitus, bronchial asthma etc.

The reasons for getting anyone of these stress diseases by a person depends upon his genetic factors, unsuitable food, various environmental factors, fatigue, sleep psychosomatic, constitution such as nutritional status, habit, climate, nature of work etc.

Strain is something that helps one to recover. Bodily diseases occur due to mental conditions. So one should keep the balance between body and mind. One should keep his mind set and fit, all things will become good. An acidity diseased person should have a thorough view of his life and reduce the stress. It is gratifying to note that more and more powerful drugs are being invented and marketed for the benefits of such patients. But the use of such powerful drugs has its own drawbacks such as drug dependency and toxic manifestations if used for a long time. Moreover the disease does not removed permanently.

One of the basic issues is the body in a better position to live in good health, If it is kept under constant stress or If the system is kept in good health, then it is in a better position to face stress.

So scientifically, healthy system is in a better position to face stress.

1. **For physical stress :-** Though the overall aim of yoga remains the same, the well being of the physical, mental and spiritual Health, the methods described to achieve this goal are manifold. Those advocate Hatha yoga or the practice of physical postures feel that this is the most fundamental part of yoga and it must be practiced by everyone. To recover physical stress one should do asanas and shat karams. We should do these asanas to remove stress. Balasana, Uttansana, Adhomukha asana, Setu Bandha sarvangasana Utthita Trikonasana , Savasana. one should try to do other procedures such as “Pranayama” or breathing exercise in daily routine, not when the person suffers from particular disease. One should do conscious relaxation e.g. shavasana.

2. **For Prana stress:** - For this, concentration of mind is necessary. By concentration on the painful part or diseased part of the body, the increase blood circulation will be in that and with more oxygenisation, health will improve. Medical scientific way is that “mind should think that I am coming to the normal point and a person becomes normal from cell to body and body to mind only with thinking, without taking help of medicines and improve oneself. If one can learn to control the unstable mind all the bodily systems automatically become adjusted. When oxygen is inhaled at high pressure, a quantity of it gets into the plasma which is enough to take care of the needs of a resting man and the hemoglobin and the body cells become fully, saturated with oxygen.”

Nadi Shodhana is the most commonly practiced pranayama for stress relief. This breathing technique involves inhaling through the left nostril and exhaling through the right, then inhaling through the right nostril and exhaling through the left.

3. **Regain Normal Emotional State:** - Our emotional stress lies in our muscles and in the form of some chemical changes. The emotional commands are communicated by the brain through minute quantity of chemicals.”

1. **A Conscious Relaxation Technique:** - Loosen the muscles. Tension producing chemicals are thus dislodged from the muscles and are separated from the blood stream in the kidney. The feeling that the person has conscious relaxation is that we feel lightness as we swim on the water. Mind goes into the alpha state. For sound mental health, one has to cultivate sound mental attitude towards sex life, work dependents, family members etc to tone up our behavioral pattern through love, compassion, feelings of mutual well being to ensure the inner and outer harmony through understanding.

2. **Gyanomaya:** - Stress can be reduced by having the proper perspective and putting a value on emotional stability. We can improve genetic stock by good habits good food not bad habits.

We can improve our life perspective by thinking questions and answers which arise in our mind. Our emotional stress will become nearly zero.

4. **Intellectual stress:** - It is mostly hypothetic problem that puzzles us. The crisis that we may presume, that we may face never come. We creative tensions by hypothetic problem.

2. We live under tension that he is doing this or he is doing that etc?

Krishna says in Geeta, “One who does good of others, never falls degenerates, never attain a pitiable condition.

5. **Bliss or Anand:** Fifth level of our existence is Anand. (Peace of mind) It means Ishwar pranidhan or Surrender to Him.

For Meditation and to relieve stress, one should,

(1) Find a quite relaxing atmosphere. (2) Find a comfortable position. (3) Take in a deep breath. (4) Try to clear your mind and avoid distractions if you can. (5) Imagine yourself in a happy place. (6) Close your eyes continue to breathe deeply and imagine all your body slowing down. (7) Take your time.

According to Pitrim A. Sorokin, “An unequivocal recognition that the sensate form of culture, with its major and minor premises is not the only great form of culture and is not free from many defects and inadequacies. Ideational and Idealistic forms in their own way are as great as the sensate form. It is known, that when there occurs an improvement in the material wealth of the people, the stress and strain of the mind also increase that is why in these countries the incidence of stress, disorders are also increasing at a very fast rate . In order to lead a happy and prosperous life in a well developed country with utmost harmony in the society, yoga can play important role through the world. In fact, Yoga is defined as science of mental control. It not only helps to control the mental state, but also helps to improve the personality and behavior, If it is practiced regularly from the childhood. If appropriate yogic practices are continued it may delay the aging and degenerating process, the person may remain active and energetic for a considerably longer period of life. These yogic practices not only help in reversing the process of these diseases but also improve the resistance of the body at the psycho-physiological level. Such non medical measures should be adapted to over the stressful situations and to maintain an alert mental state. This would largely avoid severe mental depression resulting from too much use of tranquilizers.

References:

1. Dev, Acharya Bhagwan, ” *Pranayama, Kundalini and Hathyoga,*” Diamond Pocket Books, New Delhi, 1999.
2. Iyengar, BKS, “ *Light on yoga*”- *The Classic Guide to yoga* Harpercollins Publishers India, New Delhi.2003
3. Sarasvati, Swami Satya Prakash, “ *Patanjali Raja Yoga*”. S. Chand and company Ltd, Ram Nagar, New Delhi. -1984
4. Satyapal, “ *Vaigyanik Yogasan,*” Hind Pocket Books Pvt. Limited Delhi,1980
5. Tripath, O.P, “ *Yog Pranayama and Antarman,*” Mayank Parkashan, Pratapgarh, Allahbad.2006
6. Verma, Dr. V., “ *Yoga for Health*” Hind Pocket Books Pvt. Limited, Delhi-1992
7. Yogendra, Dr.J” *Cyclopaedia Yoga*” Vol. I- The Yoga Institute Santa Cruz East, Bomby, 1988.
8. www.medindia.net/...Yoga for stressrelief.htm
9. www.the fitindian.com/yoga for stress management.
10. www.wikihow.com/Meditate to Relieve stress.

Federalism and Centre -State Relation in India

Gurveer Singh*

India's federal experiment has undergone, over the past sixty years, many trials and tribulations. In this presentation, we seek to capture the defining features of this experience, the hesitations, mistakes and failures as well as the innovations and successes. During this period, the system has sought to explore and to innovate, trying to discover how much diversity it was possible to accommodate without sacrificing the essential unity. Indian federalism remains in essence a work in progress, and we attempt below to highlight fifteen major features which have marked its development, and to see if there are any lessons to be learnt. But at the outset, many dictates of conventional wisdom had to be set aside, much to the dismay of constitutional purists. Unlearning was as much a part of the learning process as the inspired search for solutions to problems never before encountered in quite the same way.

The recognition of linguistic identities as the basis for territorial organisation surfaced as a major issue in the Constituent Assembly. It had its roots in a promise first made during the national movement, and then deferred through a misreading of priorities and popular sentiment. The power of recognition and the costs of non-recognition created serious problems for the polity throughout the 1950s and the 1960s. In retrospect, there was avoidable loss of life and property through prolonged agitations. Variable Geometry and flexible States Reorganisation was incorporated in the Constitution, raising many eyebrows. How has it worked in practice? The Centre has generally dragged its feet and eventually agreed, when popular pressures built up. The use of languages for official purposes, the protection of linguistic minorities, and the flowering of 22 languages alongside English are durable legacies. The political process in the first two decades of independence was thus marked by a mix of the politics of identity and the politics of scarcity. Tension areas of this period were around identity, language and boundaries.¹

The Indian political system like federal experiments in many other parts of the world has passed through its various phases of federal polity from its quasi-federal character to a stage of co-operation and the competition in its centre-state relation and then to a stage of extreme centralization. Hence different opinions, have been expressed, by the political scientists with regard to the nature of the Indian federal system from time to time. Unfortunately impressed by the strong unitary features of the Indian constitution. K.C. Where soon after its enforcement remarked. India is a Unitary State with subsidiary unitary principle. In his description of the Indian Republic as a quasi-federal state the emphasis was on the pronounced unitary bias of the constitution.

*Asst. Prof., P.G. Dept. of Political Science, DAV College, Abohar.

In 1964 Morris-Jones described the centre-state relation in India as a form of co-operative federalism. He however characterized it as bargaining federalism. The term bargaining federalism, Morris-Jones argued described the character of Indian federalism throughout it referred to a pattern of centre-state relations in which neither centre nor states can impose decisions on the others in which hard comparative bargaining takes place in such institution as the Planning Commission, the Finance Commission and the Zonal Councils. In these institutions bargaining occurs between the centre and the states and among, the several states for the allocation of resources and patronage and for the solution of such divisive problems as the rights of linguistic minorities in the linguistically recognized states.²

Evolution of Indian Federalism

India is a federation with constitutional demarcation of functions and sources of finance between Union, State and local governments. However, statutory introduction of the third tier is a recent phenomenon – after the 73rd and 74th amendments of the Constitution in 1992 gave the rural and urban local governments the constitutional status. Until this development, India had evolved as a two-tiered federal structure with the powers and functions demarcated between the Union and the States. Of course, informally some degree of decentralization below the state level existed for a long time. Historical factors have played an important role in the adoption of a federal constitution with strong unitary features in India. During the British rule, administrative and fiscal centralization was a colonial necessity. At the same time, the difficulty of administering a large country with a number of principalities, different languages, cultures and traditions did force the Central government to devolve some powers to regional units. Indeed, for a period of about two decades in British India prior to the enactment of Government of India Act 1935, the system required the provinces to make a contribution to the Union.³ There were strong arguments for decentralization before independence and the Cabinet Mission sent by the imperial government envisaged limited powers for the Union in a three-tiered federal structure. Nevertheless, the Constitution that was eventually adopted by the Indian Republic closely followed the Government of India Act, 1935, with pronounced “quasi-federal” features. The shift probably occurred for two reasons: First, once the Muslim majority areas opted out of India to form a separate country (Pakistan), the principal reason for a loose federal structure had vanished. Second, a strong center was found desirable to safeguard against fissiparous tendencies among constituent units. (Chelliah, 1991). The decentralization framework provided by the founding fathers of Indian Constitution was an experiment in adopting the federal idea to a large and extremely diverse economic, cultural, social and linguistic society. The heavy reliance on the 1935 Act was justified on the grounds of “continuity and harmony” (Chanda, 1965). Naturally, many important features of the Act including a heavy centripetal bias and administrative and judicial arrangements enacted for the limited purpose of colonial administration were formally incorporated into the Constitution. The centripetal bias in fiscal matters was seen mainly in the assignment and vesting of residuary powers with the

center. The most important factor that concentrated economic powers with the union government, however, was entry 22 in the concurrent list – “Economic and Social Planning” and the consequent experiment on social engineering attempted through centralized planning in a mixed economy framework. What is however significant is the fact that the development over the years concentrated the financial powers with the Union government. The most important event that concentrated the financial powers of the Union government was the nationalization of major financial including banking and insurance institutions. The Constitution of Indian Republic, like the 1935 Act, provided the three-fold division of powers. The matters of national importance were placed in the Union list, 7 those of regional importance were placed in the State list and those that would require a co-operative solution were placed in the Concurrent list. The residuary powers were assigned to the Union government.⁴

There were strong arguments for decentralization before independence and the Cabinet Mission sent by the imperial government envisaged limited powers for the Union in a three-tiered federal structure. Nevertheless, the Constitution that was eventually adopted by the Indian Republic closely followed the Government of India Act, 1935, with pronounced “quasi-federal” features. The shift probably occurred for two reasons: First, once the Muslim majority areas opted out of India to form a separate country (Pakistan), the principal reason for a loose federal structure had vanished. Second, a strong center was found desirable to safeguard against fissiparous tendencies among constituent units. (Chelliah, 1991). The decentralization framework provided by the founding fathers of Indian Constitution was an experiment in adopting the federal idea to a large and extremely diverse economic, cultural, social and linguistic society. The heavy reliance on the 1935 Act was justified on the grounds of “continuity and harmony” (Chanda, 1965). Naturally, many important features of the Act including a heavy centripetal bias and administrative and judicial arrangements enacted for the limited purpose of colonial administration were formally incorporated into the Constitution⁵. The centripetal bias in fiscal matters was seen mainly in the assignment and vesting of residuary powers with the center. The most important factor that concentrated economic powers with the union government, however, was entry 22 in the concurrent list – “Economic and Social Planning” and the consequent experiment on social engineering attempted through centralized planning in a mixed economy framework. What is however significant is the fact that the development over the years concentrated the financial powers with the Union government. The most important event that concentrated the financial powers of the Union government was the nationalization of major financial including banking and insurance institutions.

The statutory recognition to local governments was accorded with the 73rd Constitutional amendment in 1992. With this, each of the State governments was required to pass legislation appointing Panchayat Raj institutions. It was stipulated that election to these Panchayats was to be held within the stipulated period. If the elected governments at local levels are

superceded, elections should be held within the six months. An illustrative list of functions and sources of finance for both rural and urban local bodies was also set out in the amendments. Each State government was required to appoint a State Finance Commission to assign taxes and fees to local governments, and recommend tax devolution and grants. The evolution of urban local governments was on similar lines. By necessity, the States had to create local bodies though the Constitutional recognition came only after the 74th amendment in 1992. Each State legislated separate Municipal Acts assigning the civic functions and sources of revenue. In general the assignment of revenues was inadequate. Though all municipal bodies could levy property taxes, revenue productivity from the tax was low. Most of the States were allowed to levy “Octroi”, a tax on the entry of goods into a local area for consumption, use or sale. In general, the standards of services provided by the municipal bodies were poor and the State governments had to create a number of independent agencies such as housing boards, water supply authorities, and various improvement trusts to ensure minimum services.⁶

Assignment between Center and States:

The functions related to money supply, external borrowing, international relations, defense, atomic energy, space, national highways, airways, international waterways, and those having significant scale economies are assigned exclusively to the center. The Chart I: Structure of Multilevel Government in India Centre States (28) Rural Local Bodies District Taluk/Block Village Urban Local Bodies (Municipal Corporation Municipalities Notifies Area Councils) 12 functions involving benefits spanning across States and matters with significant developmental potential are undertaken concurrently with the States. These include economic planning, energy, education, health and family welfare. The functions with statewide implications are assigned to the States. Most progressive tax handles have been assigned to the Center. The tax handles have been assigned to the States include land revenue, tax on agricultural incomes and wealth, stamp duties and registration fees, tax on sale and purchase of goods, excise duties on the sale of alcoholic products, tax on motor vehicles and tax on goods and passengers transported through roads and inland waterways. However, from the viewpoint of revenue productivity, the tax on the sale and purchase of goods is the most important. The residual functions and residuary tax powers also vest with the Center.

Assignment between State and local governments:

With the constitutional amendments in 1992, roles and responsibilities of rural and urban local governments have been specified. Accordingly, in separate schedules, a list of 29 subjects to rural local bodies and another list of 18 subjects to urban local bodies have been specified. However, the revenue and expenditure assignments in the lists are concurrent with the States’ responsibilities and the actual assignment of specific revenue sources and expenditure depends on the extent to which the State is willing to devolve. The extent of devolution of powers and functions to local governments show wide variation depending on the willingness of the State government to devolve functions and powers to the local

governments. Despite wide variations, some of the common functions performed by the Panchayats at the three levels as well as urban local bodies are listed in Annexure 1. The schedules referred to above only detail the responsibilities of the local governments and not their revenue sources. The revenues of local governments in each State are to be determined by the State Finance Commission to be appointed by the State every five years. The responsibilities of the Commission include (i) distribution of the revenues of the State between the State and local governments and determining the allocation of individual local governments', (ii) assignment of tax and non tax powers to village panchayats and urban local bodies; and (iii) determination of the grants in aid to the local governments from the consolidated fund of the State.⁷

Unitary features:

Despite these essential features of a federal set up India is not a classical federation. Nor did the constitution makers have any intention of providing for a tight mould of federation. This is evident from the dominant position which the founding fathers assigned to the centre in the original design of the Indian Federal System. (The paramount position of the centre is underscored by the constitutional division of powers. After distributing the Legislative Powers in three lists the residual subject that is those not covered by three lists are left with the union. By far more significant even in matters included in the concurrent list; the Union Govt. has the final say. The same is true about the state list. Art 249 empowers the Parliament to make laws with respect to any matter in the state list, if the Rajya Sabha declares by a resolution that it is a necessary or expedient in the national interest.⁸

The constitution authorizes the Indian Parliament to create new states to alter the boundaries of the existing states and even to abolish a state by ordinary legislature procedure without recourse to constitutional amendment. It is completely destructive of the essence of a federal state which is supposed to be composed of units with co-ordinate but limited powers. A plea has been-made by the Karnataka Govt. to modify this article so as to make the consent of a State Legislature a precondition for the introduction in Parliament of any Bill affecting that state.⁹

The constitution envisages a sufficiently favorable position to the centre in matter of finance also. For good reason the more productive sources of revenue such as the income and the do-operation taxes and the duties of customs and excise are assigned to the Union Govt. Besides residuary powers of taxation are also vested in the Union Govt. A good many taxes are collected by the centre and distributed on the recommendation of the Finance Commission among the states.¹⁰

Emergency provision:

Under the emergency provision of the constitution the centre can arrogate to itself all or any legislative and executive function of the states. The President Rule thus tends to shift the balance in favor of the centre and converts the federal system into a unitary one.

Representation:

Apart from the unequal representation of the states in the Rajya Sabha a number of other provisions also reveal the constitutional imbalance between the Union and the states. The amending process of the Indian constitution, the single judicial system, the All India services, the single constitutional frame the single and uniform citizenship, the single Election Commission and provision for reservation of centre in State Bills for President's Assent.

Art 256 places a state government under obligation to exercise its powers as to ensure compliance with laws made by Parliament and to that end the centre is empowered to issues necessary directives to it. In case of non-compliance by any state government of central directive the centre can resort to the extreme step of taking over the administration of such a state under Art. 356.

With the coming of profound changes in the economic and technical fields as also in the ideas of men about Government and institution the environment of federalism has also radically changed. Both the centre and the units-all over the world have been compelled by circumstances to move out of their areas and the states have come to acquiesce in the predominance of the centre. In view of this also to cling to the traditionalists approach emphasizes the need to redefine federalism in the light of the universal trends and tendencies which are clearly discernible in the existing federation. He also pleads that if under a system of government both the central and state authority declare their states and powers from the constitution and not from the central law and can ordinarily enjoy substantial autonomy within their respective jurisdiction set by the constitution then there's no valid ground to deny federal character to that system of Government. Examined in the light of these criteria which are quite close to the living realities, Indian constitution can be safely described as federation.¹¹

In spite of constitutional recognition to the third tier, the local governments seem to play a very limited role both in raising revenues and in spending. It would be correct to characterize decentralization at the third level as mostly top-down. It is also seen that initiative for decentralization at the third level has come from the Center and not the States. In raising revenues, their role is negligible. Nor have the States given enough transfers to enable them to play a meaningful role even in implementation. The only way they could play a meaningful role is to resort to heavy borrowings as seems to have so happened in urban local bodies in Andhra Pradesh and Maharashtra. But this has significantly added to their deficits.

The transfers at local level do not follow any clear pattern. Of course, the level of development of the States does seem to be a factor contributing to the success of decentralization in terms raising revenues. However, in absolute terms the local role is not substantial. From this, it will not be an exaggeration to say that the institutional environment does not seem conducive to the success of decentralization at local level in India. It is necessary to understand the policies and institutions necessary for the success to make the local fiscal governance successful

References:

1. Chelliah, Raja (1991) Towards a Decentralized Polity, (L. K. Jha Memorial Lecture), Fiscal Research Foundation, New Delhi.
2. Rao, Govinda M. and Raja J. Chelliah (1995), A Survey of research in Fiscal Federalism in India, Indian Council of Social Science research, New Delhi.
3. Rao, Govinda M. and Tapas K. Sen (1996), Fiscal Federalism in India – Theory and Practice, Macmillan India, New Delhi.
4. Government of India (2001), Approach to tenth Five Year Plan, Planning Commission, New Delhi
5. Government of India (2000), Report of the Finance Commission, Ministry of Finance, Government of India
6. Bahl, Roy, W (2002), “Implementation Rules for Fiscal Decentralisation”, in Govinda Rao (Ed), Poverty, Development and Fiscal Policy, Essays in Honour of Raja Chelliah, New Delhi.
7. Kumar, Girish (2006), Local Democracy in India.
8. Mukarji, Nirmal and Balveer Arora eds. 1992, Federalism in India: Origins and Development (New Delhi: Vikas)
9. Singh M.P. and Anil Mishra eds (2004), Coalition Politics in India.
10. Sivaramakrishnan K.C. (2000), Power to the People?
11. www.wikipediaencyclopedia.com

Relevance of Epistemology of Guru Nanak in the 21st Century

Dr. Gurnam Chand*

Guru Nanak was not a systematic philosopher. He did not enunciate any theory of epistemology.¹ It is through the analysis of his Bani that we determine certain views about knowledge. His epistemological theory consists of an intuitive insight into the supra-mundane realities as the ultimate stuff of this world. While taking up the old concepts of epistemology, Guru Nanak also puts forward his own views and considers this problem in a wider perspective of the world and individual, and also for the understanding of the world.

Gurbani is an immeasurable treasure of various philosophical and religious facts. It needs specialized study to discover the means eulogized by the great guru for approach to the ultimate reality. The countless hymns of the Nanak Bani speak of the problem of true knowledge needed for the self and god-realization.

The aim of this paper is to study the relevance and also the continued effect of Guru Nanak's teaching. It is a fact that 21st Century has made amazing strides in the development of knowledge yet there are certain universal truths, which hold good all the times. In the present age, the materialistic value has made up deep in roads in the hearts and minds of the people. These crises of values create a chain reaction, and then there are financial, political, cultural and psychological crisis.

Concept of Knowledge According to Guru Nanak

Guru Nanak was a great saint and seer. He could very well see that knowledge is a great asset for mankind. He saw the teeming millions engulfed in the thick layers of smoky ignorance. He, therefore, considers knowledge to be of paramount importance for man. He holds that knowledge is that which makes us aware of our own self, world and God. We must have the knowledge of truth and reality.

Knowledge enlightens the human mind. Human beings are endowed with the faculty of mind. If it is not used, it will be useless possession for mankind. The lamp of wisdom must be lit to discern effectively truth from untruth, real from unreal. It is said in the Gurbani.

“When the lamp is lit, darkness is dispelled.
So when one readeth the Vedas,
One's mind must be purged of sin

*Associate Prof. and Head Dept. of Pol. Science, M. R. Govt. College, Fazilka

As when the sun riseth, the moon seemeth not,
So when wisdom dawns, ignorance remains not.”

In the Sachkhand of Japuji, Guru Nanak tells us about the nature of truth which we ought to know. The realm of knowledge of basic realities leads to the ultimate truth. Real knowledge lies in the realisation of the powers and limitations to which man is bound in this world.

Knowledge is of three types. The first is about the world. Guru Nanak holds that the true nature of the world has to be realised. Guru Nanak has used many words and similies regarding world. It seems that he considers the world to be an illusion. But actually he does not consider it to be Maya in the sense in which Sankare considers it. Some of the views are worth re-producing.

“The world is like a dream, like a play in an instant the play is over.
Some attain to His Union, others depart in Separation.”²

This view proves the ephemeral nature of world. All relations here are but temporary.

“From the true One came the wind; From the wind came the Water;
From the Water among the three Worlds; And the lord prevailed all.”

The ultimate reality is the one abiding supreme principle which is root cause of all existence. The world lives and thrives as long as the grace of God is functioning. It is He who keeps the basis of the world in shape.

“The world but comes and goes
Dedicate thyself to service in the world.”

Guru Nanak has time and again warned people to have a true knowledge of the world and not to be carried away by its outer husk. In japuji, Guru Nanak says, “Real was the creation of the real one.” In Asa-di-Var, he says, “this universe is the dwelling place of the real one and the true one dwells in it.” In the same long poem, Guru Nanak has dealt more elaborately in advocating that no particle of the nominal world is unreal, because it is created by the Real.

The world is real, but man should not be caught in its allurements. He should not forget the ultimate goal and purpose of life. The world is staircase, an arena where he has to display his merits or demerits. Therefore, the real knowledge of the world is necessary.

Knowing one’s own self is the second type of knowledge. One must properly understand one’s personality. No special stress should be laid on either body or mind or spirit. There has been then a tendency to identify self with body. But, the real self is quite different from body. Body is made of matter. It is subject to death, destruction and decay. It is liable to variations and mutations. Guru Nanak’s concept of man, however, does not criticise the body as something vile.

Self realisation is a very important concept in all religions and philosophies of the world. In the west, self realisation is identified with perfection. This concept started with of Aristotle and was developed in the modern times by Hegel and Green. All these people considered that society too is very important for the development of personality. In Indian philosophy self realisation is generally identified with liberation. It is a kind of individual

affair and every person has to work for his own salvation. Guru Nanak also considered the knowledge of self to be very important step for God realisation. He rightly says, “If he lights the lamp (of knowledge) in the temple of his mind and makes his body the bed he will enjoy the union with the king of knowledge comes on the bed.” Guru Nanak while believing in the spiritual content of man’s personality and presence of Diving Being in Self.

There are two main constituents of human being. One is the soul and the other is the body. The two are one in the sense, but one is subtle and the other is gross. The soul is the supreme the essence of life. It is life itself. The body is a temple of god and it should not be harmed. It is therefore pure. It should be kept pure by thought, word and deed. The third type of knowledge according to Guru Nanak is about the ultimate reality or God. Any individual who aspires to achieve liberation must do so with the grace and blessing of the Almighty. God realisation can be achieved through a numbers of ways like Naam Simran, Intuition etc. says Guru Nanak.

By heartily repeating naam, man’s mind receives the treasure of real Divine knowledge and supreme bliss.

Guru Nanak considers knowledge as one of the essential steps for liberation combining it with devotion and good deeds. In Sikhism, the belief in the ultimate reality of God is necessary. It is the characteristics of a true Sikh to consider God to be the basic motivating force and the prime mover of the universe. The knowledge of god is obtained through a steadfast devotion, testimony of the Guru, realisation of divine immanence and intuition. It is not through ordinary perception that we are able to see God. It requires a transcendental knowledge. Guru Nanak says,

“None can appraise and Narrate Thee
Thine describers remain absorbed in Thee.”

There are certain values and virtues necessary for having the knowledge of God. If these minimum eligibility conditions are not fulfilled, one cannot have the knowledge of God. There should be purity of heart, truth, non violence, control over desires etc. Thus truthful honest living is necessary for the realisation of God. Sympathy, co-operation, charity, mercy benevolence and reaching God. In Rag Asa Guru Nanak says, “*He alone is learned, who does good to others.*”

The knowledge of god can only be obtained if there is the proper guidance of the Guru. It is the true Guru that tells us about God, Kabir says, “Once the Guru and the Lord both were standing, a conflict arose in the mind as to who should be respected and address first. The feet of the Guru were touched because it is only through him that we know God.” Guru Nanak also says,

“The lord of life meeteth spontaneously,
Yea, it is through the Guru that He is revealed.”

Guru Nanak refers to four main sources of knowledge i.e. perception, Inference, testimony and intuition. Empirical aspect of Knowledge is perception. Empiricism is basically an

epistemological doctrine. It considers experience as the soul and source of knowledge. The chief component of experience is perception. Guru Nanak considers experience to be an important aspect of life which makes us wiser. Guru Nanak has made frequent references to perception as a source of knowledge. This perception refers to one's own self, world and God. One who perceives and understands the true nature of reality can only rise above the attachments of the world. This real understanding is charged with a spiritual fervour perception is not merely a vehicle of knowing the gross realities or material entities as in the case of Charvaka. It is the recognition of a spirit which runs through all existence.

According to Guru Nanak, God has revealed his truth in creation, and specifically in the Hukam which orders creation. He who perceives this truth and submits to it will find salvation. But how we are to explain the manifest fact that only a minority of man perceive it? The truth therefore all to grasp but few there be who do in fact they hold of it.

Perception can regulate sensations and take us towards the proper understanding of reality, thus perception becomes a major source of true knowledge in Guru Nanak's epistemology.

Inference is based on the perception of certain things which leads to some conclusions not perceptible, but arrived at through a logical process-deductive or inductive. The concept of inference started from the hoary past and lived through all the traditions of Indian Philosophy. Guru Nanak thinks that acquiring of knowledge depends on the wisdom of the mind.

Mind and soul are considered to be different by Guru Nanak. The soul is the center of the higher bliss; Mind is the medium of knowledge. It interprets the perceptual knowledge and arrives at certain inferences. All these are possible if the attitude of a person is different from that of man in the street, then only a proper, real and logical inference is possible. In Rag Ramkali:

How can the Primal Being be known?

How can man realize his own real self?

How can the sun enter in the house of the moon?

Guru Nanak further says "how can the lamp be lit without the oil?"

In Sri Rag, Guru Nanak himself suggests an answer, "*Put thou the oil of wisdom gathered from the sacred books. Let thy wick be of (the lord's fear) Then fire it with the torch of truth, thus will the lamp of thy life be lighted.*"

In fact, the most common way of gaining knowledge about the past is to rely on the testimony of others i.e. upon authority. Such knowledge obtained through the reliable persons, books or media is called testimony. The teachings of great men and Gurus are deemed to be a valid source of knowledge. In a way teachings are a kind of personal testimony for all of us. As Guru Nanak says,

"Why run about search the lord out

When the Gurus word revealeth him to us

Hearing the unstruck Music (of the Word)

The mind accepts, and reflects upon, the truth of the Word.”

The tenth Guru, Gobind Singh, ordained all the Sikhs to consider the *Guru Granth Sahib* as the guide for all times to come. The testimony of Sikhism is mainly dependent on the *Adi Granth*. All the basic truths of life have been expressed through poetry and ragas.

Intuition is a method particularly adopted by the religious thinkers and the philosophers. Scientists rely on observation and experiment. Intuition is an immediate awareness and realisation of some truth or fact. It is sometimes called extra-sensory perception. Intuition comes from the inner mind of the individual but this is possible with the grace of the Guru. Guru is the preceptor, the guide and the giver of all knowledge. Guru Nanak says,

“I see within myself the whole mirrored by the Guru’s grace and I deal with it in truth, seated in poise.”

Guru Nanak had the power of intuition to comprehend the transcendental reality. At the same time intuition is something beyond expression. It is something also called this state as *anivarchaniya* i.e. something indescribable. Such a higher knowledge can only take us to the upper flights of transcendental reality.

From the epistemological point of view, Guru Nanak had taken truth in the sense of inner illumination and intuition. When an individual is able to establish communion with the Almighty, there is god realization. Whatever is corroborated by this inner illumination is true. Guru Nanak says in *Gurubani*,

“*O Lalo, as I perceive the world of the Lord, so do I utter*”

Self is termed by Guru Nanak, *Sachiara*, which is the apex of self realisation (*Kiv-sachiara hovie*) there by *sat*, is being used by him the principle of spiritual progress. For Guru Nanak truth is not merely an abstract concept limited to theoretical domain. It has to be lived and practised in our daily life. Time and again Guru Nanak laid stress on truthful livings.

“All else falls short of truth yet higher than truth is the conduct truthful.”

It is a fact that 21st Century has made amazing strides in the development of knowledge yet there are certain universal truths which hold good all the times. In the present age, the materialistic value has made up deep in roads in the hearts and minds of the people. These crises of values create a chain reaction, and then there are financial, political, cultural and psychological crisis.

In fact no age has really been free from evil and sufferings; the present age is facing a crisis which requires fixation of higher value of life. It is in this sense that the epistemological teaching of Guru Nanak can go a long way in establishing peace, prosperity and contentment to the strife-torn people. No society can aspire to build up the super structure of progress and modernism without a stable social order.

A philosophical interpretation of Guru Nanak’s epistemology is of immense value in formulating a model of good life for the people in the 21st century. Ignorance, back-wardness superstitions and dogmas were rampant during Guru Nanak’s times. The picture in the present times is not very much different. Humanity is still seething in ignorance and

backwardness. The teeming millions are still engulfed in dogma and superstition is apprehended and practised, man can be redeemed from the ills and evils which plague the daily routine of his life.

For the ordinary man of this scientific era, god realization has lost most of importance and the machine has become his god. If this type of trend continued the humanity is doomed. Guru Nanak's teaching still guides us towards the higher purpose, goal of life and helps us in transcending the worldly egoistic considerations.

References:

Singh, Jodh (2014), "Importance of the Teaching of Sri Guru Granth Sahib in Present Era," [sikhinstitute.org/importanceofsqqs/keynote\(jodhs\).html](http://sikhinstitute.org/importanceofsqqs/keynote(jodhs).html)., accessed on 25 March.

Bala, Shashi (2011), "Uniqueness of Guru Nanak's Philosophy: Difference from Vedanta philosophy," *Understanding Sikhism- The Research Journal*, pp.30-34.

Grewal, J. S.,(1969) Guru Nanak in History, Panjab University Press, Chandigarh

Bala, Shashi, (1993) *The Concept of Monotheism- A Comparative Study of Major Religious Scriptures*, ABS publication,, Jalandhar, pp.101-123.

The Encyclopedia of philosophy, Vol. I. III, The MacMillan Co. and Free Press, New York, pp.8-9

